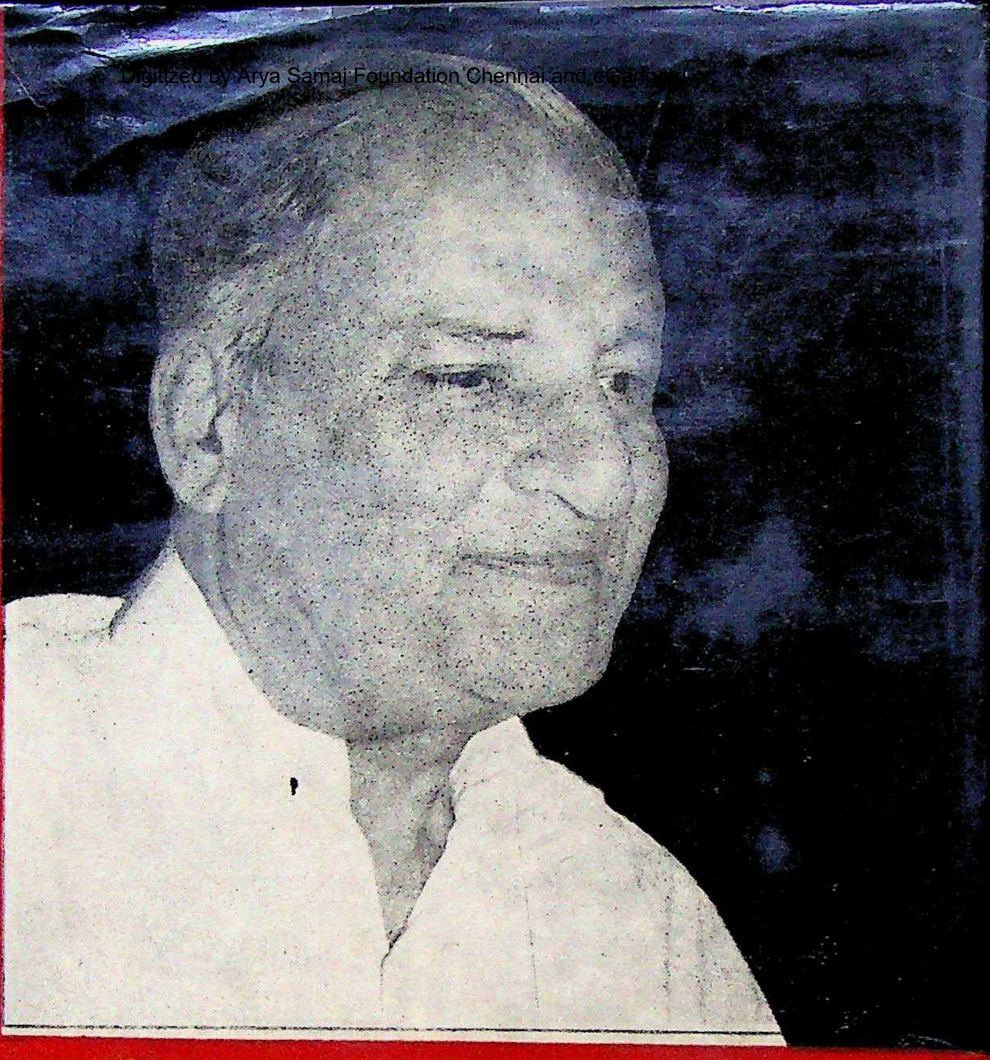


प्रभाकर माचवे : प्रतिनिधि रचनाएँ

सम्पादक

कमलकिशोर गोयनका

डॉ० प्रभाकर माचवे : प्रतिनिधि रचनाएँ

डॉ० प्रभाकर माचवे माँ भारती के एक ऐसे सपूत हैं जो तीन भाषाओं - हिन्दी, मराठी तथा अंग्रेजी में पचास से भी अधिक वर्षों से साहित्य की साधना करते आ रहे हैं। वे अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखकों में अग्रणी हैं तथा हिन्दी के यशस्वी साहित्यकारों में उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

उन्होंने पचास वर्षों में विपुल साहित्य की रचना की और साहित्य की लगभग सभी विधाओं में उन्होंने अपनी लेखनी का कौशल दिखाया। उनकी अभी तक कविता, कहानी उपन्यास, लेख, समीक्षा, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, डायरी, यात्रा-वृत्त, रेखाचित्र, शब्द-चित्र, एकांकी, सम्पादन, अनुवाद आदि विभिन्न विधाओं में सौ के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में लगभग 5000 पृष्ठों की अन्य सामग्री बिखरी पड़ी है जो पुस्तकों में संकलित होने से रह गयी है।

हिन्दी के ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं विपुल साहित्य के रचयिता की प्रतिनिधि रचनाओं को एक स्थल पर पाठकों के लिए सुलभ कराने के निमित्त इस पुस्तक को प्रकाशित किया गया है। विश्वास है, पाठकों को इस संकलन से न केवल उनके साहित्य की एक झांकी मिल सकेगी, बल्कि उनके साहित्य में गहरे उतरने की प्रेरणा भी मिल सकेगी।

इस पुस्तक का सम्पादन प्रेमचन्द-साहित्य के यशस्वी विद्वान डॉ० कमल किशोर गोयनका ने किया है। डॉ० गोयनका विगत 8-10 वर्षों से माचवे जी के निकट सम्पर्क में रहे हैं और उन्होंने, कुछ सीमाओं के बावजूद, इसे उनकी रचनाओं का प्रतिनिधि संकलन बनाने की ईमानदार कोशिश की है।

प्रभाकर माचवे : प्रतिनिधि रचनाएँ

प्रभाकर माचवे : प्रतिनिधि रचनाएँ

सम्पादक

डॉ० कमल किशोर गोयनका

साहित्य निधि

सी-38, ईस्ट कृष्ण नगर, दिल्ली-110051

प्रकाशक : साहित्य निधि
सी-38, ईस्ट कृष्ण नगर
दिल्ली-110051
प्रथम संस्करण : 1984
मूल्य : 80.00
सज्जा : एस० एस० वर्मा
मुद्रक : सीमा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-110032

PRABHAKAR MACHAVE : PRATINIDHI RACHANAEN
(etd.) by Dr. Kamal Kishor Goyanka Price : Rs. 80.00

भूमिका

डॉ० प्रभाकर माचवे देश के ऐसे लेखकों में से हैं जो हिन्दी, मराठी तथा अंग्रेज़ी जैसी तीन श्रेष्ठ भाषाओं में पिछले पचास वर्षों से साहित्य की रचना करते आ रहे हैं। किसी भी लेखक के जीवन में पचास वर्षों का रचना-काल बहुत बड़ा समय होता है, जिसमें वह यश और धन की महत् ऊँचाइयों तक पहुँच सकता है। लेकिन डॉ० माचवे के जीवन में यह सब अघटित ही रहा है। वैसे हिन्दी के बड़े से बड़े विद्वान् ने उनकी प्रशंसा की है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'ज्ञानपिपासु, बहुश्रुत एवं सरस साहित्यकार' तथा डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने मनस्वी, शुद्ध बुद्ध एवं संवेदनशील साधक' कहकर उनका अभिनन्दन किया है, परन्तु हिन्दी तथा मराठी में एक ऐसा वर्ग है जो उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखता है और उन्हें साहित्यकार ही मानने को तैयार नहीं है। वास्तव में साहित्य की दुनिया में ऐसा वर्ग हर काल और हर युग में रहा है जो अपने समय के सशक्त रचनाकारों को नकारता रहा है। डॉ० माचवे यदि आज उसके शिकार हैं तो यह कोई नयी बात नहीं है।

सम्भवत: इस स्थिति के पीछे उनके जीवन और साहित्य की विविधता एवं विलक्षणता भी उत्तरदायी हो। डॉ० रणवीर रांग्रा ने उन्हें 'विलक्षणताओं का स्वामी' तथा 'विरोधाभासों का संगम' कहा है। उनके व्यक्तित्व में ऐसे कई विरोधाभास एवं विलक्षणताएँ देखी जा सकती हैं। वे देखने में पहलवान लगते हैं, पर हैं बुद्धिजीवी। मराठी उनकी मातृभाषा है, लेकिन प्रमुख रूप से लिखते हिन्दी में हैं। वे स्वयं को मूलत: चित्रकार मानते हैं, पर कविता, उपन्यास, व्यंग्य, संस्मरण, रेखाचित्र, समीक्षा, शब्द-चित्र आदि धड़ल्ले से लिखते हैं। स्वभाव से सौम्य, स्वच्छ, सरल एवं निस्संग हैं, किन्तु दूसरों के सम्बन्ध में अप्रिय सत्य कहने में तनिक भी नहीं चूकते।

असल में वे बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी हैं, अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं, प्रयोगधर्मी साहित्यकार हैं, परन्तु मुख्य बात यह है कि वे बन्धनमुक्त हैं जीवन में भी और साहित्य में भी। यह बन्धनमुक्तता उन्हें उच्छृंखल एवं संयमहीन नहीं बनाती, बल्कि सृजनात्मक बनाती है। गृहस्थी होकर जैसे वे परिव्राजक हैं, उसी तरह सृजन के अनुशासन में बँधकर भी वे गद्य-पद्य की किसी भी विधा में लिखने, किसी भी प्रकार का नया प्रयोग करने तथा विधाओं को परस्पर मिश्रित करने में सक्षम एवं स्वतन्त्र हैं। वे इसी कारण नवीनता प्रेमी हैं। शायद इसी कारण उन्होंने कविता, उपन्यास, व्यंग्य आदि सभी में नये-नये प्रयोग किए हैं, चाहे वे

सफल हुए हों या असफल। असफल होने के भय से नया प्रयोग करना ही नहीं चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता नहीं हैं। वे नये-नये प्रयोग करते हैं इस आशा के साथ कि आने वाला युग उनकी नयी संवेदना एवं नये शिल्प को सही सन्दर्भों में रखकर समझ सकेगा।

डॉ० माचवे ने विपुल साहित्य की रचना की है। तीनों भाषाओं में उनके ग्रंथों की संख्या सौ के आसपास है और हजारों पृष्ठों का साहित्य इधर-उधर पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले ऐसे साहित्यकार के प्रति यदि हम उपेक्षा-भाव रखेंगे तथा उसका तर्कहीन मूल्यांकन करेंगे तो क्या हम कृतघ्न न कहलायेंगे ? सीमाएँ सबकी होती हैं, माचवे जी की भी हैं, किन्तु उपन्यास, कविता, व्यंग्य तथा आलोचना में उनके योगदान को रेखांकित न करना सरासर बेइन्साफी है। वे साहित्य के किसी गुट या पंथ के अनुयायी नहीं बने और न उन्होंने भक्तों की ही ऐसी फ़ौज तैयार की जो समय-समय पर उनका यशोगान करती हुई उन्हें युग का महान् साहित्यकार घोषित करती। ऐसा करने के अनेक अवसर उनके पास थे, वे चाहते तो कर सकते थे, परन्तु वे स्वयं इससे मुक्त रहे और दूसरों को भी इस चाटुकारिता से मुक्त रखा। उनकी सदैव ही यह दृष्टि रही कि एक-दो 'सफल' कृति लिखकर उसकी कीर्ति पर जीवित रहने की अपेक्षा निरन्तर नयी 'असफल' कृतियाँ लिखना, नित नये प्रयोग करना तथा सदा सफलता की आशा करना एक लेखक के लिए अधिक अनुकूल एवं स्वस्थ दृष्टिकोण है। आज भी वे इसी नीति का पालन करते हुए साहित्य-सृजन में लगे हुए हैं।

हिन्दी के ऐसे समृद्ध, विलक्षण एवं प्रयोगधर्मी साहित्यकार की समग्र रचनाओं में से एक प्रतिनिधि संकलन तैयार करना बहुत ही कष्टसाध्य काम रहा है। एक तो उनकी सम्पूर्ण पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं; दूसरे, उनकी असंख्य रचनाएँ विभिन्न पत्रिकाओं में इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। साथ ही उन्होंने इतनी विधाओं में इतना विपुल साहित्य लिखा है कि प्रकाशन की वर्तमान स्थितियों में सभी विधाओं में से चुनी गयीं प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन को प्रकाशित करना असम्भव ही था। इस कारण इस प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन में उनकी सभी प्रमुख विधाओं—कविता, उपन्यास, कहानी, व्यंग्य, एकांकी, आत्मकथा, संस्मरण, निबन्ध, पुस्तक-समीक्षा, भूमिका आदि में से कुछ रचनाओं को ही चुनकर रखना उचित प्रतीत हुआ। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'जो' को आद्योपान्त देने के कारण भी हमें उनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाओं को छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा, लेकिन पाठक जानते हैं कि इस प्रकार के संकलनों में इस प्रकार की समस्याएँ आती हैं और उनका ऐसा ही कोई हल निकालना होता है। वैसे भी, किसी भी लेखक की प्रतिनिधि रचनाओं के चुनाव की प्रक्रिया आसान

नहीं होती। लेखक अपनी किन्हीं रचनाओं को प्रतिनिधि या श्रेष्ठ समझ सकता है और पाठक एवं समीक्षक किन्हीं दूसरी रचनाओं को, परन्तु इस संकलन में दोनों ही प्रकार की रचनाओं को स्थान दिया गया है। फिर भी यह संकलन चूँकि एक व्यक्ति ने तैयार किया है, इस कारण विद्वानों में संकलित रचनाओं के प्रतिनिधित्व तथा उनकी संख्या पर मतभेद हो सकता है। साहित्य में ऐसी सहमति-असहमति सदैव रहती ही है, लेकिन मैं सहृदय पाठकों एवं विद्वानों की राय से परिचित होना चाहूँगा जिससे इसका दूसरा संस्करण अधिक से अधिक पूर्ण वन सके।

डॉ० प्रभाकर माचवे से मेरे लगभग एक दशक पुराने सम्बन्ध हैं। 'प्रेमचन्द विश्वकोश' पर कार्य करते हुए मैं पहली बार सन् 1973 में उनसे मिला था। साहित्य अकादमी के उनके कक्ष में हुई वह भेंट मुझे अब तक याद है। उस समय उनके व्यक्तित्व की जो छाप मेरे मन पर पड़ी थी वह 10-11 वर्षों के आत्मीय सम्बन्धों से और अधिक गहरी होती गयी। वास्तव में उनके स्नेह एवं आत्मीयता के कारण ही मैं इस संकलन को तैयार करके आपके हाथों में दे सका हूँ। मुझे विश्वास है कि इस प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन से जहाँ पाठक उनके कृतित्व की एक झाँकी प्राप्त कर सकेंगे, वहाँ सहृदय समीक्षक उनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का तटस्थ मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त हो सकेंगे। लेखक के जीवन-काल में ही उसके साहित्य के सही मूल्यांकन की परम्परा अब हिन्दी में शुरू हो जानी चाहिए। ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली का मैं कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस कार्य को सम्भव बनाने में सहयोग दिया।

ए/98 अशोक विहार
फेज़ प्रथम
दिल्ली-110052
15 जुलाई, 1984

—कमल किशोर गोयनका
हिन्दी विभाग
ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सान्ध्य)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
अजमेरी गेट, दिल्ली-110006

क्रम

कविता	13-40
द्रुतविलम्बित	15
स्वर	15
षट्पदियाँ	16
चिर-प्रवासी प्राण मेरे—	17
गीत	18
व्यष्टि-समष्टि	18
एक दृश्य	19
मार्क्स और गांधी	20
कस्मै देवाय ?	22
अश्वत्थ	24
गेहूँ की सोच	24
झंझा और वृक्ष	26
मुक्ति दिवस	27
अपनी माता की मृत्यु पर :	28
पालतू	31
बरसों बाद	31
मैं	32
तू	33
क्यों न चीख़ें कि याद करते हैं	35
कीर्केगार्द की समाधि पर	36
पशुलोक, ऋषिकेश	37
हो चुकी कविता	38
कथा-साहित्य	41-149
उपन्यास	
जो	43
मूल हिन्दी कहानी	
सोमा	143

व्यंग्य-साहित्य 151-198

कविता

अथ तैल माहात्यम् 153
बुद्ध पालम एअरोड्रोम पर 154
बाज़ारू सभ्यता 156
फगुनाहट 157
नींव 158
लॉलीपॉप 159

लेख

एक कुत्ते की डायरी 162
घूस 164
बेरंग 169
कान 172
यूनियन के दो बकरे 175
ईश्वर या/और बादल 176
घुटना टेक निर्वाण 178
पाँच पैसे का पत्र 182

एकांकी

उलटफेर 186
राम आज की दुनिया में 197

कुछ गद्य-विधाएँ 199-215

आत्मकथा

आत्मवृत्त 201

संस्मरण

पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी के संस्मरण 206

समीक्षा 217-250

निबंध

प्रेमचंद और खांडेकर 219
भारतीय भाषाओं में संयोजक तन्तु 224

पुस्तक-समीक्षा

प्रेमचन्द विश्वकोश--सर्वोत्तम उपलब्धि 234

भूमिकाएं

'तार-सप्तक'-1 से 'वक्तव्य' 237
'शब्दरेखा' से 'कलम, कूँची, क्षणालेख…' 240
'विसंगति' की 'भूमिका' 244

परिशिष्ट 251-259

परिशिष्ट 'क'

प्रभाकर माचवे : जीवन परिचय 253

परिशिष्ट 'ख'

प्रभाकर माचवे का साहित्य 255

कविता

द्रुतविलम्बित

गगन में सुरचाप तना कहीं
तरल जीवन-ताप बना कहीं
फलक पै जल-तूलि विराट थी
विविधवर्णमयी छबि आँकती

तपन थी, अति घोर निदाघ था
असहनीय विशाख-विराग था
तब अचानक ही नभ में कहीं
चहुँदिशा पुरबी सहसा बही
वन ववंडर, रोक जिसे नहीं,
पुलकिता असिता विनता मही
असित श्यामल वृष्टि नई हुई
छहर, व्योम सुनील व्यथा गही

उड़ चले निज देश पखेरुआ
मुदित मानस भू-जन का हुआ
हृदय में हरितांकुर जो उगे
मृदुल दूब-समा सपने जगे

भटकती घनसृष्टि दिगन्त में
अटकती कब दृष्टि अनन्त में ?

(रचना-काल—1933
'अनुक्षण', 1959 से)

स्वर

कवि सात्त्विक हो वाणी !
न बने निरी प्रचारक चेरी
शुद्ध कला कल्याणी !
आज बज चुकी जब बस भेरी
कैसी करुण कहानी ?

चित्रकार तव तूली !
बन जाये आगत युग की छवि,
किन रंगों में भूली ?
रेखाओं में खिंच आवे पवि
किस गति-भ्रम में झूली ?

गायक, ऐसे गाना,
रुद्रबीण गमकार अलापे,
मारू या कि अडाना,
बुनो कि विवसन जग को नापे,
स्वर का तानाबाना।

(रचना-काल—1934
'अनुक्षण', 1959 से)

षट्पदियाँ

: 1 :

इन टूटे तारों ने कैसी मेरी ममता बाँधी
जीवन के खँडहर में उठती निश्वासों की आँधी
उमड़े भावों की सरिता की खींची सीमारेखा
पलकों की छाया में किसने माया का पट देखा

सुप्त वेदना फूंक-फूंक कर करती जाती क्रीड़ा
बंसी की-सी फूट पड़ी प्राणों से अब पीड़ा

: 2 :

मँडराता क्यों पागल पंछी लूटा पड़ा बसेरा
भग्न लालसा पर करुणा ने अब डाला है डेरा
सूने कंकालों पर बाँधें मनुहारों का झूला
बुझी हुई इस दीपशिखा पर पतंग पागल भूला

अँधियारे में कभी फुदकता जुगनूँ एक अवारा
अट्टहास के साथ टूटता आसमान से तारा—

(रचना-काल—1934
'अनुक्षण', 1959 से)

चिर-प्रवासी प्राण मेरे—

चिर प्रवासी प्राण मेरे कौन सा विश्राम जानें—

गिर रही है नील छाया हेम संध्या पर निशा की
घिर रही गोधूलि तमसा म्लान द्वाभा क्षीण बाकी
आ रहा हूँ दूर से, यह अजनबी परदेश सारा
अपरिचित इस पांथ को भी तुम चली देने सहारा
कौन से विश्वास से तुम आ गई मुझ को मनाने ?

विजन पदपथ, शूल फूटे, गगन में निशि की रुलाई,
शून्यता, जी में व्यथा थी, वायु में जो जा समाई
आज इस निस्संग जीवन में अचानक प्रीति छाई
रोकने वाली विदेशिन, हो भला तुम कौन आई।
हम अथक ही हैं सदा के, क्यों तुम्हारी बात मानें ?

यह न ऐसा पथ जहाँ पर तनिक भी थम जाय चलना
विफल री अनुरोध आग्रह, विफल, अनुनय, मान छलना
जाम पीलें पर न भूलें चेतना अंजाम को भी
क्या पिया मधुमय गरलमय, की न परवाह नाम को भी
चाँदनी को बिछलने दो हम चलें निज धाम पाने—

विनतियाँ कातर तुम्हारी, हृदय भी सुकुमार माना
पर हमें तो एक आज्ञा कामना के पार जाना
धड़कनों में जो बजाता तूर्य सेनानी निरन्तर
वह सुनूँ पहले, तुम्हारी प्रार्थनाएँ सब अनन्तर
हम पढ़े दो-चार गाने बस विदा के ही पुराने—

कल न पल-भर को समझते, हम पड़े बिल्कुल बिसाती
हम अकेले ही भले हैं, चाहिए हमको न साथी,
व्रत हमारा खंगधारा, प्यार सब दुर्बल बिसारा,
चल रहा हूँ मैं युगों से दूर पर ज्यों एक तारा
जा रहा हूँ इस निशा को उस उषा तक जा मिलाने—

(रचना-काल—1935
'अनुक्षण', 1959 से)

गीत

आ गये तुम भूलते से
नैन नीलम-नभ पलक-घन निकट गहरे
दे रहा नित हो सजग मद-कोष-तट पहरे
साँवली-सी पुतलियों पर पलक-पट पहरे
बरुनियों की डाल रेशम-डोरियाँ, पिय, झूलते से
आँसुओं की पैंग भरते, जब, मृगी से, हूल जैसे,
आ गये फिर भूलते से
बरुनियों की खोल साँकल, पुतलियों के द्वार खोले,
हृदयिनी लज्जित वधू-सी सकपकाई, कौन बोले ?
प्राण अपने देश आये पर नया ही वेश जो ले
यह हुआ कौतुक तुम्हें, पर अरुक दुख-गोधूलि मेरे
बिछ गई उर में, पधारे तुम तिमिर आकूल जैसे
आ गये तुम भूलते से
नेह-आसव पी चढ़ी मैं, शूलि भी बन पंखुड़ी-सी
हार स्वागत की लिये थी मरणवेला भी गड़ी-सी
पंच प्राणों में अगिन सुख दीप तारक फूलते थे
नैन के नभ निकल आये तुम कभी जब भूलते से

(रचना-काल — 1936
'अनुक्षण', 1959 से)

व्यष्टि-समष्टि

व्यष्टि समष्टि समस्या ही क्या ? जो कि व्यष्टि वह ही समष्टि है।
ज्यों न बूंद से खाली बदली, जो कि बूंद है वही वृष्टि है !
अनाद्यन्त यह द्वैत सृष्टि में—एक···अनेक···हरेक दृष्टि में
जो कि एक है वही चाहता है अनेक कैसे बन जाऊँ
जो कि एक नहिं वही विरह की विषम वेदना में जलता है,
जो अनेक है, वही चाहता सतत एक कैसे बन जाऊँ
जो अनेक नहिं वही अचेतन अगति यातना में पलता है !
व्यक्ति यहाँ लहरी है जब है समाज अम्बुधि,
व्यक्ति निमिष-पल, युगातीत यह समाज निरवधि !

व्यक्ति बीज, जब समाज बरगद; बुद्बुद् व्यक्ति, समाज विशद नद
व्यक्ति विटप, अनगिन नीड़ों का निबिडच्छायाप्रश्रय निश्चय
सघन समाज विराट् विजन-सा;
पण्य वीथि यह समाज, चलता जिसमें नित-नूतन क्रय-विक्रय,
व्यक्ति पण्य है, मूल्य बँधी है जिसकी मनसा!
विकृति जहाँ एक में आई, हुई दूसरे में झट् अनुकृति!
आज कहूँ मैं विषम किसे रे, कवि का शिकवा दोनों के प्रति!

(रचना-काल—1938
'अनुक्षण', 1959 से)

एक दृश्य

उन काले अछोर खेतों में
हलवाहों के बालकगण कुछ खेल रहे हैं;
पहली झड़ियों से निर्मित कर्दम की गेंदें झेल रहे हैं!
वे बालक हैं, वे भी कर्दम-मिट्टी के ही राजदुलारे;
बादल पहले-पहले बरसे, बचे-खुचे छितरे दिशिहारे।
सद्यस्नाता हरित-श्यामता, शस्य-बालियों में प्रफुल्लता,
प्रकृति में सौन्दर्य फैलता;
किन्तु गाँववालों के लड़के ये मटमैले, करते धक्कमधक्का।
शिक्षा-संस्कृति-विहीन,
दीन-मलीन, निठल्ले,
क्यों मिट्टी से खेलें? विद्यामृत कब चक्खा?
इसका उत्तर स्वयं हमीं में, हमने ही उनको यों रक्खा;
जो अब उनकी गिनती है प्रेतों में—
उन काले अछोर खेतों में!

(रचना-काल—1938
'अनुक्षण,' 1959 से)

मार्क्स और गांधी

एक है विश्व के सत्य-सूत्र का संशोधक, करुणाल संत
दूसरा जगज्जीवन के वास्तव का कठोरतम कलाकार।
चाहा दोनों ने जीवन में पा लें जीवन का आदि-अंत
दोनों ने चाहा हो विलास का नाश, साम्य का हो प्रचार।
चल पड़ा एक लेकर, विरक्त, जगबंधुभाव यह शान्तिदूत
आयें क्षारार्णव लक्ष-लक्ष, चाहें बाधा बन, राह रोक
बनती ऐहिक यमनियमों से न कभी मर्यादा आत्मपूत
असिधारव्रती की आत्मा में व्यापा हिमाद्रि का स्थिरालोक।
चल पड़ा दूसरा रक्त-आर्द्र जगबंधुभाव का क्रान्तिदूत
आयें पथ में जो कोटि-कोटि शासन-नृशंस के गरलदंश।
क्षणभर न रुका वह तीक्ष्ण-प्रबल जीवनीशक्ति का महास्रोत
वल्गा की भीषण वन्या-सा कर चला रूढ़ि-संस्कार-ध्वंस।
खो निज को खोज रहा है जो अज्ञेय सत्य का ओर-छोर
मन की स-स्नेह श्रद्धा का ले दीपक विभोर लख रहा भोर
युगयुग का यात्री भिक्षुभाव से चला नापते दीन देश
ले प्रेमसूत्र करघेवाला जोगी यह धारे आर्त-वेश!
वह बोला—'कैसा खुदा? ख्वाब; मज़हब? मदिरा; अध्यात्म? शब्द
सब कुछ संकल्पी मानव की उपलब्धि, झूठ प्रारब्ध सिद्ध!
जी लो, कर लो इस मुट्ठीभर मिट्टी से ही मरणान्त प्यार
जिसके 'चमड़े की हाय' विकट, जिसकी आकांक्षाएँ अपार।
वह प्राणों का उल्लास तौल चल पड़ा बदलने अर्थमूल्य
निर्माल्य मानकर चला कीर्ति औ' सिक्कों को यह क्षणिक धूल!
श्रम की वह थी साकार मूर्ति, आश्रम की यह प्राकार-स्फूर्ति
दोनों जीवन में हैं अपूर्त, प्रभु जाने बैठी कहाँ पूर्ति?
धृति-संयम का अनुरोध यहाँ, उसको था प्यारा बस विरोध
दोनों बोले—'बस, बढ़े चलो, दोनों का जन-आनंद-शोध
जाने किस पथ में सुख की प्राप्ति कि क्रोध भला है या निरोध?'
गांधी दिलके सहजाकर्षण, मार्क्स दिमाग की 'ओवर-ग्रोथ'
दोनों ने पाया लोक-प्रेम, दोनों ने झेला कष्ट खूब
दोनों जीवन में गये डूब, जीवन न एक से गया डूब

'कह गये बुद्ध शून्य है सभी, कह गये उमरखय्याम यही
पर जगदुद्धारक धीरों की बोनापार्टी गति रुकी नहीं'।

वल्गा बर्फानी वैसी ही औ' साबरमती बही उमही,
पैगम्बर लाखों आये और गये, पर दुनिया वहीं रही !'

(छन्दावर्तन)

किसी निराशावादी कवि ने खीझ भले ही यों कह डाला
पर न कभी वह 'धुर का भेदी' जग-उद्धारक रुकने वाला
उसने अथिर निराशा-आशा की चिन्ता की नहीं ज़रा भी
मानवता के तरुमूलों में आपा सींचा, रहा खरा भी !
तब लघु बीज, अगिन विटपों की सफल कोख वह तो अविनाशी
जिसकी छाया में पलते हैं शत-शत पंखिल कोटरवासी !
उसने रोम-रोम निजता का होम दिया, जग-व्योम छा लिया
निरी विभूति किन्तु जलने पर, सब तज मानो सभी पा लिया !
इस कारण इन दोनों महान् आत्माओं के आगे नतशिर
छिन हों लें, फिर पन्थ सुधारें, चाहें आलोचना करें फिर
दोनों ही सत्यांश मान लो, दोनों पूरक अरे परस्पर
दोनों ने चाहा है जग की व्यथा बाँट लो, बना विश्व घर !
दोनों ही श्रद्धेय, क्योंकि जीवन में दोनों ही आवश्यक
कुछ गर्मी हो, कुछ ठंडापन, कुछ विश्वास और कुछ-कुछ शक !
कुछ हो गूढ़ और कुछ चेतन, कुछ हो मूढ और कुछ जड़ भी
कुछ हों शाखाएँ, कुछ जड़ हो, कुछ अनुशासन कुछ गड़बड़ भी
भावुकता ही सब-कुछ हो न, स्वस्थ मन की कुछ हो फड़फड़ भी
भाई, जीवन है, न यहाँ है चिर-वसंत या चिर-पतझड़ भी !
हम कहते हैं यह हो, वह हो, कुछ न मिले फिर भी अकुलाहट
हम न अधूरे के संतोषी, हमें पूर्ण प्यास बुलाहट !
रसरी के आने-जाने से पाहन पर खिचती लकीर तक
और रहे ज़िन्दों की दुनियाँ अप्रभाविता यों अखीर तक !
उस दुनियाँ के ज़िन्देपन के खातिर सही जिन्होंने सूली
दुनिया उनकी ही भूखी है, दुनिया उन पर ही है भूली !
ओ प्रत्याशा लोभी साधारण जन, तेरी राह नहीं यह
उनको तेरी है यद्यपि तुझको उनकी परवाह नहीं अः
ध्येय रहे अप्राप्य सदा को, उसमें ही उसका आकर्षण
वह है क्षितिज और ध्रुवतारक, पथप्रतारक सदा सुदर्शन

वह चाहे जंगल-डाढी वाली यहूदियत की गठरी हो

और यहाँ खद्दर की चद्दर ढँकी हड्डियों की ठठरी ही
तानाशाहों के चंगुल में उधर भले वल्गा हों ऐंठी
गंगा सिन्धु भलें न अनुभवें कंप न किन्तु दुनियाँ उठ बैठी।
कहो न भारत सोया, पश्चिम जगा, बात यह सब वेमानी
उधर यहूदी-रक्त सना जो बहता है राइन का पानी !
स्वस्तिक राजा के 'हर-हर' पर रणोन्माद-फन डोल रहा है
नीत्शे वाला सुपरमैन जग 'मैइनकाम्फ' में बोल रहा है।
कौन सभ्य है, और कौन है बर्बर ? किसके पास तुला है?
किस का दावा पूर्ण सिद्धि का, किसके लिए न स्वर्ग खुला है ?
मानव-मानव में विभेद क्यों, स्वर्ग-नरक में वर्गान्तर क्यों ?
प्रभु ने या जड़ प्रकृति ने क्या भिन्न बनाये अभ्यंतर यों ?
'नहीं !' मनुज की ही करनी है, मनुज-मनुज को सोख रहा है।
प्रभु इस शैतानी लीला को चुपके बैठा जोख रहा है।
या कह लो चेतन इस जड़ की अतिव्याप्ति को निरख रहा है।
दुनिया का लट्टू अपनी ही धुन पर यक-सां थिरक रहा है !

एक अग्नि-स्फुलिंग उजागर, दूजा उदधि-उदर की ज्वाला।
एक अश्रु को पीने वाला, एक अश्रु को देश-निकाला !
एक शस्त्र-टंकार महा-भय, दूजा हृदय-हृदय का निर्णय।
दोनों जय-जय, दोनों शाश्वत-संचय और अशाश्वत के लय।
एक जगज्जेता तो दूजा आत्मजयी; दोनों ही दृष्टा।
एक तड़ित्तर्जन, वर्षा वह, एक प्रलय है, दूजा सृष्टा !
दोनों व्रती और साधक, पाया न जिन्होंने सत्य का पता
दोनों ने पकड़ी दो राहें, जो आ मिलती नित्य अन्ततः !

(रचना-काल—1940
'अनुक्षण', 1959 से)

कस्मै देवाय ?

हम उनके गायेंगे गाने !
जिनका जीवन किन्हीं कारणों—
से है आज हुआ बे-माने !
जो निज अधिकारों से वंचित
जो हैं शोषित, लुंठित, मुंचित,

जिनकी जीवन गलियाँ हैं,
अवरुद्ध, घुटी औ' कुंचित
जिनकी नन्हीं आशाओं के
बिरवे हैं श्रम-सिंचित

वे जो दया-पात्र माने जाते,
उसमें ही रस लेते अनजाने
हम उनके गायेंगे गाने···

मल्लाह, उड़ाके, पैदल,
जो जाते हैं दल के दल,
लेकर जनता की आकांक्षा का संबल
जो निर्बल हैं रे निर्बल,
जो नहीं जानते अपना संचित
छिपा हुआ दारुण बल

मस्त भाल से, त्रस्त चाल से,
जाते हैं जो अरि को लात लगाने
हम उनके गायेंगे गाने।
जो बड़े-बड़े शहरों में,
गन्दी लम्बी गटरों में,
फुटपाथों पर सोये हैं,
जो खोये-खोये-से हैं
श्रमसत्ता के जिस दल ने
रणवर्षा में बोये हैं—
नवबीज; चुनौती दें जो
कह कर—हट जा पथ से ओ,
धनसत्ता के दीवाने !
हम उनके गायेंगे गाने···

(रचना-काल—1941
'अनुक्षण', 1959 से)

अश्वत्थ

: 1 :

सन्ध्या की उदास छायाएँ
पीपल का यह सघन बसेरा
लौट रहा खग-कुल आकुल-मन
कोलाहल मय प्रति कोटर-वन
सुदूर एकाकी तारक ज्यों
गीत अकेला-सा यह मेरा…।

: 2 :

भूरे नभ में रात उतरती
शिशिर साँझ की धुँधली बेला
पीपल का विराट् श्यामल वपु
खड़ा हुआ कंकाल अकेला
एक चील का क्षीण घोंसला
क्षीण, तीज की पीत शशिकला
अटके हैं ज्यों जीर्ण देह में,
बचा मोह का तन्तु विषैला।

: 3 :

मधु-ऋतु की सकाल अरुणाली
उसी एक पीपल की झाँकी
पुन: पनप कर हरी कोंपलों ने
विवशन-शाखें भी ढाँकीं
फिर से आ बसते हैं पाखी
जग में लहरी नूतनता की
पर मैं वैसा ही बाकी हूँ
वैसी ही कड़ियाँ एकाकी।

('तार सप्तक', 1943 से)

गेहूँ की सोच

काँप रहीं खेतों में गेहूँ की बालियाँ
मेंड पर बैठा है भूमिजन चिलम पीता, खाँसता।

सोचती हैं बालियाँ—
"यहाँ से हमें तोड़-तोड़
बच्चे ले जायेंगे,
जलायेंगे होली में
(गायेंगे गालियाँ
बजायेंगे तालियाँ)
याकि हमें जोड़-जोड़
खेतीहर अनजान
बेचेंगे किसी लाभकर्मी निरे ख़ुदगर्ज़ बनिये को
(बेचेंगे यह कपास, वह जूट, हाय हम में ही फूट !)

बहुत कुछ जायेगा लगान
कुछ जायेगी कर्ज़-किश्त
बाक़ी रह जायेगी—
झोंपड़ियों की उन भूखी अँतड़ियों के लिए सूखी
एक बेर रोटी—!
क्या यह नीति खोटी नहीं ?
गेहूँ के मोती-से दाने जो पसीने से
उगाये, अरे बदे हों उसी के भाग
आँसू के दाने सिर्फ़ !
सींचे वही ख़ून जो लगाये वह सीने से,
और आँख मीच खायें वे कि जिन्हें जीने से
उतरने में कीमखाब गड़ती हो···!
छि: ऐसे जीने से बेहतर नहीं है क्या
होली में जल जाना ?
होली में जल जाना क्या है बुरा ?
क्या हैं बुरी गालियाँ ?'
सोचती हैं बालियाँ···

जब तक नहीं आसान मिलती हैं तालियाँ
मानव के कोष-दोष-जन्य घोर असन्तोष
संचय की,
विनिमय के वैषम्य के मदहोश तालों की।

('तार सप्तक', 1943 से)

झंझा और वृक्ष

हम हैं युवक, नये अरुणोदय के संकेत प्रसन्न प्रतीक
सीखे नहीं कभी चलना होता है क्या रे लीक-लीक !
मानी सीख न कभी पुरानी, माँगी नहीं कभी भी भीख
हम निर्भीक चले निज पथ पर, अनथक, अविरत, ठीक-ठीक।
हम अरुण रक्त के तरुण, विचारों के हैं हम घूर्णित झंझा
यम को दिये चुनौती, लड़ा रहे सब नियमों से पंजा !

हम धरती के पुत्र, कृषक हम युग-युग के शापित होरी
टोड़ी बच्चों को हम खूब समझते हैं, हम हैं बार्डोली !
हमने अपना खून सींचकर जग की क्षुधा मिटाई
हम चट्टान न शत्-शत् अन्यायों से गयी हटाई !
हम भी हैं 'नवान्न' के रक्षक, हम किसान, हम झंझा,
घिरी नहीं हैं अभी हमारे मन पर शोषण संझा !

हम जो सदियों से कहलाये गये मजूरे या कमकर
हम वे जिनकी मेहनत पर पलते ये संस्कृति के संकर !
हम यन्त्रों के राक्षस की वेदी पर चढ़ा पसीना जो
सदा बनाते हैं लुभावना सुविधामय यह जीना जो !
हम हैं अन्तर्राष्ट्र-संगठित, है मजबूत शिकंजा,
हम मज़दूर नहीं मामूली, हम हैं उठती झंझा !

हम अछूत जो सहस्राब्द का पदमर्दन चुप सहकर
मन में घुट कर रही वेदना कभी न दृग से बहकर—
निकली अश्रुमयी चिनगारी, वरना जगती दहकर
शवरी, व्याध, यवन, रैदासा बनते सभी उमहकर,
हमें न समझो शूद्र, हमारी माताएँ थीं क्या बंझा ?
हम हरिजन, हम दलित, उच्च वर्गों के अन्तक झंझा !

राष्ट्र वृक्ष-सा जिसकी नाना शाखाएँ अवदात
सरहद, सिन्ध, अवध, कर्नाटक, बंग, आन्ध्र, गुजरात,
काश्मीर, पंजाब, दु-आबा, राजस्थान, बिहार,
महाराष्ट्र, आसाम, कटक, मालवा, काठियावाड़,
अब शाखाएँ बढ़ती हैं, निज-निज दिशि में सब ओर
तब तरु की अखंड जड़ में क्या मचती ईर्ष्या घोर ?

राष्ट्र वृक्ष-सा जिसने देखे नाना बारह मासा
मौसम की बदली-सी रंगत, प्रकृति रूप नया-सा ?
इसने देखी आर्य चढ़ाई, बौद्धों का यश विस्तृत
इसने देखी हूण शकों की, पठान-मुगलों की गत,
सिक्ख, मराठों, रजपूतों की आन-बान भी देखी
देख रही है : नये परिन्दों की पश्चिम की शेखी !

राष्ट्र वृक्ष-सा जिस पर बसते नाना स्वर के पाखी
यहाँ न कोई नियम कि सबका एक रंग या मत हो !
यहाँ कई रहते हैं बना गिरोह, कई एकाकी
कई बिचारे जाल में फँसे, निरे स्वार्थ में रत हो !
झाँझा से यह राष्ट्र जड़ों से हिल उठता है सहसा,
सूखे पत्ते झर जाते हैं, पद-रज चढ़ती शिरसा

(रचना-काल — 1946
'अनुक्षण', 1959 से)

मुक्ति दिवस
(आल्हा)

युग-युग से शोषित जनता जो इस दिन की रही प्रतीक्षा में,
दी कितने शहीद लालों ने बलि की अग्नि-परीक्षाएँ,
मुक्ति मिली जब-जब, मुट्ठी भर लोगों को वरदान मिला,
शेष बचे लाखों लोगों को पुन: बुभुक्षित प्राण मिला।
ऐसे ही इतिहास बना चढ़ संघर्षों की नव सीढ़ी,
मिट जायेगी वही विषमता मिटा न पायी यह पीढ़ी ?
कौन यहाँ पर स्पृश्य और अस्पृश्य कौन है अधिकारी ?
युग-युग से नर का एकाधिपत्य यह भोग रही नारी,
नये विधान बने, घिस-घुस कर जब कि पुराने ये सिक्के,
अपना वज़न मूल्य खो कर के दर-दर खाते हैं धक्के !
नव-विधान ने पुन: साफ कर लिखी नयी लिपि नव-पाटी,
और कई वर्षों से वह भी रूढ़ि बन गई परिपाटी,
जागी पुन: घोर जन-जन में उसके प्रति अतुष्टि-चिन्ता,
था संस्कार प्रबल यद्यपि वह अपने अन्तिम पल गिनता।
मानव ने मानव को अपने फौलादी दृढ़ पंजों में,

चाहा बाँध रखूँ नियमों के व्यापक विषम शिकंजों में
मगर वहीं मानव ने सारा जाल कपोतों के गण-सा,
उड़ा लिया, फिर मुक्त गगन में विचरी मुक्त-बन्ध मनसा।
वीत-छन्द कब हुई, घिरी आत्मा में लालस इच्छाएँ
पुनः जम गये पक्षपात के पक्ष-भेद दायें-बायें,
जीवन और मरण के पलड़ों पर बटखरे नये बदले
पुनः बहे नव-स्रोत, नये नद बँधे हुए जल से गँदले।
अग्नि-आप-अनिलाम्बर-धरती रूप नये धर कर सुन्दर
करती रही तमाशा-सा जो उद्वेलन मानव में भर,
पूँजी के डमरू बजने पर बनी धारणाएँ बन्दर,
आज हो गया अच्छे और बुरे का यों भीषण संकर,
कहते हैं वैज्ञानिक अणु का स्फोटन कर कर विध्वंसन,
जितने थे उदात्त स्वर्गोपम ध्येय उन्हीं का कर भंजन,
आज मनुज बन गया अहेरी, मनुज शरासन औ' सायक,
मनुज बना है लक्ष्य, मनुज ही दास, मनुज ही अधिनायक,
मुक्ति तभी जब हो विचार भी मुक्त, मुक्ति हो वाणी की,
मुक्ति दिवस हम तभी मनायें मिले मुक्ति हर प्राणी की।

(रचना-काल—15 अगस्त, 1947
'अनुक्षण', 1959 से)

अपनी माता की मृत्यु पर :

मातः ! एक कलख है मन में, अन्त समय में देख न पाया
आत्मकीर के उड़ जाने पर बची शून्य पिंजर-सी काया।
और देख कर भी क्या करता ? सब विज्ञान जहाँ पर हारे,
उस देहली को पार कर गयी, ठिठके हैं हम 'मरण-दुआरे'।
जीवन में कितने दुख झेले, तुमने कैसा जनम बिताया !
नहीं एक सिसकी भी निकली, रस देकर विष को अपनाया।
आँसू पिये, हास ही केवल हमें दिया, तुम धन्य, विधात्री !
मेरे प्रबल, अदम्य, जुझारू प्राण-पिंड की तुम निर्मात्री !

कितने कष्ट सहे बचपन से, दैन्य, आप्तजन-विरह, कसाले,
पर कब इस जन को वह झुलसन लग पायी, ओ सुवर्ण-ज्वाले !

सभी पूत हो गया स्पर्श पा तेरा, कल्मष सभी जल गया,
मेधा का यह स्फीत-भाव औ' अहंकार सब तभी गल गया,
पंचतत्त्व का चोला बदला, पंचतत्त्व में पुनः मिल गया,
पर-अस्तित्व-भवन सूना-सा, यह व्यक्तित्व समूल हिल गया।
मुझे याद आते हैं वे दिन, जब तुमने की थी परिचर्या,
शैशव में, उस रुग्ण-दशा में तेरी वह चिंतातुर चर्या !

मैं जो कुछ हूँ, आज तुम्हारी ही आशीष, प्रसादी, मूर्ता,
गयीं आज तुम देख फुल्लपरिवार, कामना सब संपूर्ता।
किन्तु हमारी ललक हठीली अब भी तुम्हें देखना चाहे,
नहीं लौट कर आने वाली, वे अजान, अँधियारी राहें···
मरण जिसे हम साधारण-जन कहते हैं, वह पुरस्सरण है।
क्षण-क्षण उसी ओर श्वासों के बढ़ते जाते चपल-चरण हैं।
फिर भी हम अस्तित्व-मात्र के निर्णय को तज, नियति-चलित-से
कठपुतली बन नाच रहे हैं, ज्यों निर्माल्य प्रवाह-पतित-से !

तुमने मुझे भक्ति सिखलायी संतों की, विट्ठल-से प्रतिश्रुत,
मैंने कितने धर्मग्रंथ पढ़ तुम्हें सुनाये हरिलीलामृत !
जीवन-भर तुम रहीं निरक्षर, आज हुआ 'अक्षर' से परिचय,
ढाई अक्षर प्रेम जान कर, शूल तजे करतीं मधु-संचय।
मुझे याद है तीर्थस्थान की वे यात्राएँ मेरी माता :
काशी, चित्रकूट, पंढरपुर, अक्षयबट, मथुरा, मान्धाता !
और अपापा नगरी में उस महाकाल की भैरव-अर्चा,
जिस 'शिव' ने चिन्मय होकर, चिर-चिता भस्म ले निज तनचर्चा !

अम्ब ! आज वे सभी कथाएँ मात्र तुम्हारी-मेरी हो कर,
तिलांजली में अश्रु भिगो कर, जाती हैं प्रस्तर-पथ धो कर !
कौषीतक्युपनिषद् गा रहे वागादिक का संप्रदान यह,
जो कुछ तुम कर्तव्य कह गयीं, वही करूँगा मैं महान् अह !
"यदि उ वै प्रेयात् यत् एव एनं समापयति—
तथा समापयितव्यो भवति तथा समापयितव्यो भवति"।

युग-युग से बैरागीपन का सीखे हम बेगाना गाना,
"ज्यों बिम्बहि प्रतिबिम्ब समाना, उदक-कुम्भ बिगराना !"

पर रह जाती है कबीर की साखी, सब दर्शन की कीलें—
तेरी स्मृति से खुल खुल जाहीं, हो ही जाते हैं दृग गीले।
बहुत सिखाया तुमने हमको, हम ये आँसू रोकें।
पर अब तुम ही नहीं आद्यगुरु ! पाठ भूलते रो के।
मन के गहरे में जो है व्रण, जो अभाव-कसकन है,
उस नीरव प्रचंड हाहा के अंशमात्र दो-दस दृग-कण है !

वह अभाव आ-चिता हमें तो कंधे पर ढोना है—
इस सलीब से शायद ईशू बनें, हमें दो आशीः !
परम सहज, निर्द्वन्द्व, मौन की प्रतिमे ओ ममतामयि !
हमें सिखा दो उस अपार धीरज की कनि क्षमयामयि !
सहसा यों लगता है, जैसे छत सिर पर से भागा,
आठ दिशा का रोष बढ़ा, मैं खड़ा अरक्षित और अभागा !
पिता अजाने वय में, माता भी अब स्वर्ग सिधारी
और रही स्मृति मात्र धूल में, उलझी गति मतिहारी !

कठिन आयुपथ, इस दुरन्त मरु में छाया से शून्य संक्रमण,
कठिन स्नेह के बिना बिताना ये आगे की घड़ियाँ अकरुण।
जातकर्म के मंत्र अकारण याद आ रहे—"हे सरस्वती !
तेरा स्तन्य किसी ने पाया नहीं, सुप्त वह !" याज्ञवल्क्यस्मृतिः
"ॐ इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन् समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः[1] ॥"

(रचना-काल—1952
'अनुक्षण', 1959 से)

1. "हे अग्नि ! उदकलोक में रहनेवाला तू विशिष्ट रसयुक्त दुग्ध से परिपूर्ण ये स्तन इस कुमार को पीने को दे। सर्वत्र गमनशील और स्वादयुक्त मातृस्तन का सेवन कर, तृप्त होकर, पयोधि की भाँति मातृ-शरीर को ग्रहण कर। हे सरस्वती ! तेरा स्तन किसी ने उपभोगा नहीं, इसलिए सुप्त है। जो स्तन सब प्राणिमात्र को सुख देने वाला और जो किसी को भी दुनिया में दी नहीं जा सकती, वह वस्तु देनेवाला है। वह स्तन इस बालक को पीने को दे !"

पालतू

पहले उसने पाले कुछ पिल्ले
बड़े हुए, भाग गये;
पालीं कुछ बिल्लियाँ, वे
दोस्तों को दे दीं ।
फिर पालीं कुछ लाल मछलियाँ,
वे मर गयीं;
पाला एक तोता, जो उड़ गया ।
जोड़े का एक बचा
उठा गयी मित्र की बिडाली उसे
पालने की यह आदत
कम न हुई ।
सुना है कि आजकल, रखे हैं कुछ आदमी
पालतू :
फ़ालतू !
होगा क्या उनका ?
(मार देंगे पड़ोसी के बड़े बम ?
फिर भी नहीं होंगे कम) ।

('स्वप्न-भंग', 1957 से)

बरसों बाद

बरसों बाद वही मुख दीखा
फीका-फीका
वही भाल पर सेन्दुर-टीका
वैसी ही सीमन्तिन रेखा
आँखों में वैसी ही सकरुण आतुर आहट
इतने वर्षों में भी तुमने कुछ ना सीखा
—अन्तर चीख़ा ।

'भाव' रहा वैसा ही हिय का
भाव घटा है कब 'भक्ती' का !
(कविता होगी संस्कृति-टीका)

व्यंग बहुत है तीखा :
(यह अमरीका)

जिनके पास अधिक उनके दिल ख़ाली
जिनके पास अभाव उन्हीं के हृदय भरे हैं
यही तबाही, यही सलीक़ा
कब मनचाही, प्रीत निबाही
बरसों बाद मिली हो, हलका करो भार
अब जी का।

(रचना-काल—मैडीसन (विसकॉन्सिन)
21 अक्टूबर 1959
'मेपल', 1967 से)

मैं

जनम नाम के अनजाने सुरंग-पथ में
और
मरण नाम के बे-चाबी के दरवाज़े के बीच
मेरा अस्तित्व यहाँ क़ैद है
अँधियारा, सीलन से भरा हुआ, एकाकी

बहुत लोग ऐसे हैं, जेल भरी है, फिर भी हूँ इकला
उस आकाशी खिड़की के टुकड़े की एक झलक का इच्छुक
जो कि कभी-कदास
जब होता हूँ बहुत-बहुत मैं उदास
चमक-चमक जाता है अद्भुत आकारों में :
एक सलीब
एक धर्मचक्र
एक नंगे फ़कीर का अभय-हस्त।

यह खिड़की का छेद कभी बादलों से ढँक जाता
कुहरे से पट जाता
जब कि कमल जैसे नैन कहीं दागे जाते या खींचे जाते

जब कि महा-करुणामय क्विन्‌लिन्[1] का चेहरा ऐंठन से भर जाता
जब कि कँटीले तारों पर शत्रुओं के शिशु सूखी मछली-से टाँगे जाते
जब कि नीरो निज सोने के दाँत पीस खीसे निकालते
मन्दिर मन्त्र-जागरण, मस्जिद की बाँग और
गिरजों के प्रभु-भजन
सहसा नर-भक्षकों के गानों में पलट जाते
'हुमाया हुमाया हुमा
हुमाया हुमाया हुमा[2]...'

इन दो प्रश्नों के मज्झिम में
तुमने मुझे एक आत्मा दी थी उत्तर में
मैंने उसके दो टुकड़े कर एक किताब भीम लिख डाली
खण्डन-शल्य-चिकित्सा के महत्त्व पर
यों सब प्रश्न जटिलतर मैंने स्वयं बनाये
इसी अहं ने लघु-गुरुत्व कर
और जेल की खिड़की की वह सुखद ताज़गी पारदर्शिता
प्रेरक नव-ता
गन्दे कड़ुए मगरमच्छ के तन पर के चत्तों-जैसी
अन्धे गाढ़ तावदानों में पलट गयी।

(रचना-काल—मैडीसन (विस कॉन्सिन)
25 अक्टूबर 1959
'मेपल', 1967 से)

तू

जब जब दुख पड़ा, दर्द बढ़ा
तब तब मैंने तुझे याद किया
पर तू-ईश्वर का सन्देश-दाता-सदा पिकनिक[3] पर था
तू, जैसे किसी शमअ़ से रोशनी चली गयी हो

1. चीन स्थित सहस्रभुजा करुणा बोधिसत्त्व की प्रतिमा
2. नरभक्षकों का गीत
3. सैर

याद अब सिर्फ़ सहारा नहीं रही
याद अब उन दो स्तम्भों की तरह थी
जिन्हें सैम्सन नहीं तोड़ सका
स्तम्भ समाचार-पत्रों के निर्लज्ज घोषित कर रहे थे
ओ महालीला, मेरी महबूबा, मैंने तुझसे तलाक़ लिया
यह कहकर कि मैं कापुरुष हूँ, पुंस्त्व-हीन हूँ।

मेरी पुंस्त्व-हीनता एक लबादा थी
एक खोखला बहाना थी
मैं चाहता था शायद कि इन्द्रियाँ खूब चरें
और मेरे अस्तित्व की भाषा-टीका
उस गिनती करनेवाले यन्त्र की तरह हो गयी
जो बिगड़ गया हो
और जिसे पागलख़ाने से भागा हुआ कोई
लगातार चला रहा हो

मेरे मर्म को महादुख ने खट्टा बना दिया है
मेरी आत्मा सुर्ख़ियों की दूध-बोतलों पर पलती है
झूठ ही मेरे मन के वाइटैमिन[1] हैं
मैं चाहूँ तो पूरी तरह मर भी नहीं सकता
मेरी ज़िन्दगी मुखोश हैं एण्टी-मिसिल[2]
शास्त्र की प्रतिहिंसा
ऐसे चिर-विरोध का सतीत्व-जैसे बन्धन है

मैं अपनी बलि भी नहीं चढ़ा सकता किसी आदर्श पर
आधुनिक मानव हूँ, बुद्धिवादी हूँ,
मेरे रक्त-कोष शरमाते हैं
इस सभ्यता के चाकू के आगे आने में
जानता हूँ चाकू बड़े पैने, चमकदार पॉलिशवाले
ऑटोमैटिक,[3] हैण्डिल-विहीन हैं
जानता हूँ ये बड़े मज़े से

1. जीवन-सत्त्व
2. एण्टी-मिसिल—प्रक्षेपणास्त्र-विरोधी अस्त्र
3. स्वयंचालित

बिना-दर्द, बिना-हिचकिचाहट के
सदा सद्विवेक को भी समूल मार सकते हैं

देखता हूँ, रोज़-रोज़ स्तम्भों में पढ़ता हूँ
छिपे हुए हिरण्यकश्यपों की शव-साधना को
और अब दर्द ऐसा भर गया है
कि तू···तेरी याद भी उसमें खो गयी है;
ओ मेरी आत्मा,
मेरी तलाक़ दी हुई प्रियतमा निजता !

(रचना-काल मैडीसन (विसकॉन्सिन)
30 अक्टूबर 1959
'मेपल', 1967 से)

क्यों न चीखें कि याद करते हैं

याद तुम्हारी आयी भाई
याद बड़ी अन-भाई
देखा मैंने ग़रीब चिथड़े पहने झाड़ूवाला
इस लक्ष्मी के विलासगृह में यह मकड़ी का जाला ?
सोने-चाँदी की जगमग में धब्बा ज़िन्दा काला
और अचानक कहीं बहुत गहरे में ठोकर पायी
मिल के गन्दे मज़दूरों की धुआँ-तेल से सनी मुखाकृतियाँ,
वह सीटी,
बदबू-वाली नाली के नज़दीक झोंपड़ी सीलन-भरी,
हँसी वह मीठी,
किटकिट दाँतोंवाला जाड़ा, बुझती-सी अँगीठी
ओ दरिद्रनारायण, पेट-पीठ से लगे हुए कुबेर-नर
याद तुम्हारी आयी।

देखी मैंने ग़ारत-भरी शराबिन दुखिया बाला
इस नारी-स्वतन्त्रता युग में आश्रय-प्यासी हाला
रौंदी हुई सड़क पर फेंकी-सी पूजा की माला
और अचानक कहीं सिमिटती श्रद्धा-सी उठ गयी

नहीं पिंगला-कान्होपात्रा, सोन्या-अन्ना, सुमन-राजलक्ष्मी[1],
कहीं वेसवा बनती साध्विन, कहीं सती हरजाई…
मेहरावें…अँगड़ाई !
आत्मा की वासना वसूले लेती पाई-पाई
ओ नाना-रत्ना वसुन्धरा ! नदिया बनती काई
याद तुम्हारी आयी ।

(रचना-काल-शिकागो (इलिनॉय)
दिसम्बर 1949
'मेपल', 1967 से)

कीर्केगार्द की समाधि पर
(पहला प्रारूप)

मृत्यु
अस्तित्व
ईश्वर
        शंकापुत्र
अथवा पर्याय मात्र
जीवन
अस्तित्व
पाप
        श्रद्धा-सूत्र
अन्वय व्यतिरेक
        शास्त्र
नियति,—आत्मस्वीकृति
पूर्ण विराम

(दूसरा प्रारूप)

सर्वास्ति
शून्य सब…नहीं
सिहरन निजता के पाप के सामने
        (उदास, उपेक्षित तुरबत, कुछ सैलानी)

---

1. सोनिया दास्ताएवस्की के एक उपन्यास की और अन्ना तॉल्स्तॉय के उपन्यास की नायिका है। सुमन 'सेवासदन' की और राजलक्ष्मी 'श्रीकान्त' की।

अच्छाई सुन्दरता का नकार
सच्चाई अच्छाई का नकार
और तीनों आयाम मिलकर—स्वीकार ?
मैं और तुम, अथवा मैं या तुम
सोरेन्-मौत ? कनफ़ेशन
'किम् कर्म किमकर्मेति'...'टु बी ऑर नॉट टु बी ?'
पग-पग पर जीवन में मौत से भी बुरी मौत
डग-डग पर मौत में जीवन से भी बड़ा जीवन
और हम कवि से आशा माँगते हैं
जैसे डॉक्टर से टॉनिक ?
पर भीतर तो
'सब्बम् क्षणिकम्' का
'सब्बा संखारा अनित्ता' का
कीड़ा है।
कुतर गया वह डण्ठल, कुतर गया वह जड़ें
पड़ा कलियों पर पाला
और हम चाहते हैं दर्शन धीरज दिलानेवाला।
वंचना। व्यंजना। पर्यायवाची हैं
यह समाधि साक्षी है

(रचना-काल—कोपेनहागेन
जून 1961
'मेपल', 1967 से)

पशुलोक, ऋषिकेश

दूर वनों में जंगली हाथी
नरियल टूटे, सिन्दुर कुंकुम
देवी की प्रतिमा के आगे
गीत पहाड़ी, झरना सर्पिल,
निर्मल-शीतल, भागीरथ-जल
यह सब मन में उभर-उभर आता है
जब-जब याद तुम्हारी करता।
कटे जंगलों में विदेश-मुद्रा से निर्मित एक फ़ैक्टरी

मज़दूरों के फटे हुए सर, रक्तिम-गैरिक झण्डे
नये रुपैये उगलते हुए नये देवताओं के आगे
गन्दी सीलन-भरी बस्तियाँ
नल से टप्-टप् झरता पानी
यह सब आँखों के सामने साफ़ है
जब-जब याद तुम्हारी करता ।

मैं नहीं चाहता सदा वन्य ही रहना
क्रूर प्रकृति की सनकों पर ही जीना
पर मैं बनना नहीं चाहता इतना संस्कृत
जो सामूहिक कैण्टीनों से पाऊँ खाना-पीना
ओ यन्त्र-तन्त्र !
मुझे हाल पर मेरे ही दो छोड़
चुनूँ मैं ही चाहूँ जो राग
चुनूँ मैं चाहूँ जो सुर-यन्त्र ।

(रचना-काल—ऋषिकेश,
अगस्त 1961
'मेपल', 1967 से)

हो चुकी कविता

हो चुकी कविता
विंध्या, रेवा नदी की
खुदा की, खुदी की
नेकी और बदी की

हो चुकी कविता
उन्नीसवीं सदी की

हो चुकी कविता
लोहे की, हथौड़े की
धरती के फोड़े की
तैमूर के घोड़े की

हो चुकी कविता
चील, कठफोड़े की

तो अब बताओ
कविता का विषय क्या हो ?
माया हो, ब्रह्मा हो
पत्नी हो या माँ हो

गौरी हो या श्यामा हो

प्रतिबद्ध हो जाओ
नहीं हो या 'हाँ' हो

मैं कहता हूँ अगर
सहज ही रहता हूँ
निर्झर की तरह सहज बहता हूँ
सूरज की तरह सहज दहता हूँ
चुपचाप सब कुछ मैं सहता हूँ

तो
क्या मैं कविता का विषय नहीं ?

तुम
अगर सवेरे से शाम तक खटते हो
जीवन के समर से ज़रा नहीं हटते हो
अफसर के आगे सीना तानकर डटते हो
हर सुबह नया वर्क फिर से पलटते हो

तो
क्या तुम कविता के विषय नहीं ?
मैं हूँ और तुम हो
और वे जो अनगिनत हैं
जो श्रम में ही रत हैं
सेवा ही जिसका व्रत है
उनका भी स्वागत है

वे हो कुली, पासी, चमार, डोम, ढीमर,
बनजारे, कुम्हार, माली, बसोर, मेहतर
नाई, कहार, मातंग, माँग, शूद्र, मुसहर...,
कविता के विषय हैं

वे ही जो अंत्यज और वे ही जो शेष हैं
वे ही विशेष हैं

कविता अब भक्ति-आर्द्र आरती प्रभाती नहीं
कविता अब अश्रु-सजल विरहिन की पाती नहीं
कविता अब मुट्ठी भर लोगों की थाती नहीं
कविता अब केवल मधुशाला-मदमाती नहीं

कविता अब संगत का साज नहीं
कविता अब गले की सुरीली आवाज़ नहीं

कविता अब शब्दों की अल्पना या साज नहीं
कविता अब केवल चीख होकर नाराज़ नहीं

कविता अब विषय के लिए मुहताज़ नहीं
कविता स्वयंम्मय है
कविता अब निर्भय,
अविनय,
निस्संशय
है !

('ज्योत्स्ना', अप्रैल, '83)

कथा साहित्य

जो

एक

सारा हॉल जैसे संगीत के नशे में था। मैं सेण्ट लुई (मिज़ूरी) के एक छोटे-से 'ब्लू एंजेल' होटल में अपने मेज़बानों के साथ बैठा था। और डिक्सीलैण्ड जाज़ अपने पूरे उभार पर था। कुर्सियों पर लोग समा नहीं रहे थे; कई पीछे खड़े थे। किसे ध्यान था कि इस भीड़ में भी खिसकती-रेंगती शराब और बीअर छोटी-छोटी मेज़ों पर पहुँचाने वाली लड़की के हाथ की बोतल का झाग ग्लासों से नीचे उँडेला-बहा जा रहा है; किसे परवाह थी कि नीचे बिछी रेती में सिगरेट के टुकड़े वैसे ही मुँह से खिसककर गिरे जा रहे हैं। तालियों की कड़कड़ाहट हुई और सैकड़ों स्त्रियाँ और पुरुष बराबर एड़ियों पर उछल-उछल कर, बार-बार, खुले दिल से खड़े हो-होकर दाद दिये चले जा रहे हैं। एक हंगामा मच गया है।

लम्बूतरे हॉल के एक कोने में रोशनी के नीचे तीन काले आबनूस नीग्रो अपने ट्रोम्बोन, क्लेरिनेट और सेक्सौफ़ोन बजा रहे हैं। बिगुल जैसे बाजे के नीचे बार-बार गाल फूल कर धौंकनी की तरह स्वर भरे जा रहे हैं, सारा शरीर जैसे झूल रहा है। वाद्यों का पीतल चमक रहा है, काले चेहरे पर पसीने की बूंदें चमक रही हैं। नथुने विस्फारित हो गये हैं। पीछे एक आदमी दो छोटे-बड़े ढोलों पर ताल देता जा रहा है। कभी-कभी झाँझ जैसी बड़ी कांस्य की गोल-गोल प्लेटें झनझना उठती हैं। और घण्टों यह नासमझ के लिए वन्यप्राय लगने वाला संगीत कोलाहल चलता रहता है। जैसे समुद्र में उत्ताल तरंगें चट्टानों से ऊँची उठ रही हों; जैसे दो बड़ी-बड़ी अनीनिकाएँ एक दूसरे पर झपट्ट-से टूट पड़ी हों। जैसे बीच-बीच में आर्त करुण चीत्कार से कोई कराह उठता हो, जैसे एक साथ अफ्रीका के गुंजान जंगल में सवा-सवा हाथ के पत्तों के बीच से सरसराता हुआ कोई चमकीला चित्तेदार शेर गुज़र रहा हो, शान से। जैसे विराट् और उत्कट का गाढ़ालिंगन हो रहा हो···

इसी तुमुल वाद्य-ध्वनि के बीच एक कैंची की तरह तीखी बिजली की तरह काँपती आवाज़ कौंध जाती है। वह स्त्री-स्वर है। माइक्रोफोन के सामने एक छरहरी साँवली-सी लड़की खड़ी है नीली पोशाक में; उसके घुंघराले बाल बारीक छँटे हैं। उसके स्कर्ट से गरीबी झलकती है। वह बहुत ही करुण स्वर में, अशुद्ध नीग्रो बोली में एक लोकगीत गा रही है, पूरे दिल से और पूरे ज़ोर से—

पैसा सारा घर से इतनी दूर चला गया
पैसा सारा घर से इतनी दूर चला गया
मैं सिर्फ़ यहाँ बैठी हुई, रोती हूँ, कराहती हूँ, सिसकती हूँ···
जो कोई स्त्री उदास होती है, तब वह सिर झुका कर रोती है
जब कोई स्त्री उदास होती है, तब वह सिर झुका कर रोती है
जब कोई स्त्री उदास होती है, तब वह सिर झुका कर रोती है

पीली लड़की पादरी की भी बाइबिल नीचे रखवा देगी
पीली लड़की पादरी की भी बाइबिल नीचे रखवा देगी
सुन्दर साँवली लड़की तो उसे गाँव-गांव भगाती फिरेगी
बिना मर्द की औरत जैसे बिना पाल का जहाज़
बिना मर्द की औरत जैसे बिना पाल का जहाज़
बिना पाल का जहाज़ या बिना पूँछ का श्वान !

लड़की के नक्श अच्छे हैं। वह गाती है तो हाव-भाव भी साथ-साथ करती जाती है। बड़ी-बड़ी काली आँखें सारा अनकहा कह जाती हैं।

मण्डली झूम रही है। जाज बराबर फिर से चल रहा है। शराब के प्याले ढल रहे हैं और सारा हाल जैसे संगीत के पंखों पर तिर रहा है।

फिर वाद्यों की होड़ शुरू हो गयी। जैसे त्रोम्बोन और ताल देने वाले ड्रम की जुगलबन्दी चल रही हो। मेरे मेजबान पचपन बरस के स्मिथ साहब उछल-उछल पड़ रहे हैं। उनकी बीवी भी लाल-लाल हो रही है। आनन्द से उसके आँसू बह रहे हैं। उनकी लड़की डोरा, हमेशा गम्भीर-संयत रहने वाली, पर आज वह यह जाज़ सुन कर जैसे सब बन्धन, सब दुकूल, सब सीमाएँ तोड़कर बाढ़ में उमड़ती नदी की तरह बह जाना चाहती है।

मैंने पहली बार ऐसा जाज़ सुना हो, सो बात नहीं। सैन फ्रान्सिस्को में मेरे 'बीट' कविमित्र गाय मुझे कई जाज़ सेशनों में नार्थबीम ले गये थे। रात के तीन-तीन बजे तक वे महफ़िलें चलती थीं। वह अनुभव नया नहीं था। पर जाज़ के मूल घर में, सेण्ट लुई में, इस पुराने डिक्सीलैण्ड के जाज़ का आनन्द ही कुछ और था ! जैसे स्रोत तक पहुँच कर गंगोत्री का आचमन कर लिया जाये, या किसी रहस्यमय प्रासाद के तलघर में जा कर एक बहुत बड़ा खज़ाना देख लिया जाये। नायगारा जलप्रपात के ठीक नीचे जाकर फुहिया में नहाने का मज़ा लिया जाये······

मेरा मन संगीत से अन्यमनस्क हो जाता है ! यह नहीं कि संगीत मुझे पसन्द नहीं—क्लासिकल संगीत, लोक-संगीत दोनों मेरे प्रिय हैं। मैंने घण्टों बढ़िया महफ़िलें कर्नाटक संगीत की भारत में और विदेश में भी सुनी हैं। ब्रह्मानन्द यदि

कुछ हो तो वह इसी के क़रीब होगा। पर इस जाज़ को सुनते-सुनते जाने क्यों मेरा मन उचट कर कहीं दूर, बहुत पीछे, गहरे में—पता नहीं कैसी-कैसी सुरंगों में से, चक्रिल सीढ़ियाँ पार कर, किसी अतल अन्धकार में छिपे 'सोते' को छू गया—

मुझे एकदम बीती की याद आयी। दस्तेवाड़ा में, देवीपूजा वाले समय, उस अँधेरे गर्भ-गृह में कैसे-कैसे आदिवासी बाजे बजे थे! यूप मैंने और भी देखे हैं। वध-स्तम्भ भुवनेश्वर के शिशिरेश्वर में ऐसा है कि उस पर जान-बूझ कर बुद्ध की (या 'जिन' की ?) प्रतिमा बनायी गयी है। मानो कहा जा रहा हो कि लो और अहिंसा का उपदेश, यह तुम्हारे सामने, यह तुम्हारे सहारे रस्से से बँधा यह भैंसा, यह बकरा कटा···यह रक्त के फ़व्वारे उड़े, जय चामुण्डा! और बुद्ध हैं कि पत्थर के बुत बने बैठे हैं, सो रहे हैं! आँखें मुंदी हैं—चीत्कार सुनाई पड़ रही है।

झम-झम, झमाझम तुतुतुतुतुतुत्तु···सिंगा, तुरही, ढोल, मँजीरे, बड़े-बड़े नगाड़े बजाकर माँ शक्ति के आगे बलि देने का मानो बड़ा जुलूस चला जा रहा है। उस में सिर पर सिन्दूर लगाये, गले में गेंदे की कई मालाएँ डाले, सींगों पर घुंघरू बाँधे, सब से आगे-आगे एक बलि-पशु है। भैंसा है या मैं हूं या नीग्रो है ?—मुझे तीनों एकाकार जान पड़ते हैं। युद्ध के बादल गरज रहे हैं। अजापुत्र की तरह तटस्थ देश दुर्बल-घातक देवों के आगे डाल दिये जाते हैं। जैसे मैंने जू में बड़े भारी समुद्री ह्वेल के मुख में मछलियों को डाले जाते हुए देखा। पर इसमें रोने का, मातम मनाने का, मर्सिया गाने का, महाकरुण नाटक के भरत-वाक्य का-सा, शोकान्त विषय है; या उत्सव मनाने का, ढोल पीटने और उल्लास से नाचने का।

समझ में नहीं आता कितनी जल्दी मन पता नहीं कहाँ-कहाँ सैर कर आता है ?

डोरा ने धीमे-से चिकोटी काटी—सो रहे हो ?

मैं भान पर आया—नहीं तो।

डोरा—फिर किस सोच में डूब गये हो ? घर की याद सताती होगी ?

और वह शरारत-भरी हँसी हँसने लगी। ऐसा हँसती थी तो डोरा बिल्कुल अबोध बालिका की तरह खिलखिला पड़ती, गालों में उसके गड्ढे गहरे हो आते, आँखों की चमक बढ़ जाती। डोरा मेरी सहपाठिनी थी। मित्र कहते इतनी आत्मीया नहीं।

मैं फिर कुछ नहीं बोला।

तालियाँ बजीं। मैंने भी, यन्त्रवत् तालियाँ बजायीं। स्मिथ साहब ने कहा—चलो चलें, रात बहुत हो गयी।

—सिर्फ डेढ़ बजा है अभी, पापा ! शनीचर की रात को भी जल्दी ?—डोरा ने कहा।

डोरा की माँ वर्जीनिया ने निर्णय के स्वर में कहा—अच्छा, अब यह गीत आखिरी है। इसके बाद चलना ही होगा।

फिर वाद्यों का ज़ोर-ज़ोर से, बीच-बीच में अटकता-खटकता, काँपता-रुकता स्वर ऊपर-ऊपर चढ़ने लगा। फिर हॉल में जैसे उन्माद की लहर दौड़ पड़ी। मैं फिर कहीं अपने भीतर डूबने-उतराने लगा। ये नीग्रो और उनके ये आदिम-नृत्योत्सव, ये संगीत-जलसे ! ये जंगलों में जब गाते होंगे तब कैसे झूम-झूम कर नाचते होंगे ? तब श्रम-मूल्य और मुनाफ़े की लोहे की झनझनाहट से युक्त, लकड़ी के लट्ठे काटने-ढोने और माल चढ़ाने-उतारने की मशक़्क़त के गाढ़े पसीने के चक्कर से आज़ाद, सभ्यता की सारी गन्दगी, कूड़ा-कचरा और धूल-गर्द को साफ़ करते रहने की शापित ज़िन्दगी से स्वतन्त्र—ये नीग्रो कैसे प्रकृति की गोद में किलकारियाँ भरते होंगे ? जैसे कृष्ण-हिरण, जैसे नीलगाय, जैसे मैना। जैसे कोयले की खान में छिपे हीरे, जैसे काजल की कठपुतली, जैसे संगमूसे की शिल्पित प्रतिमाएँ—होयसाल और वाकाटक वंश की—

मेरा मन कहीं और भटक रहा था। सेण्ट लुई और डोरा का आतिथ्य—उस दिन दोपहर को लिये हुए फोटो और दावतें—यह सब मैं भूल गया था, और पद्मनाभपुरम् मन्दिर की विशाल अनन्तशयन वाली शेषशायी मूर्ति की ओर चला गया था। क्या उस नीरव, नीरन्ध्र सन्ध्याकाल में, उस धूसर मन्दिर-मण्डप में, सैंकड़ों क्षुद्र और विशाल गुरु-गम्भीर घण्टाओं का सम्मिलित स्वर जिसमें मन्त्रोच्चारण और स्तोत्रों के अनवरत एकस्वर संगीत का सानुनासिक गुंजारव—सब मिलकर ऐसी ही मिश्र-ध्वनि पैदा नहीं कर रहे थे जैसी इस 'जाज़' में ? हो सकता है मेरे मन का यह सिर्फ एक धोखा हो। पर इस संगीत के एक-एक स्वर के साथ दिशाएँ जैसे टूट कर नीचे बिखर रही थीं, काल एक बड़े काँच के फानूस की तरह चूर-चूर हो रहा था; मेरे भीतर कुछ जाग उठ रहा था जो या तो सदियों से सोया पड़ा हो या गुंजलक में लिपटा जड़वत् हो चुका हो। क्या मेरे भीतर कुछ आदिम, बर्बर, पाशव, हिंसक, जिघांसु छिपा हुआ नहीं है ?

क्या वह डायोनीशियस का अट्टहास है ? क्या वह यम की निर्विकार महिष पर सवारी करके सत्यवान् की आत्मा को अपने पाश में लपेटकर ले जाने की लौटती हुई, पीठ दिखाती मुद्रा है ? क्या वह सिक्किम के भयानक सर्प-मुकुट वाली हँसते हुए भैरव-मास्क की-सी कोई ढक्कन हटाते ही नज़र आने वाली भय-विद्रूप की सृष्टि करने वाली कपाल की हँसी है ?

नहीं-नहीं ! जाज़ अपनी समाप्ति पर है। सब लोगों ने अपने-अपने बड़े ऊनी कोट, स्टोल, शालें उठा ली हैं। डोरा ने मुझे चिढ़ाते हुए कहा, "बाहर

ऐसी गर्मी नहीं रहेगी। बर्फ़ गिर रही है शायद। अपने सब गुलूबन्द ओढ़ लो।"

इतने में स्मिथ साहब को कुछ सूझा और बोले, "चलो राम, तुम्हें जो से मिला दूँ। वह यहाँ की जाज़ पार्टी का बहुत बड़ा आधार-स्तम्भ है। नीग्रो है, पर यह क्या उसका क़ुसूर है ?"

मैंने मन में सोचा, भगवान् सर्वक्षमाशाली, सबके सुखदाता माने गये हैं। पर जो जन्म से ही नीग्रो या रेड इण्डियन, हरिजन या आदिवासी, जरायमपेशा या क़बायली का ठप्पा लगाकर इस दुनिया में भेजे जाते हैं, उनके लिए भगवान् से ऊपर और सुप्रीम कोर्ट अपील करने को कहाँ है ? ऐसे लोगों को कोरे भगवान् तक या भगवान् से काम नहीं चलेगा। उससे परे एक सुपर-भगवान् होता तो अच्छा होता !

पर यह सब हमारे अपने मन से बनाया हुआ, दिल को बहलाने का अच्छा खयाल है ! भगवान् अगर होते तो ट्रैजेडी क्यों होती ? जो सुख के साथ दुःख भी पैदा करता है, वह कैसा समदृष्टि भगवान हो सकता है ?

हम जो तक पहुँच गये। बहुत महँगे कपड़े पहने एक अधेड़ उम्र का संगीतज्ञ था वह।

मि० स्मिथ ने कहा—जो, ये हैं वेंकटरामन्। हम इन को सिर्फ़ राम कहते हैं। भारत से आये हुए विद्यार्थी हैं। हमारी डोरोथी के क्लासमेट। ऐन्थ्रोपॉलोजी पढ़ते हैं।

जो ने अपनी पूरी बत्तीसी चमकाते हुए कहा—आपको जाज़ पसन्द आया ? बहुत ख़ुशी हुई, जानकर। आप तो बहुत दूर से यहाँ आये हैं न ? मैं अपने अहोभाग्य समझता हूँ कि पूर्व के बड़े देश से एक श्रोता आया।

हमारे आतिथेय ने मेरे परिचय में ख़ूब तारीफ़ कर दी थी कि मैं कलाप्रेमी हूँ। फिर तो वह गद्गद होकर बोला—मेरे बड़े भाग्य हैं। आपके देश में भी जाज़ प्रिय है ?

मैंने बात को मोड़ दिया—हमारे देश के अपने आदि-संगीत हैं। लोकगीत हैं। ध्रुपद हैं, धमार हैं। सामूहिक कम। मैं आपसे मिलकर बहुत-बहुत ख़ुश हुआ। एक दिन आऊँगा। आपसे जमकर बातें करूँगा।

इतने में वहाँ वही गायिका लड़की आ गयी—यह है बेसी। मेरी बहन की लड़की। अकेली है। गाने में बहुत रुचि है। यही इसकी जीवनशक्ति है।

मैंने संकोच से कहा—कुछ दिन यहाँ हूँ। दिन में मिलने आऊँगा। और विस्तार से बातें करेंगे।

प्रसिद्ध नीग्रो संगीतज्ञ जोज़ेफ़ उर्फ 'जो' से यों पहली बार परिचय हुआ। और मैं बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। मुझे अमरीका में डेढ़ साल से अधिक समय रहते-रहते हो चुका था। लेखक मिले थे, कहानीकार, नाटककार। भारत के नाच में

रस रखने वाली तरुण गोरी लड़कियाँ भी मिली थीं। मेरा एक बहुत अच्छा नीग्रो दोस्त शिल्पकार था। चित्रकला के भी छात्र परिचित थे। पर संगीतकारों को अब तक मैंने दूर से ही देखा था। उन्हें और निकट से देखने का मौका मिल रहा है, यह जानकर बड़ी कृतज्ञता मैंने स्मिथ परिवार के प्रति व्यक्त की।

रास्ते में लौटते हुए हमारे उदारमतवादी मेज़बान ने किस्से सुनाये कि यह जो नीग्रो संगीतज्ञों की इतनी सामाजिक प्रतिष्ठा आज मैं देख रहा हूँ, वह पहले से हो ऐसी बात नहीं थी। उसके लिए काफ़ी संघर्ष उन्हें करना पड़ा। केण्टुकी प्रदेश के लुईज़विल में रॉबर्ट होयल जब पहली बार उसी होटल में गाने आया, जहाँ कि वह पहले एक वेटर था, तो उसे एक परदे के पीछे खड़े होकर गाने के लिए कहा गया। वहाँ के गोरे श्रोताओं के लिए स्टेज़ पर एक काला आदमी का गाना एक ऐसा दृश्य था जो वे सहसा सह नहीं सकते थे।

वर्जीनिया ने बात जोड़ी—और वाशिंगटन में 1939 में मेरियन ऐण्डरसन को गाने के लिए वहाँ की स्त्रियों की संस्था 'डॉटर्स ऑव रिवोल्यूशन' ने स्थान नहीं दिया। श्रीमती ईलियानोर रूज़वेल्ट के बढ़ावा देने पर लिंकन-स्मारक की सीढ़ियों पर ही उसने अपना संगीत दिया। और बहुत बड़ी तादाद में श्रोता जमा हुए—उसके स्वर से मन्त्र-मुग्ध हुए।

डोरा ने कहा—उससे भयानक कहानी तो बेसी स्मिथ की है। वह 'ब्ल्यू' गाने वालों में सबसे बड़ी औरत थी। जब वह मिसिसिपी प्रदेश में दक्षिण में सफ़र पर गयी थी तो एक मोटर-दुर्घटना की शिकार हो गयी। और वह काली स्त्री होने से उसे किसी ने अस्पताल में भरती नहीं किया। वह राह में ही मर गयी, ज़ख़्मों से ख़ून उसका रिसता रहा। तरुण नीग्रो कवि माइरौन औ'हिग्गिन्स ने अपने 'ब्ल्यूज़ फ़ॉर बेसी' गीत में इस घटना पर कविता बाँधी है—

''लोग सुनें, जनता जाने (ऊँह !)
उस दक्षिण के गाँव में उन्होंने क्या किया ?
सारी जनता जाने
दक्षिण के गाँव में क्या किया उन्होंने ?
हाँ, उन्होंने ग़रीब बेसी को मरते पड़े रहने दिया
ख़ून उसका बहता रहा, बहता रहा !''

हमारी गाड़ी घर तक पहुँच गयी थी। बाहर की बर्फ अब महसूस नहीं होती थी। कमरे भीतर से ख़ूब गर्म थे। मेरे लिए बहुत सुन्दर कमरा, बिस्तर, टेबल लैम्प, पढ़ने के लिए पत्र-पत्रिकाएँ—उत्तम व्यवस्था थी। पर मुझे बड़ी रात तक नींद नहीं आयी।

मेरी आँखों के सामने 'ब्लू एंजेल' होटेल का वही संगीत-समाँ, वहीं का उठता-उभरता स्वर बराबर नाच रहा था। स्वर नहीं था, मानो एक सामूहिक

विद्रोह था, एक सामूहिक दर्द का इज़हार था, एक सामूहिक चीख़ थी ! और फिर भी उसके बीच-बीच में जैसे फटे-पुराने दरिद्र वस्त्रों में ज़री का एकाध तार चमक उठता हो वैसी ही कहीं आशा और विश्वास की रेखा चमक-चमक उठती थी। जैसे किसी विधवा माँ के सब बच्चे एक-एक कर मर जायें और एक छोटा नन्हा बच्चा बचा हो। जैसे नाव टूट-टूटकर अंजर-पंजर उसके समुद्र की लहरों पर तैर रहे हों, डूब गये हों, एक लकड़ी का फट्टा बचा हो जिसके सहारे नाव का अकेला बचा हुआ यात्री तनिक सुस्ता रहा हो, प्रार्थना कर रहा हो। जैसे मौत की सज़ा सुनाये जाने पर अपराधी के वकील ने कहा हो—अभी भी एक रास्ता बाक़ी हैं, क्षमा-याचिका राष्ट्रपति को भेजो। जैसे—

मैं जाग पड़ा। कमरे की मन्द रोशनी में उठकर देखने लगा। यह एक प्रतिष्ठित अमीर अमरीकी परिवार का अतिथिगृह है। यहाँ दीवारों पर पूरे परिवार के छायाचित्र लगे हैं। किसी पूर्व-पुरुष का और उसकी पत्नी का पुराना एन्लार्ज किया हुआ फ़ोटो है। ये सभी अमरीकी एक तरह से ख़ानाबदोश हैं। यूरॅप से भाग कर यहाँ ज़मीन, नये रोज़गार, नयी ज़िन्दगी की तलाश में आये—साहसिक सैलानी, मेहनती। और ये काले-काले नीग्रो भी तो बाहर से ही आये। इनकी यहाँ आने की कहानियाँ, कितने सदियों पहले ग़ुलामों के व्यापार से बँधी हैं।

मैं एक किताब उठाकर पढ़ने लगा—एक कहानी है कि पुर्तगालियों ने पन्द्रहवीं सदी में एक ग़ुलाम पकड़ा जो मूर यानी अफ़्रीका का हब्शी था। उसने अपने बदले में दस नीग्रो देकर ग़ुलामी से अपना छुटकारा कर लिया। इसमें एक फ़ायदा था, पुर्तगाली धर्मप्रचारकों को। मूर इस्लाम धर्मवाला होने से उसका धर्म-परिवर्तन पूर्णतः सम्भव नहीं था। नीग्रो 'हीदन' होने से पाँच आत्माओं को मुक्ति देने का पुण्य पुर्तगालियों को मिल गया !···

1517 ईसवी में रेवरेण्ड बिशॅप लास कासास ने कहा कि हर हस्पाहानी जो अमरीका की नयी कॉलोनी में जा रहा हो वह अपने साथ बारह नीग्रो ले जा सकेगा। 1540 तक अमरीका में हर साल दस हज़ार आयात किये जाने लगे थे; अफ़्रीका से···

"उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ की कहानी है ड्यूप्पुहस नाम के आशान्ती के एक अँगरेज़ काउन्सल की : बीस हज़ार ग़ुलाम ख़रीदे। उनमें कई बड़े ख़राब थे। क़बाइली सरदार ने कहा, इनमें से कइयों की बलि दी जाये। तो जिस स्टूल पर बैठाकर उनका ख़ून करना था उसे शुद्ध करने के लिए कुछ ग़ुलामों को मार कर उनके ख़ून से स्टूल नहलाया गया" !···

मुझसे आगे न पढ़ा गया। मैंने किताब बन्द कर दी।

यानी अफ़्रीका के हों या अमरीका के आदिवासी, हिंसा उनके बीच में आपस

में भयानक मात्रा में थी। पर जब गोरे उपनिवेशवादी वहाँ आये, वहीं हिंसा कई गुना बढ़ गयी...

लेकिन यह सब पुरानी बातें क्यों दुहरानी चाहिए ? उनसे क्या फ़ायदा है ? हर देश के इतिहास में ऐसे कोढ़ के धब्बे हैं, ख़ून के छींटे हैं। हम भारत को बड़ा दयाशील, न्यायशील देश मानते रहे हैं, पर क्या प्राचीन भारत में ग़ुलाम नहीं थे ? देवदासियाँ नहीं थीं ? क्या ज़मींदारों के, रियासती ठाकुरों के और छोटे-बड़े राजाओं के अत्याचारों की कहानियाँ हमारे गाँवों के लोकगीतों तक में नहीं गुँथी चली आयी हैं ?—तो आख़िर हम किस मुँह से किसी देश के काले-गोरे को लेकर कुछ कहें ? 'स्वपक्षदोषाच्च...'

मनुष्य का मन ज़्यादह देर तक इतना सब सुव्यवस्थित तार्किक ढंग से सोच नहीं पाता। फिर रंग में रंग मिल जाते हैं, चेतन-अचेतन की सीमाएँ इन्द्रधनुष के सात सुरों की तरह सिम्फ़ॅनी गूँथने लगती हैं, ठीक जैसे मेहराब के भीतर से मेहराब लगातार दूर तक दीखती चली जाये—

सो मैं सोने का प्रयत्न करने लगा। कई बातें एक साथ उभर आयीं मेरे मन में। मैं यहाँ उच्चतर ऐन्थ्रोपॉलोजी पढ़ने अमरीका में आया। डेढ़ साल लिंग्विस्टिक्स में और बीत गया। मैंने यहाँ के नाच सीखे, यहाँ के समाज में सब तरह से घुलने-मिलने की कोशिश की; पर कहीं-न-कहीं, या तो मेरे मन का धोखा है, या हो सकता है यह सचाई हो, एक दीवार, एक अदृश्य पर ठोस, अपरिभाषेय पर वास्तव, खाई ज़रूर नज़र आती है। मैं यहाँ जैसे पूरी तरह स्वीकार्य नहीं हूँ। कुछ है जो मुझे इस संस्कृति में अछूत करार देता है। और क्या यही दर्द है जो मुझे 'जो' या बेसी या गाय के क़रीब ले जा रहा है ? या सिर्फ़ एक अस्पष्ट मानवमात्र के दुःख में सहभागी होने की मैत्री-करुणा, क्षमा-शान्ति वाली कच्ची भावदशा ? किशोर मन का पत्ता तोड़ते ही झर पड़ने वाला कच्चा आँवे का दूध ? किस काम का ?

पता नहीं मैं खिड़की के बाहर दूर तक क्या देखता रहा —नदी का विस्तार और एक गिरजाघर के ऊँचे शिखर से परे एक तारा। मच्छरदानी की जाली जैसा कुहरा और मछलियों के चमचमाते रूपहले पंखों की तरह नदी की सतह। स्टेज के आगे धीरे-धीरे ज़मीन में से एक सुन्दर वाद्य-समूह-जैसा उठता हुआ काले कमल-पत्रों में से जागता अम्भोज-कलिका-सा मुख—क्या डोरा जैसी आँखें उस मुँह में हैं ? हाँ आँखें नीली हैं, बाल ताम्रवर्णी सुनहले हैं जैसे फ्रांस में कुछ मद्यों का रंग होता है, पर बस उतना ही यह विदेशी साम्य है—इस उठती हुई आकृति के अंग-प्रत्यंग ? बारहवीं शताब्दी की जैन सरस्वती की तरह हैं। खजुराहो की मूर्तियों की तरह नुकीली नाक और ठोड़ी। और मीनाक्षी कोविल में सुदर्शन के हाथों विष्णु जिस वधू को सौंप रहे हैं वैसी प्रलम्ब पतली पुष्ट

जंघाएँ—

और यह क्या नीचे के अंग ही ग़ायब हैं ? कमर से नीचे का हिस्सा मात्र आभास था। वह तो सिर्फ़ पानी है। शैवाल से लिपटा, बार होटल की दीवारों पर ज़हरीले हरे रंग की पत्तियों के डेकोरेशन की तरह। पर मुझे यह सब हरा-हरापन नापसन्द है। एक रोग होता है कि जिसमें पानी को देखकर आदमी उसमें डूबना, गहरे-गहरे चलते चले जाना ही चाहता है। पानी से मुझे हमेशा डर रहा है। बचपन में एक तालाब में डूब गया था। सिर पर भँवरदार बालों का गुच्छा देखकर माँ को किसी ज्योतिषी ने बताया था—इसकी मृत्यु डूबने से होगी।

फिर नींद से जगा। मन में निश्चय किया कि कल दोपहर को 'जो' और बेसी से ज़रूर मिलूँगा। कुछ नहीं तो एक नयी मैत्री ही सही ! परदेश में हर नया परिचय एकाकीपन में डूबते को तिनके के सहारे की तरह होता है।

संगीत और समुद्र का पानी—नीली अथाह लहरें—फेन की तरह अलापों का तन्तुजाल। और उस भीषण रौद्र वीणा के मन्थन से उठने वाली 'वह कन्या, वह माता, वह वधू' यह अनिन्द्य सुन्दरी उर्वशी क्या है ? वह अमृत है या विष है ? क्या गोरी या काली है ? नहीं, वह उनसे परे शायद शुद्ध मानवी है—निरी करुणा निरी कला, निरी स्नेहमयी—यह बड़े-बड़े जहाज़, यह बड़ी-बड़ी मुरकेबाज़ियाँ और तराने, ये बड़े लम्बे चलने वाले कॅन्सर्टों में पियानो के और वायलिनों के स्वर-विस्तार, यह शंकराभरण राग, या दरबारी रागिनी बिलंपत-जैसा झूमता-झामता गयन्द-लक्ष्मी या ऐरावतका-सा रथोत्सव, यह शोभायात्रा, यह पद्मा या बोट्टॅच्येली की 'बर्थ ऑव वीनस'—शिम्पा से···शिम्फनी, फनी फणीन्द्रो भगेन्द्रो···

जो भी हो, कल ज़रूर 'जो' से मिलूँगा। बेसी के गाने में इतना दर्द क्यों है। उसका मूल उत्स, उसकी डोर शायद हाथ लगे। भाग्य कटी पतंग है। और नीग्रो स्लम में भी लिली के फूल खिलते हैं, मैंने देखे हैं। ग़रीबी के कीचड़ और अपमान-अवहेलना की खाद में भी अद्भुत शक्ति है ! हे शिव, हे चिताभस्म-प्रेमी···

दो

दूसरे दिन दोपहर को मैंने डोरा से कहा—जो के घर ले चलो। उससे फ़ोन पर पूछ लो, समय है उसके पास मिलने का।

—बहुत ख़ुशी से। ज़रूर आइये। इण्डियन लोगों से मिलकर ख़ुशी होती है।

यह नगर का खासा प्रतिष्ठित हिस्सा था। इससे ऐसा नहीं जान पड़ता था कि काले-गोरे का भेद कहीं रहने के मामले में यहाँ बरता जा रहा हो। मैंने न्यूयॉर्क की पोर्टारिकन बस्ती और लॉस ऐंजेल्स के स्लम्स देखे थे। उनकी तुलना में यह स्वर्ग था।

अच्छे ऐपार्टमेण्ट में, जो अन्दर से गरमाया हुआ कमरा था, अच्छा फ़र्नीचर था। कमरे में एक ओर कोने में कुछ संगीत के वाद्य रखे हुए थे। दीवारों पर एक बड़ा-सा पोस्टर लगा था पॉल रोब्सन के आथेलो में भाग लेने के किसी नाटक का।

फूल सजाकर रखे गये थे। खिड़की से बाहर आकाश दिखाई दे रहा था। यह सब कम मकानों में मिलता है। कोने में एक बड़ा एकॉर्डियन और पियानो भी पड़ा था। एक रेकर्ड-प्लेयर भी था। जब हम पहुँचे तो जो कुछ टेप-रेकर्ड किया हुआ सुन रहे थे।

वह एक नीग्रो स्पिरिच्युअल या धार्मिक गीत था। इसमें करुणा को और ही प्रकार से विराट् के सामने खड़ा किया जाता है। वहाँ करुणा अश्रु-विगलित हतबलता नहीं बनी रहती। वह एक शक्ति बन जाती है। शक्ति का एक ऐसा रूप जिसे न आग जला सकती है, न हवा सोख सकती है, न पानी डूबा सकता है।

इधर-उधर की हवा-पानी की बातें चलीं। जो से मैंने पूछा—आप यहाँ कितने साल से रह रहे हैं?

अब दस से ऊपर हो गये। वैसे बीच-बीच में अपनी जाज़ मण्डली लेकर दक्षिण या उत्तर की तरफ़ दौरे पर निकल जाता हूँ तो बीच में छह-छह महीने, आठ-आठ महीने इस बसने में खण्ड पड़ जाता है। आप जानते हैं कि गाने वाले की क्या ज़िन्दगी है?

—क्यों?

—वह अपने भीतर का दर्द सब में बाँटता फिरता है?

—मैंने मूर्खता-भरे अन्दाज़ से कहा—अमरीका तो शौक़ीन देश है। यहाँ पैसा बहुत है। कलाकारों की क़द्र भी होती होगी?

—नहीं जी, यह निरा भरम है। यह अब इधर आकर ज़िन्दगी के चालीस साल ठोकरें खाने पर कहीं मुँह छिपाने को थोड़ी-सी जगह मिली है। अभी भी मंज़िल दूर है।

—क्या आपका परिवार नहीं है?

—संगीत ही मेरा परिवार है।

और फिर उसने बताया कि बेसी, उसकी भांजी ही उसकी देखभाल करती है। उसे भी और कौन है? गिटार और बेसी!

हम पहुँचे थे तो बेसी घर पर नहीं थी। वह किसी चर्च के क्रिसमस वाले

नाटक के सिलसिले में गयी थी। जो बोले—यही उसका समय काटने का साधन है। उसकी माँ की बड़ी ट्रैजेडी हुई। वह पागल हो गयी। शिकागो के मेण्टल हॉस्पिटल में कई दिन रखा। बाद में कुछ अच्छी भी हो गयी थी। पता नहीं एक दिन घर से भागकर कहाँ चली गयी।

—आपकी बहन की ऐसी दुर्दशा क्यों हुई ?

—हम नीग्रो लोगों की ज़िन्दगी का, आपको पता नहीं है मिस्टर राम, क्या हाल था पच्चीस साल पहले। अब आपने पूछा ही है तो अपनी जीवनी के पुराने पन्ने मैं खोलता हूँ। वरना मैं बहुत कम अपनी बात बताता हूँ।

डोरा ने कहा—अगर आपको कहानी सुनाने में कुछ दुःख हो, कठिनाई हो तो मत सुनाइये। ऐसा कोई आग्रह नहीं। मेरे इण्डियन मित्र तो आपसे दोस्ती बढ़ाने आये हैं।

—अपने जीवन के सब पुराने-नये सूत्र बता देना भी दोस्ती बढ़ाने का एक तरीक़ा है।

मैं—पर मैं आपका दुःख किस तरह से हलका कर सकता हूँ, जो ! मुझे लगता है कि कोई किसी का दुःख हलका नहीं कर सकता। सिर्फ़ सहानुभूति का एक छलावा मात्र बाँट सकता है।

जो—तो आप एक तरह से भाग्यवादी हैं। मैं इसे नहीं मानता। नहीं तो ज़िन्दगी में मुझे हज़ार बार ख़ुदकुशी कर लेनी चाहिए थी। यह संगीत, यह बाजे, यह मेरी भांजी बेसी — ज़िन्दगी में जीने लायक़ बहुत कुछ है मिस्टर राम—सब तैशुदा नहीं हैं; अपने हाथों में भी बहुत कुछ भगवान् ने छोड़ रखा है—दस टैलेण्ट दिये हैं हरएक को—चाहे तो उन्हें फेंक दो, चाहे उन्हें अच्छे काम में लगा दो—सूद कमाते जाओ।

मैंने जिज्ञासा की कि जो के धार्मिक विचार क्या हैं ?

—अब तो कोई खास विश्वास और धर्म नहीं रहा मि० राम। हाँ माँ-बाप मेथॅडिस्ट थे। बहुत बचपन में याद आता है बाप ख़ूब शराब पीकर घर पर आया है और माँ को बेहद पीट रहा है, उसकी हड्डी-पसली एक कर रहा है। माँ प्रतिवाद नहीं करती थी। मोमबत्ती जलाकर चुपचाप बाइबिल पढ़ती रहती। उसकी प्रार्थनाएँ—सचमुच आँसुओं और सिसकियों से भरी प्रार्थनाओं के सहारे मैं बढ़ा। वही पहला संगीत था जो हमारे कानों में बस गया।

डोरा—आपके बाप क्या करते थे ?

जो—कहना मुश्किल है। कई तरह का कबाड़ करते रहते थे। कुछ दिन जहाजों पर मज़दूरी की, कुछ दिन ट्रक चलाते रहे, कुछ दिन एक स्टील कारख़ाने में हो गये थे। पर टिकते कहीं नहीं थे। बदज़बान जो थे। और ये पीने की आदत—इसके मारे तो उन्होंने ठीक से बहन की पढ़ाई की ओर या शादी की

ओर भी ध्यान नहीं दिया। एक बार एक बूढ़े विधुर के गले बहन मेरी को बाँध दिया। वह बदमाश था। ख़ुद तो अफ़ीम का आदी था ही, बहन से चाहता था कि वह उसके चोर-उचक्के गुण्डे दोस्तों के लिए मनोरंजन का सामान मुहय्या करे। कमाता कुछ भी नहीं था। यह बेसी जनमी तब मेरी बहन कितनी अच्छी थी। यही उसकी पहली और आख़िरी सन्तान हुई। आप जानते हैं हमारी जाति में पढ़ाई कितनी मुश्किल से नसीब होती है। अव्वल तो पैसा नहीं। दूसरे गोरों के स्कूलों में गालियाँ और घूँसे खाने जाये कौन? ख़ुदा बचाये उनसे।

मैं—हाँ, यह तो मैं जानता हूँ। पढ़ाई अब थोड़ी-बहुत, सो भी उत्तर में, बढ़ी है। पर पढ़-लिखकर भी आप इतना नाम थोड़े ही कमा लेते, जितना कि आपने संगीत के सहारे कमा लिया। तो फिर आपने क्या संगीत को बचपन से ही जीविका का साधन बना लिया?

जो—बिलकुल नहीं। मैं बहुत ख़ाक छानता फिरता। आपने रेण्डल ओपन मार्केट देखा है शिकागो में?

मैंने कहा—जी नहीं, उधर जाने का मौक़ा ही नहीं मिला। मेरी पढ़ाई तो केलिफ़ोर्निया में चल रही है।

जो—कभी शिकागो जायें तो इस गन्दी बस्ती को देखना न भूलना। वहाँ दिन-दहाड़े चोरी-खून चाहे जो जुर्म होते जाते हैं। और जुर्म करने वाले खुले घूमते हैं। क़ानून के शिकंजे में उनका फँसना मुश्किल है, क्योंकि क़ानून सिर्फ़ वहाँ आता है जहाँ जुर्म करने वाला पकड़ाई में आये, जुर्म सिद्ध हो। ये बड़े-बड़े 'दादा' भला इतने बेवकूफ़ थोड़े ही होते हैं कि पुलिस के जाल में सीधे चले जायें। तो उसी मार्केट में, जनाब, मैं बचपन से ही पला-बढ़ा—एक वकील के यहाँ चपरासीगिरी, बाद में एक वृद्ध महिला के घर में नौकर और झाड़ू वाले का काम। यहीं मैंने कई अच्छे संगीतकारों के रेकर्ड चोरी-चुपके सुने। और फिर एक होटल में बर्तन धोने वाले का काम—ऐसे कितने गिनाऊँ—मैंने पच्चीसों धन्धे पेट पालने के लिए किये।

डोरा—पर संगीत की ओर कैसे झुके?

जो—ओह, वहाँ मेरे उस्ताद और गुरुदेव ने बड़ी मदद की। उन्होंने एक बार मुझे एक चर्च में प्रार्थना गाकर सुनाते हुए सुना। बोले, रोज़ आया करो। तुम्हारे कण्ठ में सोना है। अद्भुत चमत्कार है जो! मुझे पहले विश्वास ही नहीं हुआ। ज़िन्दगी में इतनी ठोकरें खायी थीं कि यह पुचकार भी ऐसी लगी जैसे मरहम में लिपटा नश्तर हो। पर मैंने तै किया कि बस अब ज़िन्दगी में इसी की सेवा करूँगा—संगीत की। चाहे जो हो जाये। और बड़ी भूख और गुरबत के दिन काटने पड़े हमें। सारी जवानी इस पागलपन के पीछे जला दी।

डोरा—क्या आपने शादी नहीं की?

जो—वह बात मत पूछिए। फिर एक दिल का बन्द दरवाज़ा खोलना पड़ेगा। और उसमें से पता नहीं क्या-क्या निकले। साँप-बिच्छू, गन्दी गैसों से लगाकर हो सकता है फुलझड़ियाँ और मोती-हीरे भी निकल आयें। आज वह सब बात नहीं बताऊँगा। मैंने प्रेम करने में भी बड़ी ठोकर खायी। आखिर काले आदमी को गोरी लड़की से इश्क लड़ाना ही नहीं चाहिए था। पर इश्क ही तो ठहरा! वह रंग के मामले से अन्धा होता है—लव इज़ कलर-ब्लाइण्ड!

और यह कहकर जो ठहाका मारकर हँस पड़ा। इतने में दरवाज़े पर घण्टी बजी और बेसी आ गयी। उसके साथ पादरी ऑस्टिन भी थे। काला चोगा पहने, गंजा सिर, छोटी-सी लाल दाढ़ी। मुद्रा सदा प्रसन्न।

परिचय की रस्म अदा होते ही पादरी ने पहला सवाल मुझसे पूछा—आप ईसाई हैं?

मैंने कहा—नहीं।

पादरी—तो सिख होंगे।

मैं—जी नहीं।

पादरी—तो आप बौद्ध होंगे।

मैं—जी नहीं।

पादरी ने जब 'हिन्दू' सुना तो एकदम उन्होंने हक़ारत से मुँह फेर लिया। डोरा की ओर बहुत साभिप्राय दृष्टि से देखने लगे, मानो कह रहे हों—कहाँ के उजबक को पकड़ लायी हो, सेण्ट लुई के ज़ू में बन्दर क्या कम हैं?

हम लोगों ने बाद में कोई आध्यात्मिक या धार्मिक बहस नहीं की। मैं थोड़ा-बहुत चित्रकला में भी रुचि रखता हूँ, यह डोरा जानती थी कि उसने सोचा कि अपने अतिथि को सेण्ट लुई का म्यूज़ियम या चित्रशाला दिखा दी जाये। पर जो और बेसी से बिदा होते हुए दोनों को डोरा ने अपने घर चाय पीने बुलाया। और इस तरह से जो से हमारी मैत्री बढ़ने की बात और आगे बढ़ी।

म्यूज़ियम के रास्ते से गये तो पता चला वह उस दिन बन्द है, तो डोरा ने सोचा कि मुझे समाजविज्ञान और दर्शन वग़ैरह में रुचि है, तो क्यों न मेरी एक उनकी भारत-प्रेमी बुढ़िया से मुलाकात करा दी जाये? वह घर की बहुत अमीर थी, और अपना सारा समय समाज-सेवा में बिताती थी। बहुत अच्छी उनकी अपनी लायब्रेरी थी। और उनके घर पहुँचने पर एक और दिलचस्प भारतीय से मुलाकात हो गयी। इस बुढ़िया का नाम था मिसेज़ विल्सन। मूलत: ब्रिटिश, पर कई पीढ़ियों से अमरीका में बसी हुई भारत के 'कलचर' में दिलचस्पी रखने वाली इस महिला के घर पर तीसरी मँजिल पर जब हम पहुँचे तो एक नौकरानी ने आकर दरवाज़ा खोला और अपने ओठों पर उँगली रखकर 'आवाज़ न करने' का इशारा दिया।

यह भी सूचना दी कि मालकिन पड़ोस के कमरे में 'योगा' कर रही हैं। और इसलिए शान्ति बहुत ज़रूरी है। टेलीफ़ोन भी एक घण्टे के लिए बन्द कर के रख दिया जाता है।

डोरा ने कहा—फिर हम कल आ जायें या एक घण्टे बाद ?

नौकरानी बोली—बस घण्टा ख़त्म ही हो रहा है। दो-चार मिनिट बाद वे आ ही जायेंगी।

हम दीवानख़ाने में दाख़िल हुए। कई बड़े-बड़े चित्र, पुराने ढंग के लैण्डस्केप्स, लगे हुए थे—तैल रंगों में। और सारे कमरे में छोटी-छोटी खुली आलमारियों में किताबें अटी पड़ी थीं। कई भारतीय लेखकों की पुस्तकें वहाँ दिखाई दीं। ख़ास तौर से 'योग' पर बहुत किताबें थीं।

अमरीका में बुढ़ियों को 'योग' में क्यों रुचि है, समझ में नहीं आता। अब वे कौन-सी सिद्धि पाने वाली हैं, भगवान् जाने ! पर कहते हैं मन:शान्ति उससे उन्हें ख़ूब मिलती है। मन:शान्ति किस आदमी को किस चीज़ से मिल जाये, कौन जानता है। जो है कि उसे संगीत से शान्ति मिलती है, वेसी को चर्च का काम करने से, पादरी आस्टिन को चेले-चेलियाँ जमा करने से, मि० स्मिथ को अपने कारख़ाने से और मुनाफ़ा कमाते जाने से और मिसेज़ स्मिथ को अपने घर के बग़ीचे से। डोरा को पता नहीं किस चीज़ से शान्ति मिलती है ! अभी वह पढ़ती है, पढ़ाई में उसका मन नहीं है इतना। चंचल वृत्ति है। और मुझे—

मुझे किस चीज़ से शान्ति मिलती है, मैं ख़ुद नहीं जानता। अगर यही आदमी जान जाता, तो फिर इतनी मार-धाड़, हाय-हत्या, भागाभाग होती ही क्यों ? मेरे एक दार्शनिक मित्र भारत में कहा करते थे—शान्ति बाहर की किसी चीज़ से मिल ही नहीं सकती। वह तो भीतर से ही पैदा होती है। वह तो मीठे कुएँ की झीर की तरह है। वह नहीं है तो फिर ऊपर से चाहे जितना चन्दन का लेप लगा लो, चाहे गुलाबजल में नहा लो, चाहे बर्फ की सिलें रख लो—कुछ नहीं होने का। आदमी वैसा ही भीतर से जलता रहेगा।

"काहे री नलिनी कुम्हिलानी ?
तेरे नाल सरोवर पानी···"

कबीर का भजन पता नहीं क्यों भीतर-भीतर उमड़ आता है। शायद बनारस में पढ़ने का यह परिणाम है। मेरे भीतर शान्ति नहीं है, इतना मुझे पता है। कल से जो का गाना सुना तब से कबीर की बार-बार याद आती है। क्या है जो में और उसमें एक समान ?

फक्कड़पन, अक्खड़पन, लगन, निस्संगता, खरापन, स्पष्टवादिता, जीवन के उलझन-भरे प्रवाह में मूल को पकड़ने की प्रवृत्ति···शायद यह सब और एक भी नहीं ?

इतने में मिसेज़ विल्सन, जिन्हें सब आँण्टी कहते थे, और उनके पीछे-पीछे सिर पर सफ़ेद पगड़ी, उपरना-जैसा अंगणअम् कन्धे पर डाले, चूड़ीदार पायजामा और काली शेरवानी पहने एक भारतीय भी वहाँ आ गया। परिचय कराया गया।

—आप हैं मि० रामन, आप हैं लक्ष्मण—यह नाम उच्चारण में कष्टसाध्य है, सो हम सीधे कहते हैं 'लक'। पूरा नाम है चटुरवेदी। और आप हैं बिहार के। बहुत बड़े भारतीय सन्त। मेरे योग के गुरु।

मैंने हाथ जोड़े। मन में कहा बुढ़िया ने अच्छा गुरु पाया।

श्री लक्ष्मण योगी जी सोफ़ा पर आकर पैर ऊपर समेट कर अर्द्ध पद्मासनाकार मुद्रा में बैठ गये। और बहुत ऊँचाई से, जैसे मुझे टहला रहे हों, पूछा—आप तो साउथिण्डियन होंगे?

—जी हाँ। मैंने बड़े क्षमार्थी स्वर में कहा। मानो दक्षिण भारत से आना कोई पाप हो।

महाराज ने पहला सवाल पूछा—आपकी काष्ट? ब्राह्मण या अब्राह्मण?

मुझे बहुत बुरा लगा। इन्हें मेरी जात-पाँत से मतलब? मैंने उसे चिढ़ाने के लिए कहा—नाइदर! दोनों ही नहीं।

—फिर आप हैं क्या?

—आदिवासी। उनमें जातिभेद नहीं होते।

श्रीमती विल्सन और डोरा दो भारतीयों की यह चोंचें देखती रहीं—उत्सुक, कौतुक-विस्मय-भरी आँखों से।

—तो आपको हिन्दी तो आती ही नहीं होगी। आप तो तमिलभाषी ठहरे। आप अँगरेज़ी को हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा मानते हैं न?

मुझे ताव आ गया। मन में कहा मैंने—मैं किसी भी टिम्बक्टूई भाषा को मानता होऊँ, पर यह शख़्स क्यों मेरी राय चाहता है? यह प्रामाणिकता से नहीं पूछ रहा, बल्कि सिर्फ़ चिढ़ाने के लिए कह रहा है।

मैंने विषयान्तर करते हुए कहा—आपकी चोटी-जनेऊ वगैरह जैसे यहाँ आकर ग़ायब हैं, चाहे आप योग पढ़ाते हों, वैसे ही मेरा हाल है! मेरी तबीयत होती है वहाँ तक मैं जात-पाँत नहीं मानता।

जो और बेसी को छोड़कर किस चक्कर में फँस गये, ऐसा लगा! बुढ़िया मिसेज़ विलसन की प्रश्नावली ही न ख़त्म हो। वे लगातार पूछती जा रही थीं:

—मिस्टर रामन, आप योग को झूठा न समझें। मेरे मृत पति इसके द्वारा दिखाई दिये।

—मिस्टर 'लक' ने मेरी अन्दर की आँखें खोल दीं।

—मिस्टर लक ऐसे चमत्कारी पुरुष हैं कि इनके इस टॉबेल-जैसे कन्धे पर

पड़े कपड़े के पल्ले की हवा लगते ही मुझे नींद लगने लगती है, और वांछित सपने आते हैं। आप भी ट्राई करें मिस्टर राम !

अब मुझ से रहा नहीं गया ! मैं उबल पड़ा—यह सब ढकोसला और फ्रॉड है मिसेज़ विल्सन !

श्री लक्ष्मण योगीजी बहुत ही बिगड़े; परशुराम की मुद्रा में चीखे—क्या कहा ? फ्रॉड ? आप और आपके पुरखे फ्रॉड हैं।

मैं इस तरह के अप्रत्याशित हमले के लिए तैयार नहीं था। सो यह सोच कर कि परदेश में और दूसरे के घर पर मैं क्यों लड़ूँ, मैं चुप बैठ गया। पर मिसेज़ विल्सन को बड़ा मज़ा आ रहा था। वे क्यों चुप रहने देतीं !

ये मिस्टर लक यहाँ 'योग' की क्लास चलाते हैं। वैसे यहाँ पढ़ने आये थे साइन्स। पर अब यहीं रहते हैं छह-सात साल से। यह कहते हैं कि इनके पास पढ़ने आने वाली बूढ़ी स्त्रियाँ, बूढ़े लोग ज्यादह हैं। यह इस मुल्क की बड़ी समस्या है। घर में इन बूढ़ों को स्थान नहीं। क्या करें ?

इसी बीच में योगी जी परम चिन्तन-मुद्रा में सोफ़ा पर विराजमान हो गये थे। लम्बे बाल उन्होंने कन्धे से पीछे हटा दिये थे। और नीचे शेरवानी के बटन खोल दिये थे। और कुछ मन्त्र-जाप जैसे बुदबुदा रहे थे।

मिसेज़ विल्सन ने, पता नहीं क्यों, पूछा—मिस्टर राम, मृत्यु के बाद क्या होता है ?

—मैं नहीं जानता।

—योगी तो कहते हैं कि फिर आदमी लौटकर आता है, किसी दूसरी शक्ल में। मुझे तो लगता है कि मिस्टर लक के रूप में मेरे मृत पति ही आ गये हैं। उनकी रूह कभी-कभी जब इनमें आ जाती है, तो मुझे बहुत ही प्यार से पुचकारते हैं।

योगी की आँखें विस्फारित हो गयीं। डाँटते हुए बोले—मैंने क्या कहा था—'ट्रान्स' की बात सब से कहने से उसका असर कम पड़ जाता है।

मैं हँसने लगा। मैंने डोरा से कहा—वापिस चलें।

मिसेज़ विल्सन ने चीनी ढंग की चाय बनायी। बहुत-सी 'कुकीज़' (बिस्किट) खाने को दिये। बड़ी ख़ातिरदारी की। पर बीच-बीच में ऐसा कोई शॉकिंग प्रश्न पूछ लेती थीं कि खाने का सब मज़ा किरकिरा हो जाता था। उन्होंने पूछा—

—क्या मुझे पति के साथ सती हो जाना चाहिए था, मिस्टर राम ?

—क्या गांधी अफीम खाते थे ?

—क्या योग से सेक्स की शक्ति बढ़ती है, या कम होती है ?

—क्या योगी मौत को जीत लेता है ?

ज़ाहिर था कि लक्ष्मणजी ने मिसेज़ विल्सन के दिमाग़ में सुविधापूर्वक कई तरह के भ्रम डाल दिये थे। और मिसेज़ विल्सन उन सब में सहज विश्वास करती थीं।

डोरा से रहा नहीं गया। उसने पूछा—लक्ष्मण के योग क्लास की फ़ीस क्या है?

लक्ष्मण बोले—ज़्यादह नहीं एक सिटिंग के पाँच डॉलर। कभी भी शुरू कर सकते हैं। उसमें शारीरिक कसरत या वर्जिश का बहुत हिस्सा होता है। प्राणायाम्, शीर्षासन वग़ैरह।

मिसेज़ विल्सन फिर हँसीं—ये योगी साहब तो फ़ीस बढ़ाते जाते हैं, जैसे-जैसे कैण्डीडेट की योग्यता बढ़ती जाये।

मेरे मन में हुआ था कि पूछूँ—पैसे की योगी को क्या ज़रूरत? वह तो भौतिकवाद के ख़िलाफ़ जिहाद बोलता है न? पर मेरे पहले ही डोरा ने और ढंग से पूछ लिया—क्या यह सब पैसा भारत में भेजा जाता है? योग की कोई यूनिवर्सिटी है क्या वहाँ?

अब लक्ष्मण चतुर्वेदी मौन तोड़कर बोले—नहीं। मैं जब यहाँ आया था तो फ़िज़िक्स पढ़ने। मैंने एम० एस-सी० किया। फिर कुछ दिन रिसर्च करके छोड़ दी। क्या रखा है भौतिक विज्ञान के विकास में? देखिए रूस ने स्पुतनिक छोड़कर आसमान में क्या प्राप्त कर लिया? उसकी आत्मा तो वैसी ही बर्बर जारशाही के ज़माने की है।

डोरा ने पूछा—आप रूस गये हैं?

लक्ष्मण योगी बोले—हाँ, इन छह सालों में एक बार भारत गया था तो लौटते हुए मॉस्को में कुछ दिन ठहरा था।

मिसेज़ विल्सन फिर हँसकर बोलीं—यह बताओ। कैसे तुम कहते थे कि भारत में रूस की नक़ल की जा रही है!

मुझे सामने बैठे देखकर शायद इतनी लम्बी-चौड़ी डींग हाँकने में लक्ष्मण हिचकिचाया। पर बोला—हाँ हम भी बड़े-बड़े कारख़ाने बना रहे हैं रूस की मदद से। जल्दी ही आगे बढ़ना चाहते हैं। चीन की देखा-देखी, होड़ाहोड़ी में पड़े हैं। पर मेरे गुरु ने कहा था यह राह यमलोक को जाती है। राह वह नहीं है।

डोरा ने पूछा—तो राह क्या भारत के लिए यह सही है कि वह हमारे अमरीका की नक़ल करे?

योगी फिर थोड़ा-सा मुसकरा कर द्वयर्थी भाषा में बोले—सही भी है, नहीं भी है। मैं राजनीति नहीं जानता। पर हाँ यह जरूर जानता हूँ कि भारत का भाग्य पश्चिम से बँधा है।

मैं अन्दर-अन्दर गुस्से से घुमड़ रहा था। इस लम्बे बालों वाले चन्दन-चर्चित ऊपर से नये—फिर भी विचारों में पुराणपन्थी, झूठे, दम्भी आदमी से मैं क्या-क्या बात करता? मैंने ऐसे कई 'योगी' (?) देखे थे, जो थोड़े-से संस्कृत और पुराण-ज्योतिष के ज्ञान की टुटपूँजी के सहारे अपनी दुकान सजाते रहते हैं—ये सब बातें अध्यात्म की बनाते हैं, पर होते हैं एकदम घोर भौतिकवादी। कंचन और कामिनी के लिए उनकी लार टपकती रहती है। यह द्विधा शायद भारतीय उच्चवर्णीय के मन में तब से शुरू हो गयी, जब जातिभेद सीमेण्ट की जकड़बन्दी की तरह हमारे बहते जीवन में रोड़ा बनकर अटक गया; जैसे शरीर की रक्त-वाहिनियों में कैन्सर का कीड़ा पड़ गया हो।

हम लोग लौटकर घर आये तब शाम हो गयी थी और अपने लॉन में डोरा की माँ बर्जीनियाँ स्मिथ फूलों के पौधे लगाने में व्यस्त थी। डोरा उसकी अकेली लड़की है। शायद इसीलिए माँ और बेटी में ख़ूब झगड़ा होता रहता है। माँ धार्मिक है, बेटी धर्म के नाम से चिढ़ती है। माँ को अपनी पुरानी जर्मन वंश-परम्परा पर अभिमान है। बेटी को 'जर्मन' नाम से कोफ़्त होती है। माँ के लिए जर्मनी लूथर का घर है, बड़े-बड़े दार्शनिकों का—काण्ट का और श्लेगेल का, बड़े-बड़े कवियों का—गोएटे और हाइने का, बड़े-बड़े संगीतज्ञों का—वाग्नेर का और बेटोफ़ेन का। पर बेटी के लिए 'जर्मन' शब्द के साथ-साथ न जाने क्यों नाज़ी, काले स्वस्तिक, फूत्कार करते हुए फौजी नागों की लपलपाती जिह्वाएँ, यहूदियों के साथ अत्याचार की दारुण-करुण कहानी, बुख़नवॉल्ड और आइकमैन और सब तरह की क्रूरताएँ सामने आती हैं। शायद यह इसलिए कि डोरा युनिवर्सिटी में पढ़ते हुए यहूदी लड़कियों के होस्टेल में रहती है। उसकी सहेलियाँ ऐसी हैं जो ईसाई नहीं हैं। शायद यह इसलिए हुआ है कि उसमें भीतर से कहीं फौजी, नियमित, बेपरवाह ज़िन्दगी के लिए घोर नकारात्मक आकर्षण है। शायद इसलिए हुआ हो कि बचपन से नानी और माँ के प्यूरिटन वातावरण ने उसके मन में विद्रोह पैदा कर दिया हो। शायद इसलिए हुआ हो कि उस का मित्र स्फीफ़ेन, जो कोरिया-युद्ध में दो साल रहकर आया, अभी भी उसे शादी का वचन नहीं दे रहा है, गो उसके साथ उसकी मैत्री कई वर्षों से धीरे-धीरे विकसित हो रही है। शायद···

मनुष्य के कर्म और वचन के पीछे कितने हेतु होते हैं—कितनी स्पष्ट-अस्पष्ट, चेतन-अचेतन कारण-परम्पराएँ। और हमारे दर्शन हैं कि आसानी से काले-गोरे में सारी दुनिया बाँट देना चाहते हैं। जैसे निकटतम कारण ही सब कारणों का कारण हो। क्या सिग्नल गिरने से रेलगाड़ी का आना-जाना जाता है पर सिग्नल का गिरना रेलगाड़ी के आने का कारण है—निमित्त कारण शायद हो। पूर्ण कारण नहीं है।

हम सब यहाँ निमित्त कारण हैं : मैं, डोरा, जो, वेसी, स्मिथ, वर्जीनिया, मिसेज़ विल्सन, योगी···सब । एक बड़ा प्रवाह है और हम सब उसमें बहते जा रहे हैं। कोई लकड़ी का बड़ा लट्ठा है, कोई छोटा, कोई टहनी, कोई फूल, कोई पत्ता । एक आदिम जंगल से हम सब तोड़े गये, काटे गये, और अब हम धीरे-धीरे फिर एक दूसरे अनजान जंगल की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

हो सकता है बन्दरगाह पर कोई हमें उठा ले—जहाजों में ढोकर ले जाये। हो सकता है किसी बड़े मकान की छत में जाकर हम 'फ़िक्स' हो जायें और टुकुर-टुकुर, त्रिशंकु की तरह अधर में लटके, नीचे के सब फ्लोअर-शो देखते रहें। रात-दिन, बिना थके, खुली आँखों, ऊब जायें। हो सकता है हमारा कोई टुकड़ा एक अज्ञात अफ्रीका का बेपढ़ा-लिखा कलाकार उठाकर ले जाये, उसे अपनी मोटी बसूले-जैसी खुरदुरी कटारी से काटे और उसमें कोई ऐसा अमर शिल्प बन जाये जो किसी आने वाले पाब्लो पिकासो की प्रेरणा का बाइस बने। हो सकता है कि सिर्फ़ टाल में पहुँचकर हमें बेचने के लिए रख दिया जाये, और टाल को आग लग जाये···

मैं लॉन के फूल, वर्जीनिया की लगन से फूलों की सेवा, और वह ढलती हुई साँझ देखता रहा। और सोचता रहा। डोरा कहीं अपनी सहेली के यहाँ किसी निमन्त्रण पर गयी थी। डोरा की माँ और मैं न जाने किन छोटी-छोटी बेकार की बातों पर बातें करते रहे। भारतीय स्त्रियों के घर के काम-धन्धे के बारे में वह पूछती थी। मैं कहाँ जानता था! मेरी माँ मरे कई साल बीत गये। और हमारा संयुक्त परिवार अब बिखर गया था। मद्रास में आकर सब अपने-अपने काम-धन्धे में लग गये थे। स्त्री की और क्या सार्थकता थी हमारे घरों में—सिवा चौका-चूल्हा, जच्चा-बच्चा और आदर्श कन्या, गृहिणी, माता होने के ? पर अगर वह ज़िन्दगी का पैटर्न पुराना, सामन्ती, मध्ययुगीन हो चुका तो क्या यह भी कोई ज़िन्दगी है! मिसेज़ विल्सन अपने एकाकीपन को योग से भरना चाहती है; कैलिफ़ोर्निया में कई ऐसे टूटे हुए और खण्डित परिवारों में गया हूँ—जेनी शराब से अपने दो परित्यक्त पतियों का और बच्चा न होने का सारा अभाव भरना चाहती थी—यह भी कोई जीवन-पद्धति है! प्रवाह में बिना मस्तूल के जहाज़ की तरह!

मेरे भीतर से कोई बार-बार प्रतिप्रश्न कर रहा था—क्या यह भी किसी के हाथ की बात है? शरद् की कई नायिकाएँ जो ज़िन्दगी जीती रहीं वह क्या उन्होंने माँगी थी, अपने हाथों अपने ऊपर ओढ़ ली थी। नहीं, नहीं—एक प्रवाह नहीं है, हम सब बहते हुए 'यथा काष्ठं च काष्ठं च' नहीं हैं।

मेरा मन और उदास हो आया। मैंने मिस्टर स्मिथ से बातें करनी शुरू कीं। वे अपनी पाइप सुलगाकर कुछ अपने व्यापार-सम्बन्धी मसलों में उलझे थे।

कहने लगे—मेरी यही एक चिन्ता है : लड़की डोरा । सयानी हो गयी । अब वह अपनी इच्छा से अपना जीवनसाथी चुने। तुम जानते हो यह बड़ा संगीन वक़्त होता है जीवन में—कभी-कभी एक ज़रा-सी ग़लती लड़की के समूचे जीवन को बरबाद कर देती है।

मैं क्या कहता । हाँ में हाँ भरता रहा । मैं बार-बार सोचता रहा कि रोटी-पानी, वस्त्र-आवास की सुविधाओं का नियोजन, यन्त्रों से और यन्त्र, और-और यन्त्र और उससे और-और पैसा, और पैसे से और-और व्यापार और सुविधाओं के चक्र से ही आदमी के सब प्रश्न नहीं सुलझ जाते।

सैनफ्रैन्सिस्को में मुझे चर्च का एक काला झाड़ू वाला मिला था, जो कविता भी लिखता था । उसने कैसी अच्छी कविता सुनायी थी :

"आओ ज़नाब, मोटी तोंद वाले श्रीमान् ।
आइए श्रीमती जी, कुत्ते के बजाय पति को साथ लायी हो, धन्यवाद !
पादरी जी ने आज हज़ामत बहुत अच्छी बनायी है ।
उनके गाल पर मक्खन का चाकू भी फिसल जायेगा ।
पर पहले मुझे झाड़ू लगा देने दो ।
यह मन्दिर की सफाई, बेंचों और बीच के रास्ते और डायस तक
ही नहीं है
मैं आपके दिमाग़ को बुहारना चाहता हूँ
बड़े पुराने मकड़ी के जाले, बड़ी पुरानी पत्रिकाओं की फ़ाइलें,
बड़ी सड़ाँध यहाँ जमा है
आइए पहले अपने छाती के बटन खोलकर
मेरे सामने अपने दिल उघाड़ो
मैं झाड़ू देना चाहता हूँ···"

कल फिर जो और बेसी घर पर आयेंगे, तब और उनके संगीत के बारे में पूछूँगा । पूछूँगा कि क्या भारत का भी कोई संगीत सुना है, पूछूँगा···

जिज्ञासा का अन्त नहीं है । पर सब प्रश्नों के सब उत्तर आदमी के पास नहीं हैं । शायद किसी के पास भी नहीं हैं—

तीन

आज एक कविता हाथ पड़ गयी । नीग्रो कवि फ़ैण्टन जॉनसन की है और उसमें बेहद खीझ और ज़ोर है।

थकान

"मैं काम करते-करते थक गया हूँ : मैं दूसरे की
सभ्यता का निर्माण करते-करते थक गया हूँ;
अब मैं आराम करूँगा, मेरी प्यारी जेन !
अब मैं सेलून में जाऊँगा, एक-आध बोतल पिऊँगा,
दो-चार बाजियाँ खेलूँगा, और किसी शराब के
पीपे पर सो जाऊँगा।
और तुम मेरी रानी ! कोई परवाह नहीं, अपने बूढ़े मालिक
को सड़ने दो, अपने गोरे मालिक के कपड़ों
को चिथड़ा हो जाने दो, और गोरे लोगों
के पुराने गिर्जाघरों को जहन्नुम की अथाह खाइयों
में डूब जाने दो।
और तुम ठाठ से अपने दिन बिताओ। भूल जाओ कि तुम्हारा
विवाह मुझसे हुआ है। ठाठ से अपनी रातें बिताओ
शराब से चूर होकर।
अपने बच्चों को नदी में फेंक दो : इस सभ्यता ने हमें
ज़रूरत से ज़्यादा बच्चे दे डाले हैं। आख़िर
बड़े होकर अपने को घिनौने काले हब्शी देखने से तो
बचपन में ही मर जाना बेहतर है।
सितारों को आसमान से नोचकर फेंक दो। इन्हीं कम्बख़्तों ने
हमारी क़िस्मत बनायी है।
इस गोरी सभ्यता को देखकर मुझे उबकाई आती है।"

मैं कविता पढ़कर बहुत देर तक उदास बैठा रहा ? गुस्से का, हिंसा का, प्रतिशोध का जीवन में स्थान है; पर क्या यह कभी सम्भव है कि एक सामूहिक गुनाह को सामूहिक ढंग से बदला लेकर धोया जा सकेगा ? क्या इतिहास में ऐसी सब मिसालें आखिर धरती को बंजर और वीरान रेगिस्तान बनाकर ही नहीं छोड़ गयीं।

लेकिन यह सब तर्क और विवेक मैं उस ग़ुलाम माँ को कैसे दूँ जिसकी छाती से चिपटे बच्चे को जबरदस्ती छीनकर आग में झोंक दिया जाता हो; मैं उस नीग्रो पुरुष को कैसे दूँ जिसके भाई को चुपचाप आधी रात सिर से पैर तक सफ़ेद चादरों में लिपटे कू-क्लुस-क्लैन वाले पेड़ पर ज़िन्दा फाँसी दे देते हैं, हाथ-पैर की मुश्कें बाँधकर, मुँह में कपड़ा ठूंसकर; मैं उन सब अपने को 'सभ्य' कहलाने वाले समूहों को कैसे समझा दूँ जिन्होंने असभ्यों को सुधारने, अपने माफ़िक़ बनाने का ठेका ले लिया है···

ओ, डायर अँगरेज़ ने यही कहकर भारत में जलियाँवाला बाग़ में गोली से भुनवा दिया था बाग़ियों को; यही कहकर गोआ में पुर्तगालियों ने इन्क्वीजीशन के ढंग पर क़त्लेआम कराया; यही कहकर अफ्रीका में युरॅप की ताकतें नंगे शस्त्रों के सहारे सभ्यता और संस्कृति फैलाती रहीं, यही कहकर गये महायुद्ध में हिटलर ने 'आर्य-श्रेष्ठता' सिद्ध की; यही कहकर चीनी फौजों ने तिब्बत में क़त्लेआम किया—

क्या अधिकार है किसी भी गिरोह को दूसरे पर अपने रहन-सहन का तरीक़ा 'सभ्यता' कहकर थोपने का ? क्या सभ्य है और क्या असभ्य, कौन तय करे ?

तो क्या दुनिया की प्रगति रुक जाये ?

प्रगति क्या ? जो बड़ी भारी जमात को मार कर-मिटा कर आगे बढ़े, क्या वही 'सभ्य' है ?

मैं ऐसे सब प्रश्नों में उलझ रहा था कि डोरा आ गयी—आज हमने जो और बेसी को बुलाया है। शाम को मनोरंजन रहे इसलिए मिसेज़ विल्सन और योगी को भी बुला लिया है।

मेरे माथे पर योगी का नाम सुनकर कुछ तेवर-से पड़ गये। मैंने कहा—उस बोर को क्यों बुलाया ?

—जो लोग दुनिया के सवालों का सस्ता शाब्दिक नुस्खा बनाते हैं उनको हमेशा याद रखना अच्छा होता है। रोम में दावतों में एक हड्डियों का ढाँचा भी बीच-बीच में दिखलाया जाता था। भगवान् की याद नहीं तो कैसे आयेगी ?

उसके व्यंग्य पर मुझे भी बरबस हँसी आ गयी।

मैं मन में सोच रहा था—यह डोरा ! इसकी उम्र कोई बहुत ज्यादह नहीं होगी, पर कितनी समझदार है यह। बुद्धि का विकास तो काफ़ी कर लिया गया है, इस महादेश में। शायद कहीं यह शारीरिक सुख-सुविधा और बुद्धि का विकास, मन के सूक्ष्म—तरल भावना-पक्ष की क़ीमत चुका कर तो नहीं हुआ है ?

मैं चाहता था जो से जम कर बातें करता, पर आज की पार्टी में वह शायद सम्भव नहीं। मिसेज़ विल्सन चुप बैठने वाली औरत नहीं, और योगी भी हर बात में कुछ-न-कुछ ज़रूर कहे बिना नहीं मानेंगे। सो मैंने तय किया बातों का सिलसिला जैसे चले उसे चलने दिया जाये। एक भारतीय पर ग़ुस्सा होकर भी मैं अकेला क्या कर लूंगा। यहाँ पाँच हज़ार विद्यार्थी भारत से आये हुए हैं, उनमें सैकड़ों तरह के लोग हैं : योगी भी, आदिवासी भी, हरिजन भी, कट्टर ब्राह्मण भी, नास्तिक भी, भारत की संस्कृति से, चिपटे हुए और कई तो भारत को अफ्रीका-जैसा ही एक जंगली पिछड़ा हुआ दुनिया का हिस्सा मानने वाले; कई हैं जो

मैं चुप रहा। जानता हूँ भारत में भी यह शुरू हो गया है, मद्रास आर्ट स्कूल में कुछ मेरे मित्र पढ़ते थे। वहाँ भी यह बहस जारी थी। आर्ट-स्कूल के प्रिन्सिपल देवीप्रसाद रॉय-चौधरी फिगरेटिव कला के पोषक थे। नये लोग नये मुहावरे में, रंगों से बात करना चाहते थे। क्या सभ्यता के विकास का अर्थ ही यह है कि हर व्यक्ति को स्वतन्त्रता हो कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता चला जाये ? व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की कोई सीमा नहीं है क्या ? यों एक दिन हम अराजकतावादी स्थिति में पहुँच जायेंगे। और फिर जंगल का कानून चलने लगेगा।

क्या हम सचमुच एक बड़े जंगल से राह भटक कर दूसरे बड़े जंगल में जा रहे हैं ? हम सब क्या सचमुच कहीं-न-कहीं आदिवासी ही हैं ? कम-अधिक प्रमाण में—भारतीय एकदम शिकार पर नहीं झपटता, शायद अमरीकी या पश्चिम वाला शिकार का शौकीन है। और निरन्तर यह हाथ लगाता रहा है। यह बहुत दर्दीला अनुभव कि जिसका शिकार किया जा रहा है, वह हम ख़ुद ही है।

मैंने पूछा—डोरा, यह बताओ, मैंने इतने चित्र-संग्रहालय देखे। बोस्टन में, वाशिंगटन में, कैलिफोर्निया में। तुम्हारे यहाँ चित्रों में नीग्रो का चित्रण बहुत कम हुआ है। एक जगह एक नौकरानी किसी चित्र में दिखाई दी थी। और तो सब जैसे गोरी ही दुनिया है, गोरा ही विश्व है इन चित्रों का।

डोरा ने हामी भरी। उसने इस तरह से नहीं सोचा था। हम आजकल चित्रों को विषय-वस्तु की दृष्टि से नहीं देखा करते। चित्र हमारे लिए रूप-आकार है, रंगों की रचना है, एक मनःस्थिति का बाह्य प्रतिबिम्ब है—पर उसमें हम जातिभेद नहीं देखना चाहते। वह ठीक भी नहीं। कला मनुष्यों के भेद-भावों पर नहीं जीती।

—पर उनसे बिलकुल उदासीन भी तो नहीं रह सकती ?

हम म्यूज़ियम से लौटे तो दिन चढ़ आया था। और दोपहर का खाना खा कर हम सुस्ताने ही वाले थे कि एक छोटा-सा नीग्रो लड़का हाँफता हुआ हमारे दरवाज़े पर दस्तक दे रहा था।

हमने पूछा—क्या बात है ?

उसने कहा—मेरा नाम अब्राहम है। मैं उसी स्ट्रीट से आ रहा हूँ जहाँ जो रहता है। आज जो ने बेसी को बुरी तरह पीटा और कमरे में बन्द कर दिया है। अड़ोस-पड़ोस वाले बीच बचाव करने गये तो उन्हें भी वह मारने दौड़ा।

जो ने ! डोरा और मैंने अचरज से कहा।

—हाँ, आपकी बात वो मानते हैं। चलिए बेसी को छुड़ाइए। वरना वह उसका न जाने क्या कर डाले।

हमारे लिए यह स्थिति अविश्वसनीय थी। इतना भला जो, इतना बड़ा

संगीतकार-कलाकार, इतनी अच्छी दर्शन और धर्म की बातें करने वाला, इतने बरसों से बेसी को पाल-पोस कर बड़ा करने वाला जो, सहसा इतना हिंसक कैसे हो उठा ?

डोरा ने कहा—अच्छा चलो अब्राहम, हम आते हैं ।

फिर डोरा की और मेरी राह में बहस हुई। डोरा का कहना था—जरूर बेसी का कोई अपराध होगा ।

मैंने कहा—नहीं जो की कोई दमित जिघांसा उभरी है। खैर बहस करना फिज़ूल था । अगर कुछ मदद हो सकती हो तो की जाये, इसी भावना से हम चलने को हुए ।

कि स्मिथ साहब ने टोका—कहाँ जा रहे हो ?

—जो के यहाँ ।

—इतने दोपहर गये । वह सो रहा होगा ।

—नहीं, उसने बेसी को मार-पीट कर कमरे में बन्द कर रखा है। वह उसके प्राण ले लेगा ऐसी धमकी दे रहा है । हमें जाना ही चाहिए ।

स्मिथ ने बहुत निराश स्वर में कहा—कोई किसी की जान लेने पर यों ही नहीं तुल जाता। ज़रूर बेसी से कोई बड़ा गुनाह हुआ है। कल शाम तक दोनों कैसे प्रेम से यहाँ गाने गा रहे थे ।

श्रीमती वर्जीनिया स्मिथ ने एक और परिशिष्ट जोड़ दिया—हमने तो जो के पुराने दोस्तों से सुना है कि उसके घराने में ही पागलपन है। बीच-बीच में ऐसे झटके आते हैं तो वह हफ्तों तक किसी से बोलता नहीं ।

स्मिथ—न बोलना अच्छा है। पर यह मार-पीट बहुत बुरी है। ठहरो हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं। पता नहीं ज़रूरत पड़ जाये ।

राह में स्मिथ साहब ने शहर के बड़े पुलिस अफसर को भी इत्तिला दे दी । पुलिस अफसर जेरी का कहना था कि यह उनका घरेलू मामला है, उसमें हमें दस्तन्दाज़ी नहीं करना चाहिए ।

—पर देखें तो क्या हुआ है—

—मेरी ज़रूरत पड़े तो रिंग कर दें—पुलिस अफसर जेरी ने कहा—मैं आप के साथ अभी नहीं चलूँगा ।

पुलिस अफसर ने कुछ ऐसे ढंग से कहा जैसे यह रोज़ की बात हो और ऐसी घटना पहले भी कई बार हो चुकी हो।

हम वहाँ गये तो विचित्र दृश्य था । अन्दर के कमरे का दरवाज़ा बन्द था। और जो उसे ज़ोर-ज़ोर से पीट रहा था । उस कमरे का लैच भीतर से बन्द कर

लिया गया था। और कोई आवाज़ नहीं आ रही थी। शायद बेसी उसमें बन्द थी।

जो चीख रहा था—मर गयी क्या ? आत्महत्या कर ली या कानों में ऐसिड डाल लिया तूने ? खोलेगी या मैं तेरा यह गिटार तोड़कर चूर-चूर कर डालूँ ? बोल ?

नथुने फूले, आँखें लहू-लुहान, बाल बिखरे-से, पेशानी पर पसीना, जो ने मैले कपड़े पहन रखे थे और उसने चीख कर जैसे सारा मुहल्ला जमा कर लिया था। बीच-बीच में मुहल्ले वालों को भी गालियाँ दे रहा था—क्या तमाशा देख रहे हो ? यहाँ मेरी भांजी बेसी कोई स्ट्रिप-टीज़ (नंगा नाच) नहीं कर रही है। वही देखने के लिए न तुम लोगों ने अपने खास नाइटक्लब बना रखे हैं ! क्यों, यहाँ कोई चौकीदारी करने के लिए तुम्हें मुफ्त रखा नहीं गया है अब्राहम।…… और आप मेटकाफ़ साहब (विद्रूप से) आपको कब से काले लोगों में इतनी दिल-चस्पी होने लगी ? आप तो उन्हीं लोगों में से हो न जिन्होंने मेरी रिपोर्ट पुलिस को की थी कि मैं खतरनाक आदमी हूँ ? मैं ऐण्टी-अमेरिकन हूँ ? क्यों जनाब। अच्छा बुढ़िया एलिजाबेथ भी आ गयी—आपको भी सौ घाट का पानी पिये बिना चैन नहीं है, क्यों ?

किसी ने भीड़ में से आवाज़ दी—जो ! ज़्यादह पी गये हो क्या ? बेचारी भोली-भाली, सीधी-सादी बेसी को क्या मार डालने का इरादा है ?

जो अपने होश में नहीं था। क्रोध ने उसे पागल कर दिया था—हाँ, मैं बेसी को मार डालूँगा। उसकी बोटी-बोटी चबाकर खा जाऊँगा। तुम्हें उससे मतलब ? यह मेरा जाती-घरेलू मामला है। बेसी मेरी आश्रिता है। उम्र में बड़ी होने से क्या होता है ? उसने ऐसा काम किया है जो मुझे नरक में भी चैन से रहने नहीं देगा। यह सती-साध्वी, भोली-भाली लड़की ! क्यों मेरी ज़बान खुलवाते हो ? जाओ यहाँ से, सब चले जाओ, वरना मैं तुम सब के दिमाग़ दुरुस्त कर दूँगा। क्या समझ रखा है तुमने !

और जो ने एक कुरसी फेंक कर ज़ीने की ओर दे मारी। लोग हड़बड़ा कर सीढ़ी से नीचे उतर आये।

सिर्फ अब्राहम खड़ा रहा। वह आगे बढ़ा—मुझे मार डालो जो, पर बेसी को क्यों तंग करते हो। वह इतनी अच्छी है। मुझे अपनी रोटी में से बचा हुआ हिस्सा देती रही है।

बुढ़िया कैथरीन ने काँपते हुए स्वर में नीचे से पुकारा—जो, तुम्हारे कोई माँ नहीं थी क्या ? सुनो, मेरी बात सुनो—आज उसे माफ़ कर दो।

—बेसी को अपने रास्ते जाने का हक़ है। यह कौन होता है उसके शरीर को यों कमरे में बन्द रखने वाला ?

जो फिर दरवाज़े पर ज़ोर-ज़ोर से पीट कर कहने लगा—बेसी, खोल ! आज मैं तुझे जिन्दा रहने नहीं दे सकता। इन्हीं हाथों से तेरा गला घोंट दूँगा। इसी

गले के जादू पर वह नालायक जेम्स तुझ पर आसक्त हुआ था न ? इन्हीं हाथों से मैं तेरे ये काले घुँघराले बाल नोच डालूँगा। इन्हें ही देखकर वह सूअर का बच्चा जेम्स तेरी ओर आकृष्ट हुआ न ? निकल तो बाहर; मैं देखता हूँ अब कैसे तेरा वह सुन्दर रेशमी लाल स्कार्फ तेरे ही गले का फन्दा बन जाता है। आज मेरे घर में पिस्तौल न हुआ। कहीं तो मैं अभी यह ताला तोड़ देता, फायर करके।

और जो उस बन्द कपाट पर अपना माथा पीट-पीटकर लहूलुहान करने लगा।

यह सब हमने देखा। और डोरा ने हिम्मत की—वह अन्दर गयी। मैं और मिस्टर स्मिथ भी। हमने जाकर उसके हाथ पीछे से पकड़ लिये। वह गालियाँ बके उसके पहले उसके मुँह पर मैंने हाथ रखा। और बहुत सौम्य भाव से कहा—

जो, रिलैक्स (आराम) करो, तुम्हें आराम की ज़रूरत है !

स्मिथ साहब ने एक गोली दी और एक गिलास पानी लाने के लिए अब्राहम से कहा। आराम कुरसी पर बैठ कर बच्चे की तरह जो सब कुछ करता रहा, जो कहा गया था।

फिर वह फूट-फूट कर रोने लगा। ज़ोर-ज़ोर से हिचकियों-सिसकियों का तार बँध गया। वह शब्द नहीं पा रहा था।

डोरा दरवाजे पर जाकर बोली—बेसी, मैं डोरा, स्मिथ की लड़की। दरवाज़ा खोलो। हम तुम्हें अपने घर ले जाने के लिए आये हैं। जो से मत डरो। हम बहुत से लोग हैं।

पर अन्दर से कोई ध्वनि नहीं आ रही थी।

यह भी एक बड़ी समस्या थी।

अब्राहम इस बीच में पता नहीं कैसे वेण्टीलेटर के सहारे ऊपर खिड़की खोल कर अन्दर गया और उसने दरवाजा खोल दिया। अन्दर एक विचित्र दृश्य था। एक पलंग के पास बेसी अस्त-व्यस्त पड़ी थी। मार-मार कर उसे इस तरह कर दिया था कि वह बेहोश-सी पड़ी थी। उसकी बन्द आँखों से आँसू झर रहे थे। साँस फूल रही थी। बदन पर कपड़े तार-तार हो रहे थे। खूब मार पड़ी हो ऐसा लगता था। जगह-जगह नील उभर आये थे। क्रोध के आवेश में जो ने चाहे जिस चीज़ से उसे पीटा था, जो भी हाथ लग गयी। छड़ी, बूट, ड्रम-स्टिक सब आस-पास बिखरे थे। हाथापाई से तंग आकर उसने किवाड़ भीतर से लगा लिया था।

पर कारण स्पष्ट नहीं था कि जो ने ऐसा क्यों किया।

उसके क्रोध से बिखरे वाक्यों में कहीं जेम्स का नाम बार-बार आता था।

कौन था यह जेम्स ?

हमने मुहल्ले के अड़ोस-पड़ोस के तमाशाइयों को भगा दिया। अब्राहम को

कहा डॉक्टर को बुला लाये। फ़ोन किया पर कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। शायद गुस्से में जो ने फोन की रस्सी भी तोड़ डाली थी। जिससे बेसी कहीं किसी से मदद नहीं माँग सके।

जो को जो गोली दी गयी थी उससे उसे नींद आ गयी। पर बेसी की बेहोशी दूर करके उसे होश में लाना था।

मैं सोचता रह गया—कब नदी में बाढ़ आ जाये? कब पेड़ अचकचा कर टूट पड़े? कब चट्टान खिसक कर सारे पहाड़ में ध्वनियों का एक पूरा 'चेन-रिऐक्शन' पैदा कर दे? कब आदमी में प्रसुप्त पशु जाग उठे? कब, कौन जानता है कब?

डॉक्टर आये। दोनों धीरे-धीरे होश में लाये गये। जो की नज़र से बेसी को दूर कर दिया गया। नहीं तो वह फिर तमककर ताव खाये तो!

दोनों ने अपनी अलग-अलग कहानियाँ सुनायीं, वे एक ही डाल को दो पहलुओं से देखने वाले दो अन्धे सरदारों से भिन्न नहीं थीं।

पाँच

जो जब जाग उठा तो धीमे-धीमे कराहते हुए बोला—मैं कहाँ हूँ? क्या कर रहा हूँ? मेरा त्रोम्बोन और सेक्साफ़ोन तो सुरक्षित है? (एक फीकी हँसी हँस कर) मैं उन्हें तोड़ दे रहा था। पता नहीं कैसा बुरा सपना मैंने देखा। मैं अब सब भूल गया हूँ!···

थोड़ी देर सिर दोनों हाथों में पकड़ कर वह दबाता रहा मानो बहुत तीव्र वेदना वहाँ हो रही हो। फिर वह एकदम फूट-फूटकर रोने लगा—तुम जानते नहीं इण्डियन! मैं अपनी बहन को कितना प्यार करता था। वह पागल हो गयी। वह शिकागो के मेण्टल हॉस्पिटल से भाग कर चली गयी। पता नहीं कहाँ है। यह उसकी इकलौती लड़की बेसी! इसे मैंने बचपन से पाला-पोसा। ऐसी भी रातें बितायी हैं कि मैं ठण्ड से ठिठुरता रहा हूँ। मेरे सारे ऊनी कपड़े—थे ही कितने!—बेसी को उढ़ाये हैं। मैं हफ़्तों एक बार राइस-बाउल (एक कटोरा चावल और सूप) खाकर रहा हूँ और अपनी इस भांजी को बड़ा करने के लिए मैंने चोरी की है। डोरा! चोरी—मैंने क्या-क्या नहीं किया? पुराणों में कहानियाँ आती हैं, हरक्यूलीस की। मैंने वैसे ही सब काम किये हैं!···सिर्फ इस मोमबत्ती की काँपती हुई लौ को बचाये रखने के लिए मैंने ज़माने का अँधेरा सहा, ज़माने की आँधियाँ अपने ऊपर झेल लीं।

वह रुक गया। पानी का गिलास उठाकर एक घूँट पी और अटक-अटककर

बोला—पर आज पता चला। दुनिया में स्त्री से बड़ी अकृतज्ञ, बेमुरौवत, नाशुक्री चीज़ और कोई नहीं होती। मैंने दूसरी बार ठोकर खायी। मैंने पहली बार न्यूयॉर्क में बीस साल पहले मार्था के हाथों वह ठोकर खायी थी। उसने मुझे उभारा था—मेरे जीवन में अनायास चली आयी। तब गोरे लोग बहुत कम सहानुभूति रखते थे कालों के प्रति। और यह लड़की, मेरे गाने में रस लेने वाली लड़की मेरे क़रीब आयी। तब मैं नौजवान था। मैंने सोचा, सपनों के भी पाँव हो सकते हैं। मार्था से मेरी मुलाकात एक शनीचर की रात को कॅन्सर्ट के बाद हुई। वह बैले सीख रही थी। युरॅप में युद्ध के ड्रम तब बजने शुरू हुए थे। उसे बड़ा चाव था कभी रूस जाये और पावलोवा का नाच देखे। मैंने धोखा खाया, यह शुरू-शुरू में समझ में नहीं आया।

मार्था वेश्या-पुत्री थी यह मुझे मालूम नहीं था। वह अमीर थी, सुन्दरी थी। उसमें काले लोगों के प्रति कितनी करुणा उमड़ी पड़ती थी। पर वह सब नाटक था। उसकी माँ फ्रेंच थी, और फ्रांस के लोग ऊपर से कुछ और दिखाने में कुशल होते हैं।

उसने मुझे वचन दिये। कहा कि दुनिया में मेरे सिवा उसका और कौन है? और वह मेरे पास रहने लगी। स्त्री एक मोहिनी है, मिस्टर स्मिथ। आप नहीं जानते, जो हमेशा एकाकीपन से भीतर घुलता रहता है, उस कलाकार के लिए स्त्री का कितना और क्या मूल्य होता है?

एक रात को हम ग्रीनिच विलेज में एक काफ़े में बैठे थे। वह बोली—जो तुम से एक बात पूछूं?

—कहो।

—दुनिया में तुम्हें सबसे ज़्यादह क्या प्यारा है?

—तुम।

—नहीं; मुझे छोड़कर क्या प्यारा है?

—संगीत।

—तो तुम मेरे लिए उसे छोड़ सकते हो? अगर कल तुम गूँगे हो जाओ, या तुम्हारे हाथ कट जायें तो?

—तो क्या होगा? वह ज़िन्दा मौत होगी।

—और मैं अगर तुम्हारे पास न रहूँ तो?

—वह भी एक ज़िन्दा मौत होगी, मार्था!

—यह निरी भावुकता है, जो।

—कैसे?

—चूँकि ऐसी चीज़ों का इम्तिहान नहीं लिया जा सकता। मौत की परीक्षा कैसे हो सकती है?

—कई ले चुके हैं।

—और कई उस पार सही-सलामत पहुँच नहीं सके हैं।

—ऐसी पहेलियाँ क्यों सुलझवा रही हो मार्था ?

—मानो कि कल ही 'जो' चर्च में जाकर विवाह घोषित करने की बात कर रहे हों। इतनी उतावली न करो। कुछ रुक जाओ। अगले महीने सही।

—मैं रुक सकता हूँ। पर कारण तो जानूँ ?

—मेरे एक अमीर अंकल कैनाडा से आ रहे हैं। उनसे भी सलाह कर लूँगी। कुछ रुपया भी उनसे मिल जायेगा। जानते हो मेरा कज़िन जेम्स भी उनके साथ आ रहा है।

—क्या करता है वह ?

—अभी कुछ नहीं। पढ़ता है और आवारागर्दी करता है।

—क्या उसे भी गाने से शौक है ?

—नाटक से है। वह बहुत अच्छी ऐक्टिंग करता है।

—अच्छा, तुम्हारी मरज़ी।

ग्रीनिच विलेज का वह काफे अब गिर-गिरा गया। उस ज़माने में वहाँ बड़ी रौनक थी। ग़रीब नीग्रो भी वहाँ जाकर अपना दिल बहला सकते थे। अब तो विलेज विलेज नहीं रहा, शहर का उप-नगर, एक एक्स्टेन्शन बन गया है—एक ऐपेण्डेज।

खैर मैंने मार्था को मोहलत दी।

और एक दिन मार्था मेरे जीवन के भरे हुए, फेनिल मद्यपात्र को हलके झटके से ठुकरा कर कहीं चली गयी। पता नहीं चला। उसका वह कनाडा वाला अमीर अंकल सिर्फ एक ढकोसला था, सिर्फ एक बहाना। उसके लिए उन दो-तीन वर्षों में मैंने क्या नहीं किया ? अपनी सारी कला, अपना सारा पैसा, अपनी प्रतिष्ठा की बाज़ी मैंने लगा दी थी। पर दाँव खाली गया।

बाद में किसी से सुना था मार्था केनाडा में किसी नाच-गानघर में नौकरी करती है। किसी ने कहा—वह अपनी माँ का ही पेशा आगे चलाती है। पर क्यों उसने मेरे साथ यह मज़ाक किया ?

तब से मैं स्त्रीमात्र से सशंक हो गया। मैंने फिर विवाह नहीं किया। और निश्चय किया कि स्त्रियों से सम्बन्ध भी रखूँगा तो अपनी ही प्रजाति की काली स्त्रियों से, गोरी जाति का कोई भरोसा नहीं। डोरा, मुझे माफ कर दो—पर गोरी जाति की स्त्रियों का हृदय भेड़िये का-सा होता है।

मेरे मन में बहुत पहले पढ़ी हुई पुरूरवा की कहानी उभरी। उर्वशी को भी वहाँ वृक-हृदया कहा गया है। यह सुन्दर संगमरमर-जैसी देह के भीतर भी क्या दिल इतना पत्थर-जैसा होता है ? क्या नारी की चमकीली काली आँखों के

भीतर कहीं ऐसी पाताल-धारा है जो आखिर कहीं नहीं पर नरक को जाने वाली स्टिक्स नदी की ही उपधारा होती है? क्या हम कोमल "पंखुरी इक जैसी गुलाब की है" जैसे संगीतमय अधरों के पीछे सिर्फ एक बहुत बड़ा नकार लिखा रहता है।

सच कहता हूँ मार्था थी तो मुझे ईश्वर पर विश्वास था। वह चली गयी और मैं नास्तिक बन गया। लोग कहते हैं मेरे संगीत में दर्द बढ़ गया। लोग कहते हैं मैं और सच्चा आदमी बनकर निखर आया। लोग कहते हैं मैंने हज़ारों डॉलर कमाये और अच्छे कामों को दे दिये—हमारी रंगीन जाति की भलाई के कामों में। पर यह सब बाहरी बातें हैं।

आज प्रतिष्ठा है, नाम है, एक-एक जाज़-सेशन से हज़ारों डॉलर कमा सकता हूँ। पर यह सब ऊपर का है। जैसे कोई बड़ी इमारत हो, ख़ूबसूरत, रंगीन काँचों से जड़ी, और उसके भीतर कोई नहीं हो—सिर्फ एक खोखला तलघर हो और वहाँ से सिर्फ एक गुंजार उठ रही हो—"आदमी, भरोसा मत कर इस इमारत का—यह ज्वालामुखी के मुँह पर बनी है।" मेरा भी कुछ-कुछ यही हाल हुआ।

"धन नाई, मान नाई, शुधू भालोबाशा।"

मेरे मन में यह पंक्तियाँ कौंध गयीं। टैगोर के अपने शब्दों में यह गान सुना था—"धन नहीं, मान नहीं, केवल प्रेम चाहिए। यही मेरे मन में आशा है।"

जो कहता जा रहा था—उसी मार्था का वह नकली कज़िन था, जो भी रहा हो वह जैम्स। अब आगे मुझ से नहीं कहा जायेगा—

जो फूट-फूट कर रोने लगा।

बाइबिल में एक कहानी है—फिजूल खर्च करने वाले आवारा लड़के के लौटने की। बाप उसे वापस ले लेता है। यह मेरी भांजी, बेसी, इसी में मैंने अपनी सब आस लगा दी थी। यह मेरी जीवन-सहारा थी। इसी को गाना सिखाने के लिए मैंने कैसी-कैसी यात्राएँ कीं। तब फ़िलहार्मोनिक न्यूयार्क में सुनना आसान नहीं था। एक हफ्ते हम पॉपकॉर्न (खीलें) चबा कर रहे—पर बेसी चाहती है उसकी बात पूरी हो।

बेसी को एक मिक चाहिए था। मैंने युरॅप की यात्रा का कॉण्ट्रैक्ट किया था—रद्द कर दिया। किराये के जुटाये पैसे बेसी के 'मिक' पर लगा दिया। ऐसी युरॅप-यात्राएँ ज़िन्दगी में और हो जायेंगी। अब बुढ़ापे में हमें वहाँ जाकर क्या भाड़ झोंकना है? इटली में हमारे दोस्त आर्टुर का बड़ा सम्मान हुआ। एक नीग्रो गायक का हुआ यानी हमारा हो गया! पर वही बेसी, वही बेसी!

आज मैंने उससे क्या भयानक खबर सुनी—वह माँ बनने वाली है। जैम्स से उसे बच्चा होगा!

मैंने लाख बार बेसी से कहा था—गोरे लड़के से भूल कर प्रेम मत

करना। वह भाग जायेगा। वह कभी स्थिर नहीं हो सकता। और जो हमारे घर में आज तक नहीं हुआ अब होगा ? एक म्यूलटो पैदा होगा—और उसका आगे क्या भविष्य है? खच्चरों का भी कोई भविष्य होता है, सिवा बोझा ढोने के?

मैंने शान्तिपूर्वक कहा—उस बच्चे को जन्म मत लेने दो। उसे जनमने से पहले ही मार डालो। मेरे घर में यह नहीं हो सकता। गोरे के साथ यही सलूक होना चाहिए। उस पर मुकदमा चलाओ—बिना शादी के उसने तुझ पर ज़बरदस्ती की !

पर मेरे आश्चर्य और चौंकने का ठिकाना नहीं रहा जब बेसी, मेरे ही आँसुओं पर पली बेसी बोली—"मैं जैम्स से प्रेम करती हूँ। मैं ऐसा काम नहीं करूँगी। मैं उसके साथ भाग जाऊँगी।"

अब फिर जो क्रोध से उन्मत्त होकर हिस्टीरिया की-सी स्थिति में उछल-उछल पड़ने वाला था कि मिस्टर स्मिथ ने शान्त किया—

जो, आप बहुत भावुक हैं। और इस सदी में रहने लायक नहीं हैं। आप जानते हैं आजकल के नौजवान हवाई जहाज़ लेकर चाँद-सितारों को आँख मारते हुए चल देते हैं। वह हमारे जमाने की बात छोड़ दीजिए जब लड़कियाँ और लड़के काफी इधर-उधर देखकर प्रेम के जंगल में पैर रखते थे। अब तो मामला ही दूसरा है। अब हमारी यह लड़की डोरा है। कल यह किसी नीग्रो का हाथ पकड़कर भाग ही जाये तो आप क्या कर लेंगे ? मैं ज़्यादह से ज़्यादह यह कहूँगा कि मेरी फैक्टरी के शेअर का उत्तराधिकार डोरोथी स्मिथ को न दिया जाये। गो इसका वकील 'स्त्रियों के कानूनी अधिकारों में संशोधन सन् फलाँ-फलाँ, उपनियम फलाँ-फलाँ के हिसाब से' उसे छीन भी सकता है। सो जो, टेक इट ईज़ी। अब हमारे हाथ नहीं रहे, न हमारे बच्चे, न हमारे पैसे, न हमारी इज़्ज़तें— वह तो कभी की मैंने सेण्ट लुई नदी में डुबो दी थी।

मैं मिस्टर स्मिथ की बहुत खरी-खरी उपयुक्ततावादी भावुकता से एकदम दूर बात सुनकर हँस पड़ा। जो भी कुछ प्रकृतिस्थ हुआ।

—मेरी शिकायत यह नहीं है स्मिथ साहब कि मेरी भांजी बेसी ने प्रेम क्यों किया ? वह ज़रूर प्रेम करती—किसी से भी, मैं कहता हूँ गरीब से गरीब नीग्रो से करती। पर यह गोरे लोग और उनमें भी यह शोहदा, उल्लू का पट्ठा जैम्स ! वह सिर्फ गोरा-चिट्टा है। मैंने उसे नाटक में देखा है। वह अयागो है। वह बदमाश है। वह मेरी भांजी बेसी की ज़िन्दगी का कोरमा बना देगा, मिस्टर स्मिथ !

कौन किसकी ज़िन्दगी को क्या कर देता है—बनाता है या बिगाड़ता है—इसकी सार-सँभाल हम और आप कर सकते हैं मिस्टर जो ?

जो ने सिर हिलाते हुए सूने में देखते हुए जैसे कहा—आज मेरा ईश्वर लौट आया मिस्टर स्मिथ ! एक नास्तिकता को एक दुगुनी तेज़ नास्तिकता ने चोट

दी है। बेसी ! तुम्हें मैं धन्यवाद देता हूँ। मैं अब बिलकुल नार्मल हूँ। आप मेरी चिन्ता न करें, आप अपने-अपने घर चले जायें। बेसी को सिर्फ मेरे पास न भेजें—उसके बाजे, उसके कपड़े सब ले जायें—वह मेरी ज़िन्दगी में से मिट गयी, जैसे एक भुलायी हुई रागिनी हो—जैसे एक चीज़ हो जो हम ज़िन्दगी में नहीं याद करते ! वह अब मेरे लिए मर गयी। उसके लिए अब अपने जो चाचा की कब्र पर फूल चढ़ाने का खर्चा करना ज़रूरी नहीं। वह चाहे जहाँ जहन्नुम में जाये।

और जो हँसने लगे। मुझे लगा यह बूढ़ा पागल तो नहीं हो गया। वह एक कविता गुनगुनाने लगे—फिर ज़ोर-ज़ोर से सुनाने लगे :

"चूंकि मेरा मुँह
हँसी से पूरा खुला है
और मेरा कण्ठ
गाने से गहराया है
तुम यह नहीं जानते
कि मैं बाद में दु:खी होता हूँ—
कि मैंने इतनी देर दर्द को थामा है।
चूँकि मेरा मुँह
हँसी से पूरा खुला है
तुम्हें मेरे भीतर का क्रन्दन नहीं सुनाई देता
चूँकि मेरे पैर
नाच से उल्लसित हैं
तुम नहीं जानते
कि मैं मर रहा हूँ।"

जो की कहानी यों पूरी हुई।

बेसी की कहानी घर पर वर्जीनिया स्मिथ ने बड़ी सहानुभूति से सुनी। वह अगले दिन ही हम जान सके। उसके पहले मैं अपने मन की कुछ बातें जो मैंने उस दिन डायरी में लिखीं यहाँ बता देना चाहता हूँ—

मेरे मन को बार-बार आदिवासी जंगलों की बात झकझोरती है। उसमें कई वन्य पशु हैं। हमने अब शिकार भी बन्द करा दिया है। कई हिस्सों को ज्यों का त्यों पालतू जंगल की तरह रहने दिया है।

सभ्यता के इतिहास में भी कई हिस्से, कई राष्ट्र, कई जमातें, कई तबके हम ने यों ही उपेक्षित छोड़ दिये।

वहाँ हथियाघास उगने दो। ज़हरीली जड़ी-बूटियाँ पेड़ों पर चढ़ने दीं, अजगरों को वहाँ रेंगने दिया।

अब हम अपने छोटे-छोटे सुधार और हृदय-परिवर्तन के खुरपे और कुदाल ले-लेकर चले हैं जंगल साफ़ करने। हम, जिन्हें बा ीचा सँवारने की भी तमीज़ नहीं।

यह काम शब्दों की कसरत से नहीं होते।

यह काम लम्बे-चौड़े लच्छेदार उपदेश और भाषणों से नहीं होते।

यह काम सिर्फ पवित्र इच्छाओं से, दुआओं से नहीं होते।

और अब मेरे मन में प्रतिप्रश्न यह उठ रहा है कि क्या ज़रूरी है यह काम?

क्यों ज़रूरी है यह काम?

बेचारी प्रकृति ने हमारा क्या बिगाड़ा है? उसके काम में हम क्यों खलल डालें?

प्रकृति निर्घृण है। अन्धी है। वहाँ दया-माया भाव-विह्वलता को कोई स्थान नहीं है। बड़ी मछली छोटी को निगल जाती है। शक्तिशाली जीता है। शरीर का वहाँ मान है। फिर धीरे-धीरे बड़े शरीर वाले भी पिछड़ जाते हैं, बुद्धि जीत जाती है। बन्दर मगरी की पीठ पर उस पार के पेड़ पर लटके हुए बया के घोंसले में अपने दिल का बहाना बनाता है। सियार और लोमड़ियाँ शेरों को कुएँ में कुदवा देती हैं।

निरी भावना अन्धी है। निरी बुद्धि केवल दृष्टि ही दृष्टि है। वह लूली है। और दोनों का सन्तुलन अभी तक तो आदमी से बन नहीं पड़ा है।

वही बात है—

माँ कावेरी! तेरा दर्शन पुण्य है! तेरा आचमन पुण्यतर है! तुझ में निमज्जन पुण्यतर है!

पर यह निमज्जन कैसा है कि हम लट्ठे बनते जा रहे हैं! तैरते हुए लकड़ी के टुकड़े! एक जंगल में कटे, राह में किसी पत्थर पर न अटके रहें, किनारों के कंकड़ों से न उलझें, तो दूसरी घाटी में पहुँचें। और एक जंगल में। राह शायद इसमें से पानी को अभी निकालती है।

आशा करें कि कभी चन्द्र-सूर्य इतने तपेंगे कि बर्फ जो चिरनिद्रा में सोयी है, वह अमर बर्फ पिघलेगी। हिम-नदियों से वे खण्ड नीचे टकरायेंगे। और ग्लेशियरों से झीलें बनेंगी, वहाँ से नदियों में बाढ़ आयेगी। तब इतनी बड़ी बाढ़ होगी कि नदियों के पानी के बँटवारे के लिए शाक्य और कोलिय नहीं लड़ेंगे और न किसी सिद्धार्थ को इन मकड़ी के जालों से भरे जीवन को छोड़कर संबोधवृक्ष की शरण लेनी होगी।

आशा है कि बाढ़ इतनी विराट् होगी कि बाढ़-नियन्त्रण-कमेटियों से दफ्तर और वे रिपोर्ट उसमें तैरते हुए बह जायेंगी। यह कोई तुकाराम की अभंगगाथा तो नहीं है कि इन्द्रायणी में कोई देवता उनका उद्धार करे…

आशा करें कि उस विराट् वन्या से देश के नक्शे बदल जायेंगे। जहाँ ज़मीन है वहाँ समुद्र आ जायेगा, और समुद्र में से नये भूखण्ड ऊपर झाँकने लगेंगे, जैसे नींद में से पक्षियों के शावक···

आशा करें कि तब संगम की काव्य-परिषदें अपनी रचनाएँ वाटर-प्रूफ़ स्याही में वाटर-प्रूफ़ चैम्बरों में सुरक्षित रखेंगी···

आशा करें कि तब सचिन्त मनु को अपनी नाव बाँधने के लिए विराट् मत्स्य का सींग नहीं ढूँढ़ना होगा।

जीवन का नियम यह है कि हर व्यक्ति को अपना मुँह जलाकर ही जानना पड़ता है कि गरम चीज़ क्या होती है। जो का अनुभव बेसी के काम नहीं आता।···

पर तब तक तो काष्ठ काष्ठ से मिलते हैं। एक काष्ठ का नाम जो है। उसी का टुकड़ा बेसी है। दूसरे काष्ठ का नाम मार्था है, उसी का टुकड़ा जैम्स है—और यह घूर्णित नदी बही जा रही है।

संगीत के स्वर उठ रहे हैं। झाझें बज रही हैं। रात-रात-भर कीर्तन चल रहा है। झींगुरों ने घण्टातरंग बजाया है। जंगल के महावृक्ष ताल दे रहे हैं। पानी झमाझम बरस कर बीच-बीच में सम पर रुक जाता है। एक आदिम ध्रुपद के अलाप यहाँ-वहाँ सब ओर गमक रहे हैं। और कुछ नहीं सुनाई देता।

छोटे-छोटे स्वार्थों के बम के धमाके, छोटे-छोटे राष्ट्रों के गुर्राते घोषणापत्र सब उस विराट् ध्वनि के आगे फीके पड़ गये हैं। डूब गये हैं—एक ही स्वर है, जो अनादि है, ओंकार है, महारुद्र का ताण्डव-डमरू है···

छह

बेसी के मुँह से जो कहानी मिसेज़ स्मिथ ने सुनी वह जो की कहानी का दूसरा पक्ष था :

बेसी जो के साथ रहती थी। उसकी कृतज्ञ थी कि बचपन से माँ के कहीं चले जाने पर मामा ने पाला-पोसा। बड़ा किया। सिखाया-पढ़ाया। पर मामा के लाड़ की छाया में वह विकसित हो ही नहीं पायी। जो मामा के लाड़ के मारे वह कुछ कह भी नहीं सकती थी। ज्यों-ज्यों वह उम्र में बड़ी हुई, उसकी भी आकांक्षाएँ थीं, अपना व्यक्तित्व था, अपनी इच्छाएँ थीं।

पर जो समझता था गोरे आदमियों से मिलना ठीक नहीं है। वे सब धोखा ही देंगे। उनसे आवश्यक सामाजिक सम्बन्ध रखने तक ठीक है। पर उन पर ज़्यादह विश्वास, उनमें घुलना-मिलना बेकार है। उस सब का नतीजा होगा—

दुःख ।

पर, वेसी की यह धारणा नहीं थी। उसका अपना अनुभव गोरों के साथ बहुत अच्छा था ।

जितना जो ने उसे गोरों से मिलने-जुलने से बचाया, उससे वर्जित किया, बेसी को कुछ गुप्त रूप से उसमें रस आने लगा। वह समझने लगी कि इसी एक मामले में वह जो से आगे बढ़ जायेगी। जो ने कभी उसे अपने मार्था वाले प्रणय-प्रसंग की कहानी न सुनायी थी, न उसके कड़ुए अनुभव की कोई कारण-परम्परा ही कही थी। वेसी समझती थी यह जो की सिर्फ एक मानसिक ग्रन्थि है। कई गोरों के मन में कालों के लिए ऐसा ही गहरा अविश्वास का मूढ़ग्राही पूर्वग्रह है। कई कालों को गोरों के लिए ऐसा ही दुराग्रह है, ऐसा ही पूर्वनिश्चित मत। यह दोनों किसी व्यक्ति के अपने अनुभव पर आधारित नहीं हैं, पर सामूहिक पूर्वग्रह होते हैं, अकारण, परम्परा से चले आ रहे, रूढ़ अन्धविश्वास ।

ये सब तोड़ना चाहिए। हर नीग्रो एक विद्रोही होता है। जन्मना लड़ाकू। और वेसी अपवाद नहीं थी। उसने भी तय किया कि यह सब जो कहते हैं वह कहाँ तक सच है, उसकी परीक्षा की जाये।

और उसने अपने यौवन के खिलते हुए नीलकमल पर पहला गुंजन करता हुआ जो भ्रमर सहज पाया था वह था जैम्स। वह उसे प्यार से जिम कहती।

एक बार वह अपने जाज़-सेशन के सिलसिले में उत्तर के स्टेट्स में गयी थी—मिनेसोटा ! बहुत पिछड़ी-सी जगह है। वहाँ जिम किसी नाटक के सिलसिले में आया था। दोनों की मुलाकात एक सभा में हुई—जहाँ नीग्रो विद्यार्थियों को गोरे विद्यार्थियों की तरह समानाधिकार मिलने चाहिए, इस बात पर किसी विद्यार्थी-नेता का भाषण था। जिम वहाँ अपने एक नीग्रो दोस्त के साथ पहुँचा था। खासा तनाव सभा में था। पीछे से एक गोरे लड़के ने छेड़खानी करते हुए कहा, चीख़ कर—कहीं कौए और हंस एक हुए हैं !

कौन है यह पागल ? उसे चुप कराओ !

जिम ने जाकर उस लड़के को तमाचा जड़ दिया। और शान्त भाव से कहा—"एक लोकतन्त्र में रहते हो तुम दोस्त ! ऐसे विचार रख कर तुम यहाँ कैसे पढ़ पाओगे ?"

सब ने जिम को स्टेज पर ले जाकर तालियाँ बजायीं। जिम ने काले-गोरे के भेद के खिलाफ गाने गाये।

खूब तालियाँ बजीं। जो लोग उससे आकर्षित हुए थे—उसके सुन्दर, छरहरे शरीर से, उसके अनसँवरे बालों और ऊँचे-बौंड़े माथे से, उसके भरे-पूरे होंठों और किंचित् उठे हुए नयनों से दुनिया को हकारत से देखने वाली छोटी नासिका से—उनमें बेसी भी थी। बेसी भी उसी मंच से गा चुकी थी। उसने

वह प्रसिद्ध लोकगीत गाया था :

"नाव पर चले आओ, बहुत जगह है ।
तुम भी, और तुम भी, और तुम सब ।
ओ काले भाई क्यों रुके हो ?
क्यों हिचकते ठिठके खड़े हो, तुम भी चले आओ ।"

यानी कि, बेसी के शब्दों में, एक कलाकार ने दूसरे कलाकार की प्रतिभा और गुणों की प्रशंसा की थी मन-मन ।

हाथ से हाथ मिलाये गये। बहुत अच्छा परिचय हुआ । पत्र-व्यवहार भी चलता रहा । और फिर दस महीने पहले जैम्स अपनी घुमन्तू नाटक-मण्डली के साथ सेण्ट लुई आया हुआ था ।

फिर नाटकीय ढंग से एक शाम दोनों की मुलाकात हो गयी । बेसी ग्रेहाउण्ड बस-अड्डे पर किसी दोस्त को पहुँचाने गयी थी । शनीचर की शाम थी और जिम वहाँ वैसे ही आया था ! शायद पास के 'बार' में ।

—अच्छा जिम, तुम यहाँ ?

—और बेसी, तुम ?

—बहुत दिनों से कोई चिट्ठी नहीं भेजी । मैं समझी तुम हमें भूल गये ।

—मैं काफी परेशानियों में रहा । पहली नाटक-मण्डली वालों से झगड़ा हुआ । अब यह दूसरी कम्पनी के काण्ट्रैक्ट पर यहाँ आया हूँ । जानती हो स्वतन्त्र प्रकृति का आदमी हूँ !

—हूँ ! वह क्या मैं जानती नहीं ? उस सभा में उस दिन उस बदतमीज़ को कैसा मज़ा चखाया था ।

—बात यह है बेसी, मैं भावुक हूँ और इस बात को मैं छिपाना नहीं चाहता । जल्दी गुस्से में आ जाता हूँ ।

—वैसे ही जल्दी प्रेम में भी तो नहीं फँस जाते ?

—कौन जाने ? अभी तक तो ऐसा कोई जाल नहीं मिला है !

—तो यह बताओ जिम तुम हमारे परसों वाले शो में आओगे ?

—क्यों नहीं ?

—पर एक बात है । मेरे मामा जोज़ेफ, वे बहुत गुस्सैल हैं—उनके सामने कहीं आकर मुझ पर प्रशंसा के और अभिनन्दन के फूल बरसाने न चले आना । उन्होंने देख लिया तो फिर तुम्हारा-हमारा मिलना असम्भव होगा । नहीं फिर अतलान्तिक के उस पार—

जिम हँसा । और दोनों बड़ी देर तक न जाने क्या-क्या बातें करते हैं, ऐसी बातें जिनका कोई ख़ास मतलब नहीं होता । उसे कौन-से फूल पसन्द हैं, कौन-से नहीं हैं ? कौन-से रंग पसन्द हैं, कौन-से नहीं हैं, कौन-से खाने पसन्द हैं, कौन-से

नहीं हैं…

अब हर शनीचर को चर्च में काम करने के बहाने बेसी जिम से मिलने लगी। जिम भी मेथॉडिस्ट चर्च का मेम्बर बन गया। फादर ऑस्टिन ने दोनों को उनके सेवाभाव और उत्साह पर बड़ा आशीर्वाद दिया। वस्तुतः इसमें चर्च की सेवा कितनी थी और कितनी उनकी अपनी प्रणय-लीला, यह कोई और नहीं जान पाया सिवा जिम और बेसी के।

अब बेसी चोरी-चुपके जिम के घर भी चली जाया करती। जोज़ेफ अपने काम के सिलसिले में एक हफ़्ते के लिए शिकागो गये थे। तब बेसी जिम के घर पर ही रह गयी। रात-दिन कई घण्टों साथ रहना हुआ। बाहर की दुनिया ज़्यादह नहीं जान पाये, इसलिए घर में ही मिलते-जुलते।

वह जिम के लिए खाना बनाती। बेसी की ज़िन्दगी में पहली बार अपने मामा की सेवा के बाहर कुछ नया विश्व मिला। पहली बार एक दूसरे पुरुष से सम्पर्क। बेसी की उम्र बढ़ गयी थी। और जो उसकी शादी का नाम तक नहीं लेते थे! वे नहीं चाहते थे कि इतनी अच्छी एक सह-कर्मिणी, एक कमाई के साधन के अलावा घर में सब तरह की सेवा-टहल करने वाली, आराम का सामान मुहय्या करने वाली एक लड़की को ब्याह में डाल कर दूर कर दिया जाये। जो के लिए यह कल्पना ही असह्य थी कि बेसी शादी करके अपना घर अलग बसा ले।

इसीलिए जो उसे निरन्तर चर्च की सेवा में, संगीत की सेवा में लगाये-अटकाये रखने की बात करता। उसके अपने लिए शराब काफ़ी थी।

बेसी मन ही मन तड़फती रहती कि उसे कोई समवयस्क मित्र मिले।

जिम में उसके सपनों की पूर्ति जैसे मिल गयी।

यों दोनों की मैत्री प्रगाढ़ होती गयी। उसका रूप धीरे-धीरे पति-पत्नी-जैसे सम्बन्धों में बदल गया। दोनों की हिम्मत नहीं हो रही थी कि इस बात को जोज़ेफ के सामने रखा जाये। वह ठुकरा दे प्रस्ताव तो? बेसी में इतना साहस नहीं था कि वह जो को छोड़ कर बग़ावत कर कहीं जा सके। या तन कर खड़ी हो जाये और कहे कि—मैं जा रही हूँ अपनी राह पर। आप रास्ता न रोकिए।

जिम इसलिए प्रस्ताव नहीं करता था कि वह जानता था अपनी चचेरी बहन मार्था की मारफत जोज़ेफ की पुरानी कहानी—गोरों के लिए उसके मन में घोर वितृष्णा और हकारत।

ऐसे धर्म-संकट में बेसी ने तय किया कि वह माँ बनेगी।

और जिम ने तय किया कि विवाह—बाह्य पिता बनने का सामाजिक रोष वह स्वीकार करेगा। वैसे ही उसे ऐक्टर होने से लोग कौन अच्छा कहते थे!

आख़िर वह दिन आया जब बेसी ने जो से कह दिया।

और जो नतीजा हुआ हम देख ही चुके हैं।

बेसी मन से जैम्स को चाहती थी। और जैम्स ऐसा बुरा नहीं है ऐसा उसका विश्वास था।

हर विश्वास एक पतले धागे पर टँगा होता है। वह चट्टान बन जाता है, सन्त ऑगस्तीन की आखिरी चट्टान, सिर्फ इसलिए कि ऊपर कोई तारा होता है जो उसे निरन्तर दिशा देता रहता है।

बेसी और जैम्स का प्रेम दोनों तरफ़ से—यानी काले और गोरे दोनों समाजों की तरफ़ से—अर्थशून्य था जो इन दोनों जमातों के बीच बरसों से और सदियों से टूट चुका था और यह अनुलोम नहीं प्रतिलोम व्यवस्था उस सभ्य, सुसंस्कृत, समृद्ध समाज में वहाँ उस जगह प्रतिष्ठित नहीं थी—'समाज' नाम के अमूर्त दानव को स्वीकार्य नहीं थी।

व्यक्ति विद्रोह करता है तो किसलिए? इसीलिए कि समाज एक दिन उसकी बात मान ले। जो आज का अपवाद है वह आने वाले कल का नियम बन जाये।

पर यह बहुत लम्बी प्रक्रिया है।

मेरा मन भटकने लगा—यह मानना कि सारी लकड़ी की लम्बी-लम्बी शहतीरें एक दिन नदी के पाट को भर डालें और नदी के प्रवाह की दिशा बदल जाये, एक बहुत मूर्ख आशा है। यह मानना कि एक दिन सारे जंगल कट जायें और कहीं कुछ कँटीला ही नहीं रहे, सब कुछ पुष्पित और सुरचित हो जाये, एक बहुत मूर्ख आशा है। यह मानना कि भाषा के सब अपशब्द चुक जायें और सारे महाप्राण वर्ण लुप्त हो जायें और सब कुछ कोमल और मधुर-स्वरयुक्त, कठोर व्यंजनाविरहित हो जाये, एक बहुत मूर्ख आशा है।

और इसी मूर्खता पर हम जीते हैं। हम चाहते हैं कि दुनिया के सब युद्ध सदा के लिए ख़त्म हो जायें। और उसी के लिए नये-नये शस्त्र बनाते हैं, आणविक परीक्षा कराते हैं। उसी के लिए ऐसा सब कुछ करते हैं कि युद्ध का तनाव बराबर वातावरण में बना रहता है।

हम चाहते हैं धर्मों और धर्मों, प्रजातियों और प्रजातियों के बीच रिश्ते अच्छे हों। और उसी के लिए नये-नये सन्धिपत्र लिखे जाते हैं। नयी-नयी संहिताएँ बनती जाती हैं, जो पुराने धर्मों और पन्थों से भी ज्यादह कठोर हो जाती हैं। उसी के लिए ऐसा सब कुछ किया जाता है कि जमातों का तनाव बराबर देशों-देशों में बना रहता है।

एक जंगल से हम एक दूसरे घोरतर जंगल में चले जा रहे हैं। और हर कदम पर समझते हैं कि हमने नन्दनकानन पा लिया, हम स्वर्ग का बग़ीचा धरती पर उतार लाये।

मम्मी अब तुम खाना मत पकाओ, मत पकाओ
तुम आज़ाद हो ! तुम आज़ाद हो !
मुर्ग़ अब तुम बाँग मत दो, मत दो
तुम आज़ाद हो ! तुम आज़ाद हो !
पुरानी मुर्गी ! अब तुम अण्डे मत दो, मत दो
पुराने सूअर ! अब तुम ज़्यादा नाक न बजाओ,
तुम आज़ाद हो ! तुम आज़ाद हो !
पुरानी गाय, तुम दूध मत दो, मत दो,
तुम आज़ाद हो ! तुम आज़ाद हो !
अब हमें किसी की गुलामी करनी ज़रूरी नहीं।
हम आज़ाद हैं ! हम आज़ाद हैं ।

बेसी की इस मार-पीट के बाद उसे लगा कि जैसे उसने आज़ादी पायी। जेम्स के पास जाकर रहने का सवाल ही नहीं था। उसकी घुमन्तू नाटक-मण्डली वहाँ से चली गयी थी। जब तक वह उसे मिशिगन में जाकर मिले, कहीं मुँह छिपाने की जगह ज़रूरी थी। स्मिथों के सहारे वह कब तक रहती? उसका अपना कोई बहुत जमा किया हुआ पैसा नहीं था। और वह जो से अब हिसाब माँगने से रही।

उसने तो अपना सब हिसाब चुकता कर दिया था।

डोरा स्मिथ से उसने कहा कि शिकागो जाने तक के बस के किराये के पैसे उधार दे दे। बाद में वह लौटा देगी।

जाज-मण्डली में बड़ा हल्ला मचा। कई लोगों ने सोचा जो को समझाये कि वह यह सब क्या कर रहा है। यों मण्डली टूट जायेगी। उस लड़की के बिना गाने के शो कैसे देंगे? किसी तरह उसे समझा-बुझा कर वापस लाना चाहिए।

—जो, सारी प्रतिष्ठा और कमाई की जरिया है वह, यह सब तुम भूल रहे हो। एक बूढ़े गायक ने हिम्मत करके जो से कहा।

जो ने कहा—एक लड़की की खातिर मैं अपने सिद्धान्तों की बलि नहीं दे सकता। मैं उसे वापस नहीं बुला सकता। चाहे तुम मुझे मण्डली से निकाल दो। और कई लड़कियाँ मिल जायेंगी, और कई समाज जुट जायेंगे। और कई महफिलें सजेंगी। जो एक लड़की पर निर्भर नहीं है। नहीं है उसे अब किसी की परवाह !

यह बोतल है, और मैं हूँ—यह जवाब उसने दूसरे एक साथी को दिया।

सब लोग जैसे जुटे थे, धीरे-धीरे बिखर गये। सब ने मान लिया कि जो पागल हो गया है। वह अब आदमियों में नहीं रहा। अब वह फ़रिश्ता है या एकदम जानवर ! स वै मुक्तोऽथवा पशुः।

बेसी चली, तो सेण्ट लुई—जहाँ उसने जिन्दगी के गये दस बरस काटे थे—

बहुत भारी हृदय से छोड़ रही थी। उसकी सड़क का एक-एक कोना उसका परिचित था। सवेरे-सवेरे ग्रेहाउण्ड बस के स्टेशन पर मैं और डोरा उसे पहुँचाने गये तब उसकी आँखों में आँसू नहीं थे। पर जब वह विदा होने लगी—बरबस उसकी आँखों के पास उसका रूमाल वाला हाथ था।

उसने धीरज दिया। कहा—अब जो बुलायेगा तो भी मैं नहीं आऊँगी। उसके लिए मैं मर गयी। जिन्दगी में ऐसा भी धोखा कभी-कभी होता है, बहुत बड़ा धोखा।

डोरा ने कहा—पैसे की ज़रूरत हो तो हमें लिखना। तुम्हारी सब चीज़ें हमारे घर पर सुरक्षित रहेंगी। अब कल तो हमें भी यहाँ से चले जाना है। कैलिफोर्निया। सैनफ्रान्सिस्को के कॉलेज में। यह पता रखो, उधर कभी आओ तो हमें याद करना।

हम इस तरह विदा हो रहे थे, मानो हमें पता था कि यह क्षण अब लौट कर आने वाला नहीं है। न बेसी हमें मिलने वाली है, न हम उसे कुछ देने वाले हैं।

देना ? कब, किसे, क्यों, जब लेने वाला एक चलनी हो, एक फूटा पात्र हो, एक रिक्त सब कुछ सोख लेने वाला बड़ा मरु-विस्तार हो।

बेसी बस के भीतर बैठ गयी और गोल-गोल घुमाव लेकर ग्रेहाउण्ड बस चली।

बेसी ग्रेहाउण्ड बस में बैठ गयी। इसी जगह उसे पहली बार जैम्स मिला था। इसी जगह वह घण्टों बैठी रही है—कभी शिकागो जाने के लिए, कभी दक्षिण की ओर।

आज वह अकेली नहीं है। और अकेली नहीं है। जिस बच्चे की वह माँ बनने जा रही है वह काला होगा, गोरा होगा, या सिर्फ ग्रे—

ग्रेहाउण्ड बस चली जा रही है। बस स्टेशन के भीतर नीग्रो पोर्टर लाल टोपी पहने सामान उठा रहा है। क्या यही भाग होगा मेरे भावी शिशु का ? बेसी सोच रही है। उसे याद आती हैं ऐलेन गिन्सबर्ग की कविता की कुछ पंक्तियाँ :

ग्रेहाउण्ड के लगेज रूम में—

: 1 :

ग्रेहाउण्ड टर्मिनल के गहरे में
एक लगेज ट्रक पर गूंगे की तरह बैठा, आसमान की तरफ देखता,
लाज़ एंजेल्स एक्सप्रेस के आने की राह देखता हुआ
पोस्टऑफिस की छत पर अनन्त की चिन्ता करता हुआ, रात के वक्त
लाल शहरी बस्ती में

मेरे काले चश्मे में से घूरता हुआ मैंने इन सिहरते विचारों को गुना, वे
अनन्त की ओर नहीं थे, वे हमारी ज़िन्दगी की ग़रीबी
के नहीं थे, चिड़चिड़े बैगिज क्लर्कों के नहीं थे,
नहीं थे वे लाखों टन रिश्तेदारों के जो बसों के आसपास जमा हो कर
गुडबाई कह रहे थे, विदा ले रहे थे,
नहीं थे उन लाखों और ग़रीबों के जो शहर से शहर अपने प्यारों की
तलाश में भटक रहे थे···
नहीं थे मेरे बारे में जो यह भयानक सपना देख रहा था
नहीं थे उस पुच्छल नीग्रो ऑपरेटिंग क्लर्क स्पेड के बारे में, जो कि अपने
अद्भुत लम्बे हाथों से हजारों एक्सप्रेस पैकेजों का भाग्य
निर्णय कर रहा था···
सैकड़ों सूटकेसें ट्रेजेडी से भरी, इधर से उधर झुलायीं, खोली जाने के
इन्तज़ार में नहीं थे वे उन बैगिजों के बारे में जो खो गये जिन के हैण्डल
टूट गये, जिन पर के
नाम की प्लेटें मिट गयीं, जिन के तार कट गये, रस्से टूट गये,
पूरे ट्रंक कंकरीट के फ़र्श पर फटे पड़ते हुए
नहीं थे उन समुद्री बेगों के जो किसी मालगोदाम में जा कर ख़ाली कर
दिये गये।

: 2 :

फिर भी स्पेड को देख कर मुझे फरिश्ते की याद हो आयी,
वह बस से सामान उतार रहा था,
नीला ओवरॉल उस ने पहना था, काला चेहरा, अफसर-फरिश्ते की
वर्कमैन-टोपी पहनी थी,
वह अपने पेट से एक बड़ा टिक का घोड़ा धकेल रहा था जो काले
बैगिज से ऊँचा रख दिया गया था,
जब वह जा रहा था तो ऊपर देखता था उस छत के नीचे की कोठरी
की पीली बत्ती का लट्टू
और उसने अपने हाथों पर ऊँचे एक लोहे के गड़रिये की टेढ़ी सर्पिल
छड़ी उठायी थी।

: 3 :

वे थीं अलमारियाँ, मैंने पहचाना, उनके सिरे पर बैठकर अब मैं लंच-
टाइम में अपने थके पैर सुस्ताने के लिए लटका दूँगा

वे थीं अलमारियाँ, बड़े लकड़ी के शेल्फ और लकड़ी की शहतीरें और
लोहे के खम्भे ज़मीन से छत तक बैगिजों से भरे,
ये थे रेकों पर रेक और उन पर बैठे हुए लोग जिन्हें मैंने यह जगह छोड़ने
से पहले रात को बिजली में नंगा देखा।
ये रेक हमारी चीज़ें लटकाने के लिए रखे गये थे, हमें एक साथ जोड़े
रखने के लिए, स्पेस में एक कच्चा मचान बाँधा था,
ख़ुदा का यही एक तरीका है काल के चर्राते हुए ढाँचे को एक जगह
बनाये रखने का—
इसी तरह ये बैगें सड़कों पर भेजी जायेंगी, हमारा लगेज़ यों ही एक
जगह से दूसरी जगह ले जाया जायेगा
इस इन्तज़ार में कि अनन्त से फिर एक बस वापस मिल जाये
जो हमें उसी जगह ले आये जहाँ दिल छोड़ दिया गया था
और विदा के आँसू शुरू हो गये थे।

बस चली ! वही परिचित हार्लेम-जैसे नीग्रो क्वार्टर्स थे। यहाँ कालों की बस्ती ख़त्म हुई—यहाँ से गोरों की बस्ती शुरू हुई। यहीं तो 'हूडलेम प्रीस्ट' की शूटिंग हुई थी शायद। यह आगे का ड्रग स्टोअर आ गया, यहीं से जो के लिए नींद की गोलियाँ लाती थी मैं। और यह आगे का जो का प्रिय अड्डा। यह 'बार'। यहाँ का मालिक जो का पुराना दोस्त था। यहीं सब बेकार और काम-काज खोजने वाले भी जुट जाते थे। बहुत कम गोरे यहाँ आते थे। यहीं पर बहुत देर रात गये ठट्टे चलते, ठहाके चलते। कभी एकाध बार द्वन्द्व-युद्ध भी छिड़ जाता था। पर कोई बड़ी वारदात कभी नहीं हुई।

हाँ जेरी वहाँ दोनों कमरबन्दों में दो बड़े-बड़े पिस्तौल लटकाये अपनी भूरी पोशाक में बड़ी देर रात गये आ जाया करता। जब जो वहाँ नहीं था जैम्स के साथ बेसी एक बार वहाँ चोरी-चुपके आयी थी, तब भी जेरी था वहाँ। और कनखियों से सब उसकी ओर देख रहे थे। जैसे परियों की क़हानियों में राक्षस आ गया हो।

वह समाज का नियम-रक्षक था। गोरे समाज का, काले समाज का। पर यहाँ की दुनिया के नियम ही और थे। फटे-हाल जम कर रोज़ पीने बैठने वाले जैक को पूछिए। उसकी ज़िन्दगी का कोई सिलसिला था ? कोई नियम था ? या वह भाग्य की मरजी पर अपने-आपको यों फेंक रहा था, जैसे कोई पाँसा हो। एक बड़ा चौपड़ बिछा हो और चारों ओर से खेलने वालों के ठहाके सुनाई दे रहे हों। बीच-बीच में कौड़ियों की या पाँसों की हथेलियों में हिलाने की खुलबुल आवाज़। और खेलने वाले कहीं नज़र नहीं आ रहे हों।

यह छोटा स्कूल गुज़रा, इसी में उसने क्रिस्मस में नाटक दिखाया ईसा के

जन्म का। तीन पूरब से आने वाले राजाओं का—ऑल नीग्रो कास्ट—ऐसा नाटक जिसमें सब पात्र नीग्रो हों। वह लँगड़ा गरीबिन का लड़का जो डैविड का तारा आसमान में देखता है। वह ग़रीब गड़रिये जो नहीं देख पाते कुछ भी…वह चर्च भी गया। यहाँ कई बार वेसी ने प्रार्थनाएँ सुनायी हैं। फादर-ऑस्टिन कितना प्यार करते थे। और हमेशा लम्बे-लम्बे आशीर्वाद देते। पर अब जब वे सुनेंगे कि उनके ही चर्च में प्रार्थना को एक साथ आने वाले जैम्स और वेसी भाग गये तो क्या कहेंगे वे?

अपना गंजा सिर खुजलाते हुए लैटिन में प्रार्थना ज़ोर-ज़ोर से बुदबुदाने लगेंगे। मानो भूत को भगा रहे हों।

वेसी सेण्ट लुई से चली गयी। हम लोग दूसरे दिन कैलिफोर्निया हवाई जहाज़ से जाने वाले थे। घर में डोरा की माँ की बड़ी व्यस्तता चल रही थी—"अमुक चीज़ ले जाओ।" वह तो सैनफ्रान्सिस्को में मिलती है माँ!" "फिर भी।" "अच्छा, ले जाती हूँ। कितनी चीज़ें हो गयीं?" "किताबें भी तो हैं?" "वे वहाँ लाइब्रेरी में मिल जायेंगी। ख़रीद लेंगे। पर ये नये कपड़े, ये तुम्हें पसन्द हैं, वह 'पाई' (एक तरह की मिठाई)—यह सब तो ले ही जानी होगी।"

बेसी ने शिकागो पहुँचकर एक पत्र लिखा। उसमें था:

सीधे एक पुराने परिचित हैरिंगटन डनबार के वर्क-हाउस में मैं पहुँची। डनबार एक बड़े आदर्शवादी निस्पृह कार्यकर्त्ता हैं। उस गन्दी बस्ती में अब जो ये नये-नये ऐपार्टमेण्टों की अच्छी करीने की बस्ती खड़ी की गयी है, डनबार के ही प्रयत्नों से। उन्होंने इन इधर-उधर आवारा घूमने वाले नीग्रो लोगों के लिए रहने की व्यवस्था करायी। को-ऑपरेटिव बनाये। कुछ शहर की नगरपालिका ने मदद दी। बहुत लड़ना पड़ा, अन्दर और बाहर भी। वर्क-हाउस एक पुरानी संस्था है। जैसे भारत के अनाथालय या विधवाश्रम। लेकिन यहाँ श्रम पर अधिक ज़ोर है, चन्दे पर कम। मेहनत-मजदूरी करके, आदमी चाहे ग़रीब से ग़रीब भी क्यों न हो, अपना पेट पालो। एक तरह से डनबार के धैर्य का परीक्षालय भी था। और कई तरह के डिस्टर्ब्‌ड (मानसिक रोगी) व्यक्तियों का मानसोपचारालय भी।

मैंने जाकर सब कहानी डनबार को सुनायी। उन्होंने कहा—कोई फिक्र मत करो। फ़लाँ नर्स हमारी कार्यकर्त्ता है। तुम्हारी प्रसूति की सब व्यवस्था हो जायेगी। यह कोई नयी बात नहीं है। तुम्हारा नाम इतना बड़ा है। जब एक-दो माह में तुम माँ बन जाओगी, काम करने लायक फिर स्वस्थ हो जाओगी, तो फिर गाना शुरू कर देना। और तब इस बूढ़े डनबार और उसके वर्क-हाउस को मत भुला देना। कुछ अपनी कमाई का हिस्सा इधर भी भेज देना। और वे हँसे।

मैंने कहा—जैम्स को सूचना देनी होगी।

डनबार ने कहा—ज़रूर। जिस-जिसको लिखना हो, लिख दो। सब मुझे जानते हैं। हमारे यहाँ मोटा-झोटा खाते हैं। मोटा-झोटा पहनते हैं। सबके लायक कुछ-न-कुछ काम होता है। कोई काम हलका नहीं। सबको खाना बराबर मिलता है। जाओ आज तुम रसोईघर को देखना। थक गयी हो न? कोई चिन्ता की बात नहीं। आराम करो। कल से देखना।

डनबार किसी अतिथि को अपनी संस्था दिखाने चले गये।

उन्होंने पूछा—आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ा होगा।

कष्ट? डनबार ने मुसकराकर कहा—शुरू-शुरू में यहाँ पीकर बोतलें मारी जाती थीं एक-दूसरे पर। और मैं सुधारने का बीड़ा उठाकर यहाँ काम करने आया। एक बार तो एक आदमी मुझ पर झपटा। उसके चाकू के निशान अब भी मेरी कुहनी पर हैं। क्या होता है इस सबसे? जिसे 'वह' बचाना चाहता है, बच जाता है। किससे कितना काम लेना है, वही जानता है। यह दुनिया एक वर्क-हाउस है। और हमें अपना पसीना बहाना पड़ता है। अपने कर्तव्य में चूक न हो, इतना-भर हम देखते हैं। रही बात वेतन की, सो 'वो' देता है। शाम को अंगूर के बग़ीचे में एक थका-हारा मज़दूर आया। उसने दिन-भर काम नहीं किया था। पर प्रभु के पुत्र ने कहा—इसे भी उतनी ही मज़दूरी दो जो सबको दी जाती है। आख़िर उसकी भूख तो सबके बराबर ही है न? यही हमारा सिद्धान्त है। हमारे लेखे सब बराबर हैं—नीग्रो, ईसाई, यहूदी, जापानी, रेड इण्डियन—कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। सबको बराबर काम, बराबर आराम।

अतिथि जो आये थे, वे देखकर दंग थे। एक-एक समय पचहत्तर-पचहत्तर और अस्सी-अस्सी आवारा किस्म के लोगों को यह भला आदमी आश्रय कैसे दे पाता है? कहाँ से खर्चा चलता है? खाना कहाँ से लाता है?

डनबार बोले—मैंने अपना सारा जीवन इसी में लगा दिया। गये महायुद्ध में मैं युरॅप में था। मैंने रेफ़्यूजियों के बीच काम किया। मैं देख चुका हूँ आदमी कितना नीच से नीच हो सकता है। मैं देख चुका हूँ आदमी में कैसा फरिश्ता छिपा हुआ है। मेरा सीधा-सच्चा नुस्ख़ा है। मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ। आर्तों की, ज़रूरतमन्दों की सेवा करता हूँ। मेरा अपना कोई स्वार्थ नहीं। अपनी ज़रूरतें कम से कम कर डाली हैं। ये कुछ किताबें मित्रों ने दी हुई हैं। यह जो आपको सुन्दर लकड़ी का टेबल लैम्प दिखाई देता है, भला इतनी फैशनेबल चीज़ मैं ख़रीदने वाला हूँ, ख़रीद सकने लायक भी हूँ! यह मुझे, अफ्रीका में काम करता था, वहाँ से उपहार मिला है। और यह कैमरा, जापान की एक बहन अपनी अवैध सन्तान यहाँ छोड़ गयी थी—उसने भेजा था। सब संस्था को दान है। मेरा अपना कुछ नहीं है।

अतिथि कुछ शंकालु थे। पूछा—आप समझते हैं आपके इस छोटे-मोटे सुधार

से दुनिया बदल जायेगी ?

सारी दुनिया का मैं नहीं जानता। अपनी दुनिया ज़रूर सफेद हो गयी है। धुल कर साफ—अब काले धव्वे इस पर टिकते नहीं। बहुत काफी है, हर कोई अपने-अपने खेत की ही सोच ले तो ! डनबार के मुँह पर एक दिव्य आत्म-सन्तोष था।

मैं अब यहीं दो महीने रहने वाली हूँ। जैम्स जब मुझे लिवाने आ जायेगा, तो हम तय करेंगे कि सैनफ्रान्सिस्को तुम्हारे यहाँ आयें। गाने वालों, नाटक वालों के लिए वह जगह अच्छी है। स्पर्द्धा है, पर मौका भी है।

डोरा, तुम्हारे स्नेह के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद—

बेसी।

सात

सेण्ट लुई में स्मिथों के यहाँ चार दिन आतिथ्य का आनन्द लेकर मैं फिर फ़ान्सिस्को चला आया। फिर वही ऐन्थ्रोपॉलॅजी के लेक्चर, वही लाइब्रेरी की किताबें, वही टाइपराइटर। वही शनीचर को नॉर्थ बीच चले जाना और चार दिन की मेहनत की थकान को भुलाना।

पर उस दिन जब मेरे अकेले के ऐपार्टमेण्ट पर शाम घिर आयी तो उसमें बहुत रंग थे। पता नहीं क्यों शाम के वक्त बड़ी उदासी लगती है। और मैं जब कुछ करता नहीं होता हूँ तो यादों में डूब जाता हूँ। मुझे अपनी घर की याद आयी। कावेरी तिरुक्कुरल सुना रही है। मुझसे बड़ी लगने वाली वह ममेरी बहन वचपन से ही बहुत होशियार है। वह कामत्तुप्पाल से 'सन्ध्यावर्णन' सुना रही है :

मालैयो वल्लै मषनन्धा रुरिषनुभ्
वेलैनि वाषिबोषघु
पुंग षन्नै वाषि मरुषनमालै येनगेषलबोल
वंगषन्न घोनिन् द्रषनै···

अब भी मुझे वह अक्षरश: याद है :

तू साँझ नहीं है, एक भाला है जो चुभा रही है
वधुओं की आत्माओं को : विदा ओ साँझ की बेला !
तुम्हारी आँख उदास है, जय हो साँझ के सन्देह-काल !
ओ क्रूर आँख वाली क्या तेरा भी दूल्हा है, मेरी ही तरह ?
यह साँझ के दुख मैंने तब तक नहीं जाने थे
जब तक वह मेरा प्रियतम मुझसे दूर नहीं हुआ

मेरा दुःख सवेरे एक कली, सारे दिन-भर खिला फूल
और साँझ की वेला में पूरी तरह खिल जाता है
यह गड़रिये की बन्सी मेरे कानों के लिए एक हत्यारा अस्त्र है
साँझ की साग्निक चिता पास आयी, यही वह बताती है।
साँझ की अँधेरी, जो मेरी आत्मा को घेरे फैल कर
इस दुखियारे नगर में शोक की लहर में डुबा दे रही है,
यह सँवलाती साँझ, मेरी साँवली आत्मा अब पूरी तरह नष्ट हो
उसकी याद कर-कर के जो पैसे के पीछे चला गया है, मुझे भूल
गया है !

कितने वर्षों पहले बचपन में कुरल सुने थे। आज भी साफ-साफ याद आ रहे हैं। ऐसी ही उदास संझा तब तिरुचिरापल्ली के श्रीरंगम् मन्दिर के अहाते में घिर आयी थी जब मन्दिर के सात परकोटों के भीतर हाथी झूमते हुए आ रहे थे, उत्सव के लिए चन्दन और कुंकुम से जिनके गण्डस्थल और शुण्डाएँ चित्रमय बनायी गयी थीं, जब पुजारी ठिठककर अपने श्रीफल, केले के दोने कमल की सपत्र कलिकाएँ थामे उस गजराज के अभिवादन को रुक गये थे; जब मैंने पहली बार उस विशाल मन्दिर के परिसर में आरती का स्वर गूँजते हुए सुना था—उस में एक आदिम जिज्ञासा थी। एक जादू का-सा, भयमिश्रित आश्चर्य और सब कुछ मानो स्वर से सिद्ध, शुद्ध और नीरोग हो जायेगा ऐसा सहज-विश्वास।

हाइटी लोगों में 'वू-डू' होता है—एक तरह के अफ्रीका के आदिम सर्व-प्राणमय धर्मोत्सव और कैथोलिक धर्म का मिश्रण। तब उनमें किसी-किसी को 'लोआ' आता है।

तिकोलोशी···

हम्पुन्दुलु···

मुरुगन मन्दिर में नहीं जा सकता था। उसके लिए यह किरीट कुण्डलधारी चन्दन-अबीर चर्चित, पुष्प-सुगन्धित द्रव्य-पूजित श्रीरंग मना थे। किसने किये थे ये भगवान् के हिस्से ?

मुरुगन के घर में लोग टोना-टोटका करते थे। माँ ने कहा था—उससे बच कर रहना। किसी दिन वह तुम्हें गायब कर देगा। टोने-टोटके वाली स्थिति से हम बरसों हुए बाहर निकल आये। जंगल के बड़ादेव महादेव हमारी देवमाला में 'सभ्य' बन गये। फिर हमने उनके आसपास जंगली कहानियाँ रच डालीं। जंगल हैं कि वे कटते नहीं, हमारे मन में उग आते हैं।

यह शाम का वक्त और वह श्रीरंगम् के मन्दिर का गेरुआ धुँधलका।

—यह ऐसे माला नहीं चढ़ाते हैं। यों बायें हाथ से नहीं, दाहिने से पहले तीन, फिर पाँच, फिर सात कमलपत्र ··

मुरुगन का बहुत दिनों से पता नहीं चला। क्या कर रहा होगा ? ऐसे सभ्यों के भगवान् हमें नहीं चाहिए। हम ऐसे मन्दिरों पर लानत भेजते हैं, जो सिर्फ सवर्णों के लिए खुले हैं। हम ऐसी संस्कृति को क्या करेंगे जो केवल समाज के एक हिस्से के लिए है ? हम ऐसी भाषा का क्या करेंगे जो सब की समझ में नहीं आती, जिसकी पढ़ाई शूद्रों को मना है, जो पुजारियों की ताल-पत्र की पोथियों में बन्द पड़ी है। वह देववाणी हमारी वाणी नहीं है। मुरुगन मरीना के समुद्र-तट पर गरज रहा था। उसके मंच के पीछे द्रविण कषगम् का नीला झण्डा लहरा रहा था। काली कमीज़ उसने पहन रखी थी। और उसकी आवाज़ में एक तरह की तीखी धार थी, आरे की तरह।

शाम ! तू ज़्यादह देर इस देहरी पर मत ठिठकी रुकी खड़ी हो। तुझे देख कर मुझे कावेरी की आँखों का काजल याद आता है। मुझे माँ की जामुनी साड़ी याद आती है। मुझे मुरुगन की आँखों की ललाई याद आती है। मुझे जो के बाजे की तीखी आवाज़ याद आती है। मुझे बेसी के भाग्य के किसी पागल के हारों आसमान की पाटी पर खड़िया से लिखे नक्षत्र अंक याद आते हैं। मुझे किसी दूर की नदी की हहराती धारा में डूबते हुए आत्मघाती की चीख याद आती है। मुझे लकड़ी को निरन्तर चीरते रहने वाले अपने पड़ोस के दो वढ़इयों के आरे याद आते हैं। मुझे अपनी जेब में अब बचे हुए बहुत थोड़े सेण्ट याद आते हैं। मुझे हालेम में दिन के तीन बजे चुपचुपाता सन्नाटा याद आता है। मुझे मैलापुर के पास पुल से परे 'झुग्गियों' में मन्द रोशनी में अपने पीले पानरँगे दाँत विचकाकर बुलाने वाली एकवस्त्रा तेवड़ियाल याद आती है। मुझे पोर्टोरिकन बस्ती में पीकर पागल की तरह झूमती जाने वाली भिखारिन याद आती है। मुझे शाम के रंगों में कई भयानक और बीभत्स, कई बहुत कोमल और रुलाने वाले दृश्य घुलते-मिलते नज़र आते हैं। शाम ! तू यहाँ ज़्यादह देर मत ठिठक—तू जल्दी से खिसक जा।

मैं ऐसे ही अपने में डूबा था कि दरवाज़े पर घण्टी वजी। दरवाजा खोलने पर देखा तो डोरा और फौजी लिबास में एक नौजवान खड़े थे।

—आइए, वैठिए।

—परिचय करा दूँ। यह है स्टीव—स्टीफेन गोल्डस्मिट—यह मेरे बहुत दिनों के घनिष्ठ मित्र हैं। दो साल कोरिया में फ्रण्ड पर भी हो आये हैं।

—आप काफी पियेंगे ?

—पी सकता हूँ। पर भारतीय क्या और ढंग से काफी बनाते हैं ? सुना है आप साउथिण्डियन इसमें माहिर हैं।

डोरा ने कहा—मैं वह सब करती हूँ। यहाँ कहाँ साउथ इण्डिया है।

—कैसी रही आपकी सेण्ट लुई की यात्रा ?

—हमारे लिए बहुत अच्छी रही। पर बेचारी बेसी और जो के लिए···

—मैंने वह सब किस्सा सुन लिया है मिस्टर राम ! यह 'बेचारे' 'दयनीय', 'ग़रीब' वगैरह विशेषण मैं नापसन्द करता हूँ। वे किस लायक हैं कि उन पर यह सब दया की ख़ैरात बरसायी जाये। मैं 'पिटी' (दया) को मनुष्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी मानता हूँ।

—पर आपका धर्मग्रन्थ बाइबिल तो···?

—वह दो हज़ार बरस पुराना पड़ गया। ईसा ने सुपरसॉनिक मिसाइल नहीं देखे थे। तब रॉकेट और जेट की ईजाद नहीं हुई थी। मैं दया को एकदम ग़लत मानता हूँ। जो ख़राब है उसे दफ़नाना ही होगा, ज़हर को उससे भी ज़ालिम ज़हर से ही रोका जा सकता है।

डोरा इतने में किचन से आ गयी थी। उसने कुछ प्यार-भरे रोष-भरे स्वर में कहा—फिर तुमने स्टीव वही हरकत की ! बहस शुरू कर दी। तुम्हें तो नाज़ी जर्मनी में होना चाहिए था।

स्टीव एकदम तमतमा उठा—इस डोरा की बातें आप पुरुष होकर क्या सुनते हैं। दुनिया में दो तर्कशास्त्र हैं : एक पुरुष का, एक स्त्री का।

मैं अचकचा कर रह गया। आज तक ऐसा अमरीकन नौजवान मैंने नहीं देखा था। मुमकिन है मैं क्वेकर और यूनिटेरियन और ऐसे ही लोगों के चक्कर में रहा था। मैंने पूछा—आखिर यह आपकी धारणा कोरिया युद्ध से लौटकर हुई है क्या ?

स्टीव किसी भरे इंजन की भाप जैसे एकदम खुल जाये वैसे उबल पड़ रहा था—मिस्टर इण्डियन, तुम्हें पता नहीं है दुनिया में क्या-क्या हो रहा है। तुम 'नाईव' (भोले-भाले) दुधमुँहे बच्चे हो। दुनिया से ये आदमी के वेश में हिंस्र श्वापद हटाने ही होंगे। एक ओर आप होंगे, दूसरी ओर बीस हज़ार चीनी चींटियों की तरह ऑटोमैटिक गन लेकर चारों तरफ से तुम्हें भूनने को तैयार होंगे। वहाँ अहिंसा और दिल बदलने के नुस्ख़े नहीं चलेंगे। वहाँ एक मिनिट का भी वक्त नहीं दिया जायेगा। जब मौत से सीधा साक्षात्कार हो, तब फिलॉसफी के रेशे, तर्क की बाल की खाल, काम नहीं आती जनाब। तब आदमी का एकमात्र आदिम संस्कार जागता है—अपनी रक्षा का भान। तब मेरे साथी बॉब ने मरने से पहले कहा था—काश, मेरे हाथ में आणविक अस्त्र होते—बुशफायर वेपन ही सही···

डोरा—चुप रहो स्टीवन। पहले ही परिचय में तुमने इस तरह से लावा उगलना शुरू किया।

मैं हतबुद्धि था। मुरुगन की भाषा में और इस नौजवान सभ्य अमरीकन पढ़े-लिखे सिपाही में बहुत कुछ समान था।

मैंने जान-बूझकर बुद्धू बनकर पूछा—तो आपका ख़याल है अस्त्रों का जवाब अस्त्रों से और हिंसा को हिंसा से जीता जा सकेगा? यह तो एक अनन्त-सरणि है। आपने मान लीजिए अणु-अस्त्र बना लिए। आपके शत्रु ने उससे भी बढ़कर और भयानक मार वाले और कारगर अणु-अस्त्र बनाये। और स्टीव साहब आपका बस चले तो सारी दुनिया को ही आप तहस-नहस करके राख का ढेर बना दें।

स्टीव फिर शान्त ढंग से बोला—हम बनायेंगे या हमारा शत्रु। हमने पहल की थी? पर्ल हारबार पर हमने बम बरसाये थे? हम तो भले-चंगे दूर बैठे थे—दुनिया के झगड़ों से बिलकुल बेखबर। हमारे यहाँ भी तटस्थतावादी थे—विल्सन थे। पर मैं राजनीति की बहस में नहीं डालना चाहता। मैं 'रिअल-पोलिटीक (प्रत्यक्ष नीति)' की बात कर रहा हूँ। मैं इस सब सपनीले, स्त्रैण आदर्शवाद से आजिज आ गया। वैसे ही हमें सारी दुनिया में मिलिटरिज़्म (फौजीशाही) फैलानेवाला बदनाम किया जाता है। जब कि हमने कितने करोड़ों डॉलर दान-पुण्य के समुद्र में डुबो दिये।

कॉफी आ गयी। और मैंने सोचा यह गोटी बहुत पक्की है। इनसे बहस करना और भैंस के आगे बीन बजाना बराबर है। पर मुझे रह-रहकर डोरा का आश्चर्य लगता था कि वह कैसे इस तानाशाही-पसन्द आदमी की मित्र बन गयी।

क्या दो परस्पर विरोधी तत्त्व एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं, और इसी को 'प्रेम' कहते हैं?

बातें फिर जो और बेसी की चलने लगीं।

मैंने कहा—मुझे नहीं लगता जो अब कभी सुखी होगा। बेसी उसके जीवन से चली गयी। अब बचा ही क्या? और बेसी भी ज़रूर जो को मिस करती होगी। जो की याद में चुपचाप रोती होगी।

ज़िन्दगी इतनी भावुकता से नहीं चला करती—स्टीव फिर गुर्राये—मेरा बाप जब मर गया तो मुझे ऐसा ही लगा था कि दुनिया सूनी हो गयी। पर दुनिया बदस्तूर चलती रही। कोई किसी के लिए रुकता नहीं है। न रुका है।

डोरा ने बात काटी—पर मैं तुम्हारे लिए रुकी हूँ, स्टीव। तुमने वादा किया था इस वसन्त में हम शादी की बात पक्की करेंगे।

अब स्टीव का स्वर कुछ बदला—यह सब बातें यहाँ करने की होती हैं?

डोरा ने इसरार किया—तो क्या है वह जो तुम्हें मुझसे वचनबद्ध होने से रोकता है।

स्टीव का चेहरा फिर जैसे ऐंठन से टेढ़ा हो आया—मुझे लगता है तीसरा महायुद्ध होगा।

मैंने कहा—उसका शादी से क्या सम्बन्ध है? उसमें सभी नष्ट हो जायेंगे।

स्टीव ने बात को आगे बढ़ाकर समझाया—वह इतना आसान नहीं है। तीसरे महायुद्ध में बड़े-बड़े अस्त्र चलाने से सभी डरेंगे। और इसलिए छोटी-छोटी लड़ाइयाँ होंगी। लोग एक-दूसरे की ज़मीन दबोच लेंगे। और जो माँगने आयेगा उसे धता बता देंगे। मुझे लगता है युरॅप में यह जो बर्लिन की दीवार है—यहाँ से गड़बड़ शुरू होगी।

डोरा ने फिर उसका ध्यान मूल बिन्दु की ओर खींचा—पर 'वेडिंग रिंग' (शादी की अँगूठी) तो उससे मिलनी बन्द नहीं हो जायेगी।

स्टीव अब कुछ नरम स्वर से बोला—डोरा, तुम कैसी नासमझ हो! अगर युद्ध शुरू हुआ तो मुझे लाम पर जाना ही होगा। मैं कैसे घर में मुँह छिपाये बैठा रह सकता हूँ। और तब मेरी जान ख़तरों में होगी। कौन जानता है मैं सही-सलामत लौटकर भी आऊँ या न आऊँ। वहीं मारा जाऊँ, या मान लो अन्धा-बहरा लूला-लँगड़ा होकर लौटूँ। तो फिर वह भी तुम्हारी क्या ज़िन्दगी होगी। वह भी क्या कोई विवाह का सुख होगा?

डोरा—इतनी दूर का सोचते हो तुम स्टीव? पर क्यों उसे बहाना बनाते हो, उस सुदूर भविष्यत् को आज के अभी इस क्षण के निश्चय न लेने का! सच-सच क्यों नहीं कहते कि तुम डरपोक हो!

स्टीव कुछ क्षण चुप हो गया।

मैंने एक बात सुनायी—मौत के बारे में पहले से कुछ सोचकर चलना ग़लत हिसाब है। हम तो ख़ैर मौत को पूर्णविराम मानते ही नहीं। हमारे यहाँ जेलों में फाँसी की सज़ा सुनाये गये आज़ादी के लड़ने वाले कैदी थे, और लड़कियाँ थीं, कि उन्होंने वहाँ जाकर उनसे शादी की! शादी का युद्ध या मृत्यु से यह तौलना ठीक उसी तरह है जैसे कोई वसन्त को शिशिर से तौले!

स्टीव को जवाब नहीं सूझ रहा था।

मैंने फिर कहना शुरू किया—आदमी इकाई हो या गिरोह, उसके दोनों पहलू रहे हैं—उसने प्रेम भी किया है, उसने एक-दूसरे की जान भी ली है। स्टीव, हम लोग ग़लत इतिहास पढ़ते-पढ़ाते हैं। हम इन दो पक्षों में जैसे हिसाब करने लगते हैं। संगीत में स्वर ऊपर उठता है। कभी मन्द्र में आकर स्वर रुक भी जाता है। हमारे जीवन को निरन्तर शस्त्रों से लैस, कवच-पेटी बाँधे, संगीनों और किरिचों के साये में घूमना होता तो हम जीते ही क्यों? हम आदमी क्यों कहलाते, जंगल के नियम में और हममें क्या फर्क होता? हम अपनी प्रेयसियों को मुण्ड काटकर भेंट देते और रक्त से उसकी माँग में विजय का टीका लगाते। अब हम उस स्थिति से बहुत आगे निकल आये। अब प्रत्यावर्तन सम्भव नहीं है

स्टीव ।

स्टीव फिर अपनी बात पर अड़ा रहा—हम अब भी खूँखार भेड़िये हैं । हम अब भी जंगल के कानून को ही मानते हैं । हम अब भी विवेक वग़ैरह सुन्दर शब्द सिर्फ डिक्शनरियों में रखते हैं । हम अब भी पशु हैं, आदिवासी हैं, नरमांस-भक्षी कैनिबाल ।

डोरा—कहाँ की फिज़ूल की बहस में तुमने इतनी सुन्दर शाम बिगाड़ दी । हम कहीं बाहर चलते । ये दो दृष्टिकोण—एक रामन् का खयाल कि 'बुराई न देखो, न सुनो, न कहो'—वाले तीन बन्दरों का दृष्टिकोण और दूसरी ओर तुम स्टीव—हर अच्छी चीज़ के मूल में घुन लगी है, जैसे कोई मौलिक पाप की कलंकछाया सबको भीतर से कुरेद रही है, यह तुम्हारी मान्यता—इनमें मुझे कहीं कोई समानता नहीं दिखाई देती । तुम दो ध्रुवों की तरह एक-दूसरे से अलग हो—डाइमीटर के दो छोरों-जैसे । बेकार है बहस । शब्द जाया करना है । स्टीव, अगले मिनिट तो दुनिया पर तुम्हारे तीसरे महायुद्ध का कहर बरपा नहीं हो रहा है, चलो हम बाहर कहीं खुले में चलें ।

मैंने कहा—मेरा आना नहीं हो सकेगा । कल तक मुझे ये बीस पन्नें टाइप करने हैं । तुम तो जानती ही हो, यहाँ सदा के लिए तो रहना नहीं है ।

स्टीव—मुझे ग़लत न समझना । आप बुद्ध के देश के हो—चीनी भी अपने-आपको बड़ा बुद्ध का मानने वाला कहते थे । युद्ध का नशा मैंने बहुत पास सें देखा है । वहाँ कोई माया-ममता-मोह, छोटे-छोटे प्रेम-स्नेह-पाश कुछ नहीं रहतें हैं । वहाँ सबसे अधिक निर्मम होने की परीक्षा होती है । अच्छा है आप ऐसें नारकीय अनुभव से नहीं गुज़रे । आपका मन अभी साफ है । मेरा पूरी तरह जल चुका है डोरा । अब इसमें हरियाले अँखुवे नहीं आ सकेंगे ।

मैंने बहुत बड़े विश्वास से कहा—ऐसा हो ही नहीं सकता । जब तक आदमीं ज़िन्दा है, वह पूरी तरह अन्दर से मर ही नहीं सकता । यह तो उसकी खाम-खयाली है । हजारों बरस पुराने दबे पड़े हुए दाने उग आये हैं, चट्टानों के नीचे से पानी के सोते फूट पड़े हैं, रेगिस्तान जहाँ थे, वहाँ उद्यान लहलहाने लगे हैं । यह सब आपके मानने की बात है । आपको मैं मनवाना भी नहीं चाहता । आप जाइए लाम पर या धरती के नीचे छिपिए—मुझे उससे क्या ?

डोरा ने जाते-जाते कहा—स्टीव इतना बुरा नहीं है, रामन् ! वह सिर्फ बातें ऐसी करता है जैसे चंगेज खाँ की रूह उस पर उतर आयी हो । मैं जानती हूँ यह सब उसने अपने-आपको छिपाने के लिए एक किला खड़ा किया हुआ है । वह बहुत मज़बूत नहीं है ।

स्टीव ने जाते हुए तपाक से फौज़ी ढंग से हाथ मिलाया और यह बात बड़ें महीन स्वर में कही—मेरी बातों का बुरा मत मानना । मैं आग के दरिया में सें

गुज़रा हूँ।

मैंने हँसकर कहा—किसी के लिए दरिया बाहर है, किसी के भीतर। अच्छा बाई-बाई !

"एक बार एक बच्चे ने कहा
बाहर का समुद्र
और भीतर का समुद्र
दोनों में लहराता पानी है
भीतर के समुद्र में
वेदना का काष्ठ जल रहा है
बाहर के समुद्र में
आनन्द का धुँआ उठ रहा है
बाहर का समुद्र धीरे-धीरे घुस आया।
अन्दर के समुद्र का प्रवाह अब धीमा नहीं रहा।"

जेम्स शेबील की यह कविता मैंने कहाँ पढ़ी थी, याद नहीं। पर वह बार-बार मुझे जैसे झकझोरती है। भूत की तरह वह चिपटती जाती है—जितना ही मैं उसे दूर भगाता हूँ, वह लिपटता जाता है।

ऐन्थ्रोपॉलॅजी के विद्यार्थी वेंकटरामन अय्यंगार !—मेरे मन ने जैसे अपने ही दर्पण में देखकर कहा—तुम्हें क्या हो गया है? ऐसे भावुक बनकर क्या होगा ? शाम को आसमान में कहीं ढलते देखा तो कुरल याद आने लगे और युद्ध की बात किसी ने कर दी तो भीतर से सिसकने लगे—यह श्मशान-वैराग्य तुम्हारी वंश-परम्परा के अनुकूल नहीं। तंजावरम् के राजा सरफोजी के दरबार में नाना ने मन्त्र पढ़ने से मना कर दिया था। उसके लिए वैसा ही शुचिर्भूत होकर सचैल नहाकर वे मेरे आह्निक के समय आयें—

और अब सन् 1860 नहीं रहा—शताब्दी कितनी बड़ी चीज़ होती है !

मैंने बार-बार मन को समझाया कि इतिहास के ये भूत-प्रेत उतार दूँगा मैं विज्ञान की झाड़-फूंक से ! पर मेरी ओझागिरी नहीं चल पायी। वह राह में ही कहीं रपट कर गिर गयी। उसे मैं क्या करूँ ?

मेरे मन में फिर सपने तैरने लग जाते हैं। दक्षिण की शैलमालाओं में महा-अरण्य के ऊँचे-ऊँचे सागवान और बुरुंज के वृक्ष। उनमें झूले डले हैं और अप्सराएँ नाच रही हैं। जामुन चखती जाती हैं। वृक्षों में चन्दन के पेड़ पर हवा रगड़ खाकर और भी ताज़ा हो जाती है। हाथी उस हवा में सुण्ड उठाकर मस्त हो रहे हैं। जंगल के बीचोबीच एक तालाब है और उसमें हाथी नहा रहे हैं, बेफिक्र···हाथी को मगर चिढ़ा रहे हैं। पर जंगल में आग लगी हुई दिखती है। सुनाई दे रही है। चट-चट-चट वृक्ष जल रहे हैं। महा-अरण्य महाश्मशान बन गया

है। वे सुन्दर हिरनों के झुण्ड, वे नानारंगी पंखों वाले सुन्दर परिन्दे कहाँ जायें, किधर भागें ? हवा में धुएँ के मारे घुमड़न है, साँस नहीं ले पाते हैं। जंगल में राह नहीं है—कहीं भी तो कोई छोटी-सी पगडण्डी बाकी नहीं। लपटें मेरे पास तक आ गयी हैं। लाल-लाल आँखें चमकती हैं—बाकी सब अँधेरा है। बेसबॉल खेलने वाला कोई बड़ा नीग्रो सबको बचा ले आता है। जो लुई की तरह उसके 'मसल' हैं—उसने जंगल को अपने सिर पर उठा लिया है ऐटलास की तरह, शेषनाग की तरह। और लो उस दुनिया के गोले को स बेसबॉल बनाकर वह बग़ल में दबाये, लात से ठोकर लगाते वह भागा—वह भागा, वह भागा—खुली हवा में। भूमध्य समुद्र की नीली-नीली ठण्डी जलराशि की—उसके किनारे सभ्यताएँ उठीं-गिरीं। क्ज़ेटेक्सीज़ और नीरो के ग़ुलामों का ख़ून अब शुद्ध रक्त वाले आर्यों में मिल गया है। जंगल काटकर साफ किये जा रहे हैं। फिर उग आते हैं।

मैंने किताबें उलटी-पलटीं। पढ़ाई में मन नहीं लग रहा था। देखा तो जैक माइकेलाइन की यह कविता मेरे सामने खुली थी—

"मैं कहता हूँ
मैं कहता हूँ
हम सब ग़ुलाम हैं
सब लोग ग़ुलामी में हैं
मैं कहता हूँ
मैं कहता हूँ
आज के ज़माने में
लोग इतने घबड़ाते हैं
लोग इतने दब्बू हैं
लोग विश्वास नहीं करते
लोग विश्वास नहीं रखते
सबको डर लगता है
सब असुरक्षित हैं
सब लोग ग़ुलाम हैं।
मैं कहता हूँ
मैं कहता हूँ
आज के ज़माने में
लोग इतने घबड़ाये-घबड़ाये हैं
सब लोग नर्वस हैं
लोगों का कोई विश्वास नहीं रह गया
मैं कहता हूँ
हम सब ग़ुलाम हो गये हैं…

आठ

वेसी को बच्चा हो गया। एक लड़का। नाम रखा माइकेल। हमने उसे मंगलाशीर्वाद भेजे। दो महीने बीत गये। जेम्स उसे लिवाने के लिए नहीं आया। उसके पास अपना ही कोई काम-धन्धा नहीं था। वह पत्नी और बच्चे को कहाँ से पालता ?

बेसी ने निश्चय किया कि वह दक्षिण में जायेगी, जहाँ उसकी एक दूर की रिश्तेदार रहती थी। वह बच्चों का एक छोटा स्कूल भी चलाती थी। वहीं माइक को वह पाल भी लेगी।

वहाँ से बेसी की एक बड़ी करुण चिट्ठी डोरा के नाम आयी है। डोरा ने मुझे वह पढ़ने को दी। उसे पढ़कर हमने लिखा कि यहीं चली आओ सैन-फ्रान्सिस्को। कुछ तुम्हारे लिए करेंगे।

वह चिट्ठी यों थी :

यहाँ आकर मैं मजे में हूँ। माइक का ख़याल रखने वाली मेरी पुरानी परिचिता पिता की दूर की रिश्तेदार मिसेज़ ड्युबाय मिल गयी हैं। चलो एक चिन्ता कम हुई।

यहाँ आकर नीग्रो मेथॅडिस्ट चर्च के मास्टर (पुजारी) के सहारे मैं और एक बड़े काम में जुट गयी। अब मुझे लगने लगा है कि जीवन में कुछ अर्थ है। सब कुछ बेकार नहीं है।

तुम तो जानती हो दक्षिण में गोरे और काले लोगों के बीच सम्बन्ध कई बरसों से अच्छे नहीं हैं। दो साल पहले यहाँ बसों का 'सिट-इन' (सत्याग्रह) चला। सब काले लोगों ने तय कर लिया कि हमारे लिए पीछे की और खराब अलग सीटें क्यों होंगी ? यह सेग्रिगेशन हमें पसन्द नहीं।

यह तय किया गया कि सब बसों का बहिष्कार किया जाये। जायें गोरे बस-ड्राइवर थोड़े-से गोरे पैसेंजरों को लेकर। हमारे लोगों ने आपस में यूनियनें बना लीं। यह तय किया कि एक काले की मोटर में दस काले आदमियों को हम ले जायेंगे। बच्चे और औरतों को पहले मौका मिलेगा। देखते-देखते आनन-फानन सारे शहर में बिजली दौड़ गयी।

बसें बेकार खड़ी हैं।

दफ़्तर का वक़्त हो गया। लंच का वक़्त हो गया। अपने-अपने अड्डों पर बसें बेकार खड़ी हैं।

काले पैसेंजर काली चींटियों की कतार की तरह से पैदल; साइकिल पर, स्कूटरों पर, अपनी पुरानी मॉडेल की मोटरों में, ट्रकों में चले जा रहे हैं। दूर जाने वालों को पहले लिया जाता है।

छह महीने गोरी बसों का बहिष्कार चलता रहा। आखिर क्या होता ? बस-कम्पनियाँ घुटने टेककर कालों की शर्तें मानने लगीं। अब बसों में यह सवाल नहीं उठाया जाता कि यह गन्दा काला 'निगर' कहाँ गोरे बड़े साहब के पास बैठ गया। कहीं उस की छूत तो इन भगवान् के प्यारे चुने हुए गोरों को नहीं लग जाती है। वर्ण जन्म से होता है—उसे क्या बदला जा सकता है ? उस की जाति क्यों बनाते हो ?

ईसा की नज़र में "सब बराबर हैं" और फिर भी कालों के अलग चर्च हैं, गोरों के अलग !

यह अलगाव कहाँ-कहाँ नहीं है—स्कूलों में, तालाबों में, क्लबों में, स्टोअर-हाउस में, कैफ़ेटेरिया में, पब में, ड्रग-स्टोअर में···

यानी हमारे ही पैसे से ये बड़ी-बड़ी दुकानें चलें, और मज़ा यह कि हमसे ही मुनाफ़ा लें और हमारे लिए ही सब दरवाज़े बन्द ! यह कहाँ का न्याय है ? तुमने 'ओल्डलेम' की कहानी सुनी होगी। न सुनी हो तो मैं संक्षेप में बताऊँ। यह सन् 1905 की बात है। एक नीग्रो अपने 'मालिक' के पास से भाग गया और उसने एक पड़ोसी प्लैण्टर के यहाँ नौकरी कर ली। पर वह वापस अपने मालिक के पास लाया गया—तीस कोड़ों की सजा उसे दी गयी। यह लड़ाई के बाद के दिन थे और उस मालिक ने कई युद्ध-बन्दी ग़ुलाम बना लिए। अब यह नीग्रो बोला कि अब हमें आज़ाद कर दो, तो सुनता कौन है। गोरों की सारे कोर्ट-कचहरियाँ थीं, गोरों के पास सब बन्दूकें थीं, गोरों के पास सब शिकारी कुत्ते थे, गोरों की सब रेलें थीं, सब तार के खम्भे थे, सब अख़बार थे, सब बैंक थे, सारी ज़मीन उन्हीं की थी। हमारे लिए तो सिर्फ थी जहालत, ग़रीबी और हमारे ख़ाली हाथ ! सो हमसे कहा गया—दस साल का तुम्हारा करारनामा है। उसके बाद तुम आज़ाद होगे। अब दस साल बाद फिर नीग्रो ने कहा—अब हमें आजाद करो। तो मालिक बोला—तुम्हारे नाम सैकड़ों डॉलर कर्ज़ा है। वह पहले चुकाओ। मेहनत-मशक्क़त करके। पैसा तो हमारे पास था ही नहीं कि देते। इस तरह ये आज़ाद ग़ुलाम युद्धबन्दियों के बराबर हो गये—गन्दे बैरेकों में सोते, सवेरे से शाम तक पसीना बहाते। कड़ी मजूरी करते। अब उस नीग्रो आदमी का नौ बरस का बच्चा और बीवी चली गयी। बीवी तो किसी और गोरे ने उड़ा ली, और उसे तीन बरस बाद छोड़ा गया। उसे जॉर्जिया स्टेट के किनारे पर छोड़ दिया गया। हुक्म दिया गया—जा, चला जा। वह नीग्रो कहता है :

तब मेरे पास न एक धेला था न कौड़ी। मेरी तबीयत अच्छी नहीं थी। किसी तरह काले कोस पार किये। कोलम्बिया तक भीख माँगता चला गया। दो-तीन दिन बाद मुझे एक आदमी मिला जिसे मज़दूरों की तलाश थी—उसे बर्मिघेम मज़दूर ले जाते थे। मैं भी उस टोली के साथ हो लिया। मैं

छोड़ा गया तब से बर्मिघेम की टोली में हूँ और मैं समझता हूँ मरने तक किसी कोयले की खदान में या लोहे की भट्ठी में ही खटना है। मुझे दोनों में कोई फर्क नहीं जान पड़ता। जॉंजिया के 'पिओन' कैम्प से ये दोनों जगहें अच्छी हैं। वह तो ज़िन्दा रौरव था :

इस पर कवि स्टर्लिंग ब्राउन ने एक गीत लिखा है 'बूढ़ा लेम'—

मैंने बूढ़े लेम से बातें कीं
बूढ़ा लेम यों बोला :
वे कपास तौलते हैं,
वे मकई जमा करते हैं
हम सिर्फ इसी काम पर हैं
कि पाँत में काम करें;
वे कमिश्नरी चलाते हैं
वे वहीखाते रखते हैं
हमें शुक्रगुज़ार होना चाहिए
कि हम यों ठगे जाते हैं
वे बनते हैं जज-मजिस्टर
वे बनते हैं वकील
उनके पास हैं जूरी के रोल
उन का है सारा कानून
वे एक-एक कर नहीं आते
उनके हैं सब शेरिफ़
उनके हैं सब डेप्युटी
वे दो-दो की पाँत में नहीं चलते
उनके पास हैं पिस्तौल (शॉटगन)
उनके पास हैं रस्से (फाँसी के फन्दे)
हमें न्याय मिलता है
आखिर में
और वे आते हैं दसियों में, सैकड़ों में !

यहाँ अब 1905 नहीं रहा। अब गोरे कम और काले ज़्यादह हैं—संख्या में। और सब पक्षी मिलकर निश्चय करें तो क्या जाल को अपने साथ उड़ा नहीं ले जा सकते।

तो बसों के बहिष्कार में विजय पाने के बाद लंच-काउण्टरों के 'सिट-इन' का सवाल उठा। कुछ बड़े-बड़े चेन-स्टोअर हैं। उनके नाम सब को मालूम हैं। वहाँ हम नीग्रो लोगों को सौदा-सुलुफ नहीं लेने देते। उन पर लिखा रहता है—केवल

गोरों के लिए। जैसे कुछ होटलों पर लिखा रहता है : कुत्ते, नीग्रो और इण्डियन मना है।

हम और इसमें बहुत-से विद्यार्थी शामिल थे। कुछ गोरे पादरी और समाज-सुधारक भी शामिल थे। नॉक्सविल का किस्सा है।

पहले दिन हम सबने सभा की और तय किया गया कि सत्याग्रह और बहिष्कार में गुस्सा किसी को ज़रा भी नहीं करना है। जो अहिंसा को नहीं मानें उसके लिए यह मार्ग नहीं है। बाइबिल में प्रार्थना की गयी। पहले सबको रेवरेण्ड मार्टिन लूथर किंग की किताब पढ़ने को दी गयी। उनसे सीख लेने को कहा गया। डोरा, तुमने पढ़ी है किंग की 'स्ट्राइड टुवर्ड फ़ीडम' किताब। ज़रूर पढ़ना। तुम्हारे भारतीय दोस्त राम से कहना किंग गांधी को मानते हैं। उन्होंने फिलाडेल्फिया में डॉक्टर मोर्देकाई जॉनसन के मुँह से गांधी की तारीफ़ सुनी। जॉनसन भारत होकर आये थे, वे हार्वर्डयू निर्वसिटी के प्रेसीडेण्ट थे। उनसे गांधी की प्रशंसा सुनकर मैंने कई किताबें उनकी खरीदीं और पढ़ीं।

किंग लिखते हैं : बाद में मैंने नेब्हूर की किताब 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसायटी' (नैतिक मानव और अनैतिक समाज) पढ़ी और मेरा विश्वास शान्तिवाद से जैसे कुछ क्षणों के लिए उठ गया। मुझे लगा हिंसा के सामूहिक तानाशाही केन्द्रीभूत संगठनों में अहिंसा कैसे चलेगी। पर मैं पढ़ता रहा। बोस्टन यूनिवर्सिटी में मैंने धर्मशास्त्र में डॉक्टरेट ली। मैंने ब्राइटमैन से हेगेल पढ़ा। मुझे लगा नेब्हूर मनुष्य की भ्रष्ट मनोवृत्ति पर बहुत ज़ोर देते रहे हैं। मेरी आस्तिकता मुझे फिर से गांधी की ओर खींच लायी। मैंने मॉण्टगोमरी में बार-बार कहा—यह झगड़ा सिर्फ काले-गोरों के बीच नहीं है। यह लड़ाई न्याय और अन्याय के बीच है, प्रकाश की और अन्धकार की शक्तियों के बीच है। यह विजय केवल अमरीका के डेढ़ करोड़ और यहाँ के पचास हज़ार नीग्रो की ही नहीं होगी। पर यह न्याय और प्रकाश की विजय होगी। हम यहाँ किसी व्यक्ति से लड़ने नहीं आये हैं। हम सिद्धान्त की लड़ाई लड़ रहे हैं।

इस अहिंसक सत्याग्रह में स्वेच्छा से सहन करने की शक्ति, प्रतिरोध न करने की संकल्प-शक्ति, प्रधान है। गांधी ने अपने देश वालों को कहा था—खून की नदियाँ चाहे बहानी पड़ें, पर वह खून अपना होगा। अहिंसक सत्याग्रही प्रतिहिंसा कभी कर ही नहीं सकता।

किंग की किताब सबने पढ़ी। फिर बहस हुई। तरुण विद्यार्थी थे जो ईसाइयों की आत्यन्तिक अहिंसा मानने को तैयार नहीं थे। वे उसे सिर्फ एक स्ट्रेटेजी (युद्ध-तन्त्र) या 'पॉलिसी' मानने को राज़ी थे। उनके हिसाब से ईश्वर को इस लड़ाई में लाना बेकार था। पर डोरा, तुम जानती हो, मैं आस्तिक हूँ—

कठिन से कठिन, अँधेरे से अँधेरे क्षणों में, जब जो ने मुझे मारा और उसके घर से मैं उस हालत में बाहर चली आयी बे-आसरे, और आज जब जैम्स मेरी सुध नहीं ले रहा है—मेरी एक ही सहारा रहा है, एक ही भरोसा। और वह ईश्वर पर है।

पर उसकी बात क्या करना, और किसी से कहकर वह मानता थोड़े ही है।

तो हम ने सिर्फ़ उन बहिष्कार करने वाले किशोर-किशोरियों को अपने साथ लिया, जिनका पूरा विश्वास था अहिंसा पर, और ईश्वर की अन्तिम न्यायबुद्धि पर। और हम स्टोअर में पहुँचे। वहाँ जाकर हम काउण्टर पर बैठ गये और डाइम देकर हमने काफ़ी माँगी।

हमें पानी तक देने से इनकार किया गया। एक गोरी मोटी भटियारिन तुनुक कर एक बोर्ड हमारी तरफ रखकर चली गयी—

'यहाँ काले लोगों को खाना नहीं परोसा जाता।'

हम हैं कि बैठे हैं, टस से मस नहीं होते, हिलने का नाम नहीं लेते। एक लड़की थी वह अपने साथ ऊन लायी थी, बुनने लगी। दूसरा एक विद्यार्थी काण्ट की पुस्तक लाया था, पढ़ने लगा। मैं भजन गुनगुनाने लगी। मैं मन में कह रही थी : आज का यह फ़ाक़ा आगे रंग लायेगा। माइक तेरे भविष्य का रास्ता साफ़ होगा। तुझे कभी ज़िन्दगी में कोई खाने-पीने की चीजें सिर्फ तेरे रंग के कारण मना नहीं करेगा।

यहूदी लड़की एस्ट्रे बड़ी विनोद-प्रिय थी। उसने बहुत-सा काला पाउडर मुँह-हाथ पर पोत कर कहा—मुझे तो आप कॉफ़ी देंगी ? एक कॉफ़ी का प्याला बड़े गुस्से से उसकी ओर कुक ने लाकर पटक दिया। एस्ट्रे ने कहा : कुक महाराज, मेरा व्रत है, इस अपनी दोस्त को दे दूँ एक कप ?

वह कप उठाकर वापस ले गया।

आठ-आठ नौ-नौ घण्टे छोटे-छोटे नौजवान नीग्रो लड़के और लड़कियाँ लंच-काउण्टर पर बैठे हैं, एक तरफ अछूत की तरह !

दूसरी ओर मोटे-मोटे गोरे मजे उड़ा रहे हैं। किसी ने ऐपल-पाई मँगायी है। दूसरा कोई मेपल-जूस के साथ पेनकेक्स उड़ा रहा है। किसे फ़िक्र है कि इधर क्या हो रहा है ?

कि सहसा एक हजूम कुछ शोहदा गोरे लड़कों का अन्दर आता है। टॉम का कॉलर पकड़कर उसे ऊँची वाली काउण्टर सीट से गिराया जाता है—उसे बूटों से लतियाते हुए गन्दी गालियों के साथ कहा जाता है—जाओ अपनी काली बस्ती में। कल से यहाँ आये तो खैर नहीं। यमपुरी का रास्ता मालूम नहीं हो तो सीधे बता दिया जायेगा।

सू बेचारी सीधी-सादी लड़की है। वह चुपचाप प्रार्थना की मुद्रा में काउण्टर पर बैठी थी। आँखें मूँदे। शहर का सबसे आवारा टेडी-बॉय टिम आया और उसने अपनी जलती सिगरेट उसके खुले गले के स्कर्ट में छुला दी। आँख मारकर बोला—यह काली ऐश-ट्रे अच्छी है।

दूसरा सीटी बजाकर बोला—ओह यह बिजली तो प्रार्थना कर रही है! मानो प्रार्थना से ही इसे गोरा दूल्हा मिल जाने वाला है।

और ऐसी ही कितनी अपमान-भरी हरकतें। लोगों ने थूका है इन भोले-भाले सत्याग्रहियों पर, कभी कुत्ते से कटवाने की धमकियाँ दी गयी हैं। सात दिन तक यह चलता रहा।

सब चुप। अख़बार चुप। सुनता कौन है?

हमारे काले सत्याग्रही बराबर 'सिट-इन' करते रहे। उन्होंने धमकियों से या किसी भी तरह की हिंसा की—लात-घूँसों से लगाकर बाल पकड़कर घसीटे और कोड़े से पीटे जाने तक—बातों से अपने मुँह पर शिकन तक न आने दी। वे बराबर 'साम' (बाइबिल की प्रार्थनाएँ) गाते रहे, प्रार्थनाएँ करते रहे।

हमारे एक लीडर जैक ऐबरनॉर्थी को रात को तीन बार फ़ोन पर धमकी दी गयी—तुम्हारा घर बम से उड़ा देंगे। तुम्हारे बच्चों को उड़ाकर गायब कर देंगे। अब की बार साले, घर पर आना, बीवी का मुरदा ही मिलेगा। जैक ऐबरनॉर्थी उस से नहीं घबड़ाये।

सत्याग्रह बराबर चलता रहा। हमने अपनी माँगें यों साफ तौर से रखीं:

नॉक्सबिल के नीग्रो क्यों असन्तुष्ट हैं?

···हम अपने बच्चों को गरमियों में जूनियर और सीनियर स्कूलों में नहीं भेज पाते। हम टैनेसी विश्वविद्यालय में अण्डरग्रेजुएट विद्यार्थी के नाते नहीं जा सकते।

···हमें शहर के बस ड्राइवरों के नाते नौकरियाँ नहीं मिलतीं, खास तौर पर उन रास्तों पर जहाँ ज़्यादह तादाद में नीग्रो पैसेंजर हैं···

···हमें इस्ट टैनेसी बेप्टिस्ट अस्पताल में दवा-दारू नहीं मिलती। न प्रेस्बिटेरियन अस्पताल में, न सेण्ट मेरी के कैथॅलिक अस्पताल में···

···हमें बड़े प्रसिद्ध होटलों में नहीं रह सकते। हमें नगर की सम्भ्रान्त सभ्य बस्ती में मकान नहीं मिलते।

···हम सिटी काउन्सिल (नगरपालिका) या शिक्षा के बोर्ड या नॉक्सविल हाउसिंग ऑथॉरिटी में, लाइब्रेरी बोर्ड में, नॉक्सविल युटिलिटी बोर्ड में, या सिटी ऑडिटोरियम में बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स में एक भी नीग्रो नहीं पाते···

···हम गोल्फ या बाउलिंग नॉक्सविल में नहीं खेल सकते···हम किसी भी चित्रपट के पहले शो में नहीं जा सकते।

···हम कई कपड़े धोने की सार्वजनिक दुकानों में नहीं जा सकते। वहाँ फलक लगे रहते हैं। फार ह्वाइट पेट्रन्स ओन्ली।

···हम नॉक्सविल के कई रेस्टोराँ में नहीं खा सकते। नॉक्सविल की डाउन-टाउन (खास बस्ती) में कहीं हमें खाना नहीं मिल सकता। हम वेरायटी, ड्रग या डिमार्टमेण्ट स्टोअर में बैठकर खाने की जगह (लंच-काउण्टर पर) बैठ नहीं सकते। वैसे वे हमारे पैसे और दूसरे माल बेचने के विभागों में शेअर्स ले लेते हैं।

हमने ईसा के प्रेममार्ग में अपना आन्दोलन चलाया। हमें कई दिनों तक ऐसी निराशा हुई कि जैसे कोई हमारी सुनने वाला ही नहीं है। पर तब उत्तर की कई संस्थाओं से, कई विश्वविद्यालयों से सहायता आनी शुरू हुई। हममें से लीडरों को पकड़-पकड़कर भारी जुरमाना कर दिया जाता था। जुरमाने के हज़ारों डॉलर भरने के लिए चन्दे मिलने लगे। सारी मानवता काठमारी नहीं हो गयी थी। कहीं पर कुछ आशा थी। और बड़ी आशा थी।

डोरा, क्या कर रही हो तुम हमारे लिए?

तुम्हारी सप्रेम—बेसी।

बेसी के पत्र के अन्त में एक कविता थी। वह एक जैम्स रसेल लॉवेल की प्रार्थना है गुलामी के खिलाफ़—

"हर आदमी और देश के सामने एक बार ऐसा क्षण आता है निर्णय करने का,
जब सत्य की झूठ से लड़ाई होती है, अच्छाई का पक्ष ले या बुराई का;
कोई और बड़ा ध्येय, ईश्वर का नया मसीहा, सबको विकास या विनाश देता है
और वह चुनाव करना ही होता है—प्रकाश में और अन्धकार में?
तब सत्य का पक्ष लेना सही होता है, जबकि हम उसका दीन रोटी का टुकड़ा लेते हैं।
इससे पहले कि उस पक्ष से यश और लाभ मिले, और तब न्यायशील होना ही समृद्ध होना होता है
वह बहादुर आदमी होता है जो चुनता है, डरपोक एक तरफ खड़ा रह जाता है
जब कि समूह उसी श्रद्धा को, जिससे उन्हें वंचित किया गया था, उस का पुण्य बना देते हैं।"

बेसी का पत्र पढ़कर डोरा बहुत देर तक सचिन्त बैठी रही, कुहनियों में सिर थामे।

किधर है डोरा? बेसी की तरफ या स्टीव की तरफ?

क्या सचमुच दुनिया काले और गोरे में इतने साफ ढंग से बँटी हुई है? या

बीच में बहुत-सा धुँधला अधगोरा-अधकाला है जिसमें से चुनना मुश्किल है ?

अरस्तू, तुम कहाँ हो ? अब तुम्हारी आँखों की रोशनी बहुत मन्द पड़ गयी है—सब तुम्हें काला-गोरा ही दिखाई देता है । मनु, तुम कहाँ हो ? तुम्हारी बुद्धि सठिया गयी है । तुम्हारी स्मृति की कड़ियाँ टूट गयी हैं—झनझना कर जब बैस्टिल पर हमला बोला गया था, जब रामानन्द पर यवन ने थूका था, जब दयानन्द ने शिव की पिण्डी पर चूहे को पेशाब करते हुए देखा था, जब बोस्टन में चाय की पेटियाँ समुद्र में फिकवा दी गयी थीं—जब लिंकन मैटीस्वर्ग में दहाड़ा था—अमरीका आधा स्वतन्त्र और आधा गुलाम नहीं रह सकता—जब-जब गांधी ने अपनी पत्नी से लड़ाई ली और अफ्रीका के सत्याग्रह आश्रम में हरिजन लक्ष्मी को घर में रखा गया, जब जमींदारी नष्ट करने का कानून बना, जब गुलामी की प्रथा का अन्त करने के लिए अफ्रीका आँखें मल कर जाग उठा, तब इतिहास ने सहसा अनुभव किया कि वह आदमियों को चुनाव करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता—कुछ आदमी होते हैं जो इतिहास के दोराहे पर एक दिशा चुनने के लिए बाध्य करते हैं और वह दिशा उनके संकल्पों के कंकड़ों बनी राह में है…

डोरा इस तरह बहुत सोच में डूबी थी कि वहाँ स्टीव आया । हमेशा की तरह बहिर्मुखी, स्वच्छन्द वृत्ति से । उसने कुछ नहीं सोचा कि डोरा किस मनःस्थिति में है । मुझे चिढ़ाने के लिए कहना शुरू किया—

मिस्टर रामन्, गांधी अगर हिटलर की जर्मनी में होते तो वह उन्हें पाँच मिनिट में खत्म कर देता ।

मैं चुप रहा । मैंने निश्चय किया कि इस फौजी झूँस के चिढ़ाने से मैं नहीं चिढ़ूँगा । मैंने धीमे से कहा—जिसने किसी ने ईसा को सूली दी हो, वह भी यही समझता था कि अब ईसा से छुट्टी हो गयी । सच है न ?

स्टीव भड़ककर बोला—ईसा की बात मत करो । वह प्रभु का पुत्र है ।

स्टीव से डोरा की बड़ी बहस हो गयी इस 'सिट-इन' और सत्याग्रह की बात को लेकर । एक शाम स्टीव आया तो मैं और डोरा बेसी की बातें कर रहे थे । स्टीव ने पूछा—क्या बात है ?

—वही दक्षिण में काले-गोरों का झगड़ा !

स्टीव मेरी ओर देखकर गुर्राया—तुम फ़ॉरेनर (विदेशी) हो, तुम्हें हमारे देश के अन्दरूनी मामलों से मतलब ?

मैं चुप हो गया । मैं नहीं जानता था कि इतनी पहचान और मैत्री के बाद कोई इस तरह एकदम भभकेगा ।

डोरा ने बात काटी—क्यों नहीं ? वह भी आदमी है—उसे भी सहानुभूति दिखाने का पूरा अधिकार है । मैंने बेसी को यहाँ बुलाया है । वह यहाँ रहेगी मेरे साथ । तुम्हें पसन्द न हो तो मत आया करो मेरे यहां । स्टीव, तुम्हारे लिए

दुनिया में आदमी-आदमी के बीच दीवारें हैं। मानवता कटी-बँटी है। मैं ऐसा नहीं सोचती, मैं इस तरह जी ही नहीं सकती।

स्टीव पता नहीं क्या-क्या तर्क देता रहा कि गोरे-काले मिलकर वर्णसंकर हो जायेगा। मिश्रित सन्तान का भविष्य क्या होगा? गोरी जाति का सारा सौन्दर्याभिमान नष्ट हो जायेगा। और नीग्रो कैसे गन्दे रहते हैं, उन्हें प्राथमिक स्वच्छता का ज्ञान नहीं···

डोरा लड़ने पर भरी बैठी थी—किसने रखा उन्हें ऐसी हालत में? उलटा चोर साहूकार को डाँटे। यह तो वैसे ही हुआ कि कुत्ते को पागल कहो और गोली से उड़ा दो। स्टीव तुम्हारी-हमारी कभी नहीं बन सकती। तुम अपने लाम पर जाओ। कमीशन लो। ऐश करो। मैं उस तरह की ज़िन्दगी में घुटन महसूस करती हूँ—आर्मी मेसों में किसी कमाण्डो की बीवी के नाते मेरा परिचय मुझे सुखद नहीं लगता।

स्टीव—तो तुम क्या करोगी?

डोरा—मैं भारत चली जाऊँगी। वहाँ जंगली जातियों के बीच खोज-कार्य करूँगी—तुम्हें उससे मतलब? तुम अभी मुझे अकेला छोड़ दो। जाओ।

स्टीव ने अपना हैट उठाया। और तपाक से चल दिया—अच्छा तुम संन्यासिनी बन जाओ। उस बेसी के पीछे। बाद में पछताना नहीं। मेरे लिए ज़िन्दगी में बहुत-से बाग़ीचे खुले हैं। और मिस्टर रामन्—अल्विदा। तुमने ही इसकी मति बिगाड़ दी। अहिंसा किताबों में अच्छी है—ज़्यादह से ज़्यादह इतवार को पादरीजी के सरमन में। पर उससे आगे उसका स्थान प्रत्यक्ष जीवन में नहीं है। मैं सिर्फ एक तर्क जानता हूँ। और उसने इशारा किया—वह शॉटगन (पिस्तौल) है।

मैंने रूखी हँसी से कहा—वह तर्क नहीं, नरक है।

···और अख़बारों में पढ़ा कि बेसी को 'सिट-इन' की लीडर के नाते सज़ा हो गयी। अब तीन हफ़्ते बाद जब वह छूटेगी तभी कुछ हो सकेगा।

नौ

मैं इधर अकेला रहने से डरने लगा हूँ। कैसे तरह-तरह के विचार मेरे भीतर खुदबुदाने लगते हैं!

कभी बहुत-से धुएँ के कुकुरमुत्ते उठते हैं। अणु-विस्फोटों की तरह, कभी सहस्रों सूर्यों का प्रकाश कौंध जाता है, कभी ऐटॉमिक रिऐक्टर की तसवीरों में देखे हुए चमत्कारों की तरह जेब की लोहे की चेन और चाकू आपसे आप खिंच-

कर ऊपर गुम्बद के चुम्बक की ओर उड़ जाता है, कभी पानी की बहुत बड़ी धारा के नीचे कोई बहुत प्राचीन सोये हुए बुद्ध की मूर्ति जिस पर सिवार जम गया है धुँधली-धुँधली दिखाई देती है···

फिर यह चित्र फट जाता है। जैसे बिजली की कौंध में कुछ चमक जाये वैसे सिर्फ ऊँची-ऊँची सैकड़ों मंज़िल वाली इमारतें ही दिखाई देती हैं, जिनके आकार अब सिर्फ खिड़कियों के बड़े-बड़े खोकों के बदले उनमें से चेहरे झाँकने लगते हैं, और वे आकार कुछ भीतर अर्द्ध गोल मुड़कर मीनाक्षी के विशाल गोपुरम् का रूप ले लेते हैं। एक नदी पास से बहती है जिस पर झूलता हुआ पुल है—नदी का नाम, मिसिसिपी या कावेरी, समझ में नहीं आता—पुल की शक्ल लक्ष्मण झूले-सी है या गोल्डन गेट वाले कैलिफ़ोर्निया के पुल की, पता नहीं···

यह दृश्य एकदम धुँधला हो जाता है और मैं खारवेल के ज़माने की धौला-गिरि की गुफाएँ देख रहा हूँ : चट्टानों में खुदे हाथी महाबलिपुरम् के हैं या कोणार्क के, पता नहीं; उन पर जो छत्र-चामरधारिणी स्त्रियाँ खड़ी हैं प्रतिहारिणी की तरह उनकी शक्लें—फूले नथुने और ऊपर उठी हुई गाल की हड्डियाँ—डीट्राइट के नाइट क्लब के बाहर खड़ी जमेकन लड़कियों की तरह से है, नीवी से बँधी फूल-मालाएँ शायद बकुल-चम्पक की हैं या नायलोन की, पर वे झरती जा रही हैं, एक दाढ़ी वाला यक्ष फैज़ कैप पहने थाप दे रहा है और मंजरी के नूपुरों की ध्वनि उस हाथ से बजने वाले डफ से लटके घुँघरुओं से निकल रही है···

यह दृश्य फिर मिट जाता है और मैं देखता हूँ कि मैं एक ऊँची मीनार के ऊपर खड़ा हूँ और बादल में से एक ब्रेक लगाकर एक काला चेहरा बुलाता है 'हाय' (Hi)—चलो, सैर करा लायें। मैं जब अन्दर बैठा तो उसकी गति एकदम धीमी हो गयी। उज्जयिनी के हाटकों के ऊपर से नहीं जा रहा है यह मेघ-रथ, यह तो एक स्ट्रैचर ले जाने वाली ऐम्बुलेन्स कार है और उसमें स्टीव बुरी तरह ज़खमी हुआ पड़ा है। उसके घाव देखे नहीं जाते, जबकि सहसा उसके गले में से बेसी के गाने का रिकॅर्ड बजने लगता है, उसमें समुद्रगुप्त की वीणा-जैसा नाद-गाम्भीर्य है, उसमें पन्तुवरालि राग चापु ताल में बज रहा है। दरबान आख़िर नहीं माना उसे यदुकुला काम्बोची रागिनी सिखानी ही पड़ी···'वि द य मे'···

मेरा मन यों भटकता चला जाता कि मुरुगन की चिट्ठी ने उसे बीच ही में जगा दिया।

मुरुगन की चिट्ठी बहुत मार्मिक थी :

"मित्र रामन्,

दूर दस हज़ार मील पार बैठे हो। कुछ फ़िक्र भी है अपने पुराने दोस्तों की। रामनाथपुरम् में हुआ वैसा ही फिर दो दलित जातियों में दंगा हो गया। मेरी समझ में नहीं आता कब यह धर्म का भूत हमारे सिर से उतरेगा।

मैं चाहूँ तो देश के सारे देवालय खुदवा कर उखाड़ फेंकूँ। सबके अस्पताल और स्कूल बनवा दूँ। क्यों चाहिए भगवान् के नाम पर जीने वाले ये तुंदियल, श्राद्धभोजी, वेकार के परोपजीवी, ये अमर बेलें?

मेरा बस चले तो धर्मादाय, ट्रस्ट और इतने सारे देवस्थानम् के लम्बे-चौड़े चन्दे मैं आर्थिक योजनाओं में लगा दूँ। जब करोड़ों इनसान बेरोज़गार हों तो क्या फायदा है ऐसे सोने के खम्भे और सोने से मढ़े देवालय कलश जमा रखने से?

बहुत हो चुका हम ग़रीबों और पंचम वर्णों और अन्त्यजों का इतने वर्षों तक शोषण। हमसे कहा जाता है शान्ति से काम लो। अपनी ही सरकार है। नियम-कानून मानो। एलेक्शन लड़ो। संसदीय प्रणाली से सब करो। मेरे दल ने तय किया है कि यह कानून जो सवर्णों और ब्राह्मणों ने, औत्तरीयों ने और संस्कृत भाषियों ने बनाये हैं, ये कानून ही ग़ैरकानूनी हैं। वे कैसे हम पर लागू होते हैं?

हमें जंगली कहा जाता है। हैं हम जंगली!

हमें असभ्य कहा जाता है। हैं हम असभ्य!

हमें उच्छृंखल कहा जाता है। हैं हम उच्छृंखल!

अपशब्दों से क्या होता है? मेरी भाषा शेन्तमिष् में जहाँ प्रेम के लिए अट्ठारह शब्द हैं—गालियाँ भी संस्कृत से बढ़कर नहीं तो बराबर तो ढूँढ़ ही सकता हूँ।

पर मैं जानना चाहता हूँ: क्या किया इतने हज़ार बरसों में? क्या किया हिन्दुओं ने हमारे लिए? क्यों न हम धर्म-परिवर्तन कर डालें? क्या है हमारा भविष्य? कितने वर्ष लगेंगे हमें सभ्य नागरिकों के समकक्ष आने के लिए?

अभी परसों की बात है। हमारे गाँव के पास की एक बस्ती में शंकरन् को पकड़कर पेड़ से बाँधकर उसकी मूँछें जला दीं सवर्णों ने। उनका कहना था कि इसे अन्त्यज होकर मूँछें रखने का क्या अधिकार है? क्या यही मानवता और न्याय है?

अभी एक महीना पहले—मेरे गाँव का एक तेज़ लड़का शेषन् शहर में गया था। तेल्लिचेरी की एक ब्राह्मण अय्यर लड़की से उसे प्रेम हो गया। दोनों की रज़ामन्दी से वह उसे भगा कर ले आया। अब सारा तेल्लिचेरी उस शेषन् के परिवार-झोंपड़े को जलाकर भून देने के लिए जैसे मचल रहा है! क्या यही है समानता की डींग उस केरल में जहाँ दो साल तक समाजवादी शासन रहा?

उस दिन नागप्पा के घर की बुढ़िया ग़लती से उस मुहल्ले से निकल गयी जहाँ आबा का कोविल (मन्दिर) है। उसे मारने के लिए दौड़े पुजारी जब वह मन्दिर से सत्तर हाथ दूरी पर थी!

मैं कितने उदाहरण दूँ, रामन्? मैं तुम्हारा समय नहीं लेना चाहता ज़्यादा।

मुझे लगता है कि मैं इस देश से भाग जाऊँ ? तुम्हारे यहाँ कोई रास्ता हो पहुँचने का तो चला आऊँगा ।

मैं इस लीडरी से थक गया। नहीं खिचती यह गाड़ी अब मुझसे अकेले से। मुझे लगता है कि सामूहिक क्रोध को जगाना होगा। किसी विश्वामित्र के क्रोध और किसी अगस्ति की प्यास को जगाना होगा। टॉम ब्राउन का प्रेत यों सड़ता नहीं पड़ा रह सकता। वह पीछा करेगा। वह चुप नहीं रह सकता। वह आदि-शाप है, जो मानवता के जन्म से लगा है।

मैंने सुना अमरीका में काले हब्शी लोग भी बहुत मज़े में हैं। उनके पास मोटरें हैं, सेण्ट्रली हीटेड मकान हैं, उत्तम तनख़्वाह वाली नौकरियाँ हैं। क्या यह सच है ?

वहाँ सुना नीग्रो बेसबॉल में, पहलवानी में, जाज़ में बड़ा नाम कमा चुके हैं। हमारे यहाँ तो अपने गाँव का वह बूढ़ा कन्हन् अब भी मारा-मारा फिरता है। कौन सुनता है अब उसके गाने ? भक्ति में लोगों को रस नहीं रहा, उसके पास कोई नये टप्पे, सिनेमा के लटकेदार, गीत नहीं। अब उसकी आँखें भी जाती रहीं। अच्छा हुआ अब उसे बहुत-सी असमानताएँ नहीं देखनी पड़ेंगी।

रामन्, सच कहूँ, मैं पॉलिटिक्स के चक्र में फँस गया हूँ—पर इसमें से कोई हल निकलता मुझे नहीं दीखता। कोई और उपाय करना होगा।

क्रान्ति ?

या शिक्षा ? आमूलाग्र परिवर्तन के लिए मैं बहुत उत्सुक हूँ। पत्रोत्तर देना। मेरा ध्यान रखना।

सप्रेम—सघृणा (यह अपना पुराना सम्बोधन है)

मुरुगन"

मुरुगन की चिट्ठी पढ़कर मैं कुछ देर सन्न रह गया।

मेरा मन न जाने क्यों फिर यन्त्रवत् दोहराने लगा—

माँ कावेरी ! तेरा दर्शन पुण्य है। तेरा स्पर्श पुण्यतर है। तुझमें निमज्जन तो पुण्यतम है !

माँ कावेरी···

ऐन्थ्रोपॉलॅजी की झक में मैं उड़ीसा पहुँचा था। महानदी के पास के जंगलों में बड़ी वन्य जातियाँ हैं। रिसर्च और फ़ील्ड-वर्क के लिए बड़ा मौका है। सो वहाँ एक बार हम पहुँचे जब रथयात्रा और नवकलेवर पुरी में होने वाला था। पुरी के जगन्नाथ तो सब अनाथों के नाथ हैं। न वहाँ जातिभेद, न किसी ऊँच-नीच का ख़याल।

वहाँ सुना जगन्नाथ के पैर लकड़ी के हैं।

यह मामूली लकड़ी नहीं—समुद्र से बहती आती हुई बहुत पुरानी, भारी

लकड़ी। क्लासिक लकड़ी।

कहानी यों सुनी कि विश्ववसु नाम के चतुर ब्राह्मण ने जंगल में नीलमाधव का मन्दिर देखने की इच्छा प्रकट की। नीलमाधव ने उससे कहा—आँखें बन्द कर के ले जाऊँगा। ब्राह्मण ने कहा—हाँ, जैसे चाहो, ले चलो। मैं तो दर्शन के लिए अकुला रहा हूँ।

सो नीलमाधव ले चले। आगे-आगे नीलमाधव, पीछे-पीछे ब्राह्मण। वह चालाक था। हाथ में सरसों ले गया। और राह में बिखराता गया बीज। वहाँ जाकर आँख पर की पट्टी खुली। श्रीनाथ के दर्शन पाकर चित्त परम प्रसन्न हुआ। लौटकर देखा तो जहाँ-जहाँ सरसों डाली थी वह उग आयी थी और पगडण्डी बन गयी थी। पर यह बात उसने अपने पथ-प्रदर्शक को नहीं बतायी।

अब लौटकर ब्राह्मण के मन में और लालच जागा। राजा इन्द्रद्युम्न से बोला—चलिए जंगल बड़ा गुंजान है, वहाँ बहुत दूर जाकर एक ऐसी सुन्दर नीलमाधव की मूर्ति है कि बस आप उसे देखकर ही प्रसन्न हो जायें। राजा चला। तेरह लाख पैदल सेना लेकर। अब चले जा रहे हैं जंगल में और राह के ख़त्म होने का कोई ठिकाना नहीं ! राजा का कण्ठ सूख गया। सेना घबड़ा गयी। वह विश्ववसु कहाँ मानने वाले थे !

अब सरसों की नयी-नयी कोंपलों की पगडण्डी के सहारे जंगल के बड़े-बड़े पेड़ काटते हुए रास्ता बनाते वे आगे बढ़े। कई योजना पार करने पर एक जंगल के बीचोबीच जगह पहुँचे। दूर से ही उस मूर्ति के दर्शन होने लगे। कैसा सुन्दर कलश था ऊपर ! एक पूरा लिंगाकृति कलश वाला मन्दिर था या निरा भास था ?

—लो एक प्रचण्ड वन्या-जैसी तरंग बंगाल की खाड़ी से आयी और समूचे मन्दिर, नीलमाधव मूर्ति वाले उस सुन्दर स्वप्न को बहा कर ले गयी।

अब क्या करें ? राजा इन्द्रद्युम्न निराश हो गये।

तब आये वहाँ नारदजी ! वह डिप्लोमैटिक कॉरेस्पॉण्डेण्ट की तरह से सदा ट्रबल्ड स्पॉट पर पहुँच ही जाते हैं।

बोले—एक हज़ार अश्वमेध करो, तो बाद में कुछ फल मिले।

गुण्डिचघर के पास सरोवर झील का शिलालेख साक्षी है, राजा इन्द्रद्युम्न ने एक हज़ार अश्वमेध यज्ञ किये।

और अब यह चमत्कार हुआ कि समुद्र ने एक लकड़ी का बहुत बड़ा लट्ठा किनारे पर फेंक दिया। वह ऐसा था कि उसे लोहे की छेनियों से काटो तो ना कटे ! छन्न आवाज़ आये। पाँच हज़ार हाथी लेकर राजा फिर उस लकड़ी को खींचने पहुँचे। वह अपनी जगह से टस से मस न हो !

लकड़ी पर विष्णु की मूर्ति बनी है, ऐसा सब कहें।

रानी आयीं, पूजा की। वह लकड़ी का बड़ा चट्टान-जैसा टुकड़ा है कि हिले

ही नहीं !

फिर आये ब्राह्मण विश्ववसु। उन्होंने प्रार्थना की। और कहा कि महाराज मैं इसे ले चलता हूँ। पर एक शर्त है, अब आप जल्दी से मन्दिर बनवा दो। मूर्ति की प्रतिष्ठा तो बाद में होगी।

बारहवीं शती का वह विशाल मन्दिर बनवाया गया। राजा इन्द्रद्युम्न के पास बहुत-से नीग्रो ग़ुलाम मौजूद थे।

विश्ववसु बोला—अब एक और शर्त है। मैं तीन हफ़्ते तक इस लकड़ी के साथ तलघर में बन्द रहूँगा। मूर्ति पूरी हो जाने पर ही ऊपर लायेंगे। आप बीच में मत आना नहीं तो यह कभी पूरी नहीं होगी !

रानी से रहा नहीं गया। वह तीन हफ़्ते से पहले ही चली आयीं चुपके से देखने। तब तक जगन्नाथ के भाई के हाथों की जगह लकड़ी के खूंटे थे और सुभद्रा के तो हाथ ही नहीं थे ! मूर्ति वैसी ही रह गयी।

विश्ववसु मर गया। कहते हैं वह दफ़नाया गया।

हर बारहवें वर्ष अब नवकलेवर होता है। और मूर्ति बदलने वाला, उसकी सड़ी लकड़ी के बदले नयी लगानेवाला मर जाता है, ऐसा वहाँ का प्रवाद है।

फिर लोग रथोत्सव मनाते हैं। जगन्नाथ के नन्दिघोष रथ के सोलह पहिये होते हैं। बलभद्र के तलधज रथ के चौदह, सुभद्रा के देवदलन के बारह। पता नहीं कब के बौद्ध दन्तधातु-यात्रा का यह अवशेष है। जापान में अभी भी ऐसी शवयात्राएँ निकलती हैं, बुद्ध की।

देवताओं के हाथ-पैर क्या आखिर लकड़ी के ही होते हैं ?

सभ्यताओं के नवकलेवर में क्या लाखों लोग बलि हो जाते हैं उस रथ को खींचने में, उसके चक्रों के नीचे—

क्या सभ्यता के लकड़ी के हाथ-पैर ऐसे ही किसी समुद्र के तल से ऊपर फेंक दिये गये हैं ?

हम एक जंगल से कटे लट्ठों की तरह हैं जो दूसरे जंगल की ओर बहे जा रहे हैं। यह सब बीच का गोरखधन्धा है। यह व्यक्तमध्य बस "यथा काष्ठं च काष्ठं च" है।

माँ कावेरी ! तेरा नामाचरण पुण्य है, तेरा दर्शन पुण्यतर है, तेरा स्पर्श पुण्यतम है—तुझमें निमज्जन मुक्ति है !

हमने श्रद्धा, युद्ध और शान्ति के जगन्नाथ—बलभद्र और सुभद्रा बना लिए हैं। हर बारह साल हम बदलना भूल गये। सड़ाँध जमती चली गयी। कहीं

नीग्रो चीख रहा है; कहीं दलित अलग-अलग हो पड़ना चाहता है।

मैंने नीग्रो कवि सायरन 'ओ हिगिन्स की' किताब उठा ली। उसकी युद्ध-कविता 'सूर्यास्त का सिंगा' पढ़ने लगा—

हाँ हम जल्दी गये या थोड़ी देर से
और थोड़ी देर के लिए हमने देखा जात-पाँत, अलग-अलग विभाजन,
पन्थ, प्रजातियाँ
एक साधारण परिस्थिति के प्रवाह में भाफ बन गयी है
हमने अपने संघर्ष का मानवोपरि अर्थ ढूँढ़ा,
और उस थर्राते घण्टे में, प्रत्येक मिनिट, प्रत्येक छोटा सेकण्ड
हमारे ऊपर यों गिरा जैसे चाकुओं की बौछार हो,
हमने यहाँ एक क्षण पकड़कर थाम लिया, तब अकेले, या दो-दो, दस-दस
या चौंके हुए सौ-सौ की टुकड़ी में
हमें लोहा-जैसे पिट कर अन्दर धँस जाता है वैसा कर दिया गया…
हम कम हो गये…हमें मिटा दिया गया—
हमें बराबर और एक समान कर दिया।

फ़िज़ूल स्मारक मत बनाओ, हमें गहरे दफ़ना दो।
हमारी शक्ति दूसरी ही प्रतिष्ठा में स्पष्ट है;
हमारा मांस इस ज़मीन के ढलान में है, जिस पर झगड़ा होता है।
अब कोई नहीं है इनके सिवा, एक वसीयत, एक भयानक भविष्यवाणी…
एक दिन तुम सब जो बचे हुए हो सर्वनाश का अर्थ जानोगे
और ये पर्वत वोल्टेज से थर्रा उठेंगे;
और जंगल जलती झाड़ की तरह जल उड़ेंगे
और सितारे बम की तरह फटेंगे और ज़मीन पर आग की तरह बरसेंगे।
और ये इस्पात के शहर जहाँ प्रेम नहीं है…
…ओ, उस दिन
जब कि ज़बान लड़खड़ायेगा, और साँस इस सिंगे में अटक जायेगा
तुम्हारी जूडास आँखें, अन्त में सत्य तक पहुँची हुई, हमें खोजेंगी
और इस हिंसा की अतड़ियों से छुटकारे के लिए रकम माँगेंगी।

मैं सोचते-सोचते थक गया। मुझे नींद-सी आने लगी।

लकड़ी-लोहा-इस्पात…झाँझ-ड्रम—बन्द दरवाज़े पर कीलें, हाथियों की चिघाड़, हँसते हुए गैंडे—नीग्रो शिल्पकार की एक आर्त चीत्कार की मुद्रावली कलाकृति…

झुण्ड-झुण्ड हाथियों का खेड्डा पद्धति से जंगल में पकड़े जाना…हाथियों से

लट्ठे उठवाना —उनके दाँतों से बाँधकर उन्हें घसीटते ले जाना—काष्ठमन्दिरों में सुन्दर कारुकार्य, पद्मनाभपुरम् प्रासाद में वनौषधियों की लकड़ी का पलंग, नीग्रो परिचारिकाएँ, सफ़ेद झक कपड़े, काले-काले आधे ढँके मुँह और बड़ी गोल अचरज से भरी आँखें !

श्वाइट्ज़ार का रुग्णपरिचर्यालय···संगीत का अनादि उपचार···हस्तिदन्त की वीणा·· लायर के ढंग का संगमरमर का बाजा···डायना और हिरणों के बच्चे···लीडा के श्वेत हंस-दययन्ती·· आधा कपड़ा अपनी बीवी का फाड़कर पहनने वाला दुष्ट नीग्रो—सब कपड़े शराबख़ाने में जुए में हार आया !

लकड़ी के छोटे-छोटे झुनझुने···काठ गोदाम में अलकनन्दा से बहती आती हुई··कर्तियांग की छोटी रेलगाड़ी और काठ के डिब्बे···मेरे आपके हाथ-पैर टूटने पर उसे लगाये जाने वाले काठ के नकली हाथ-पाँव-बैसाखियाँ—जगन्नाथ का ऑपरेशन हुआ है। वह अभी-अभी चीन-जापान युद्ध से लौटा है। दोनों हाथ बेचारे के काट डाले गये।

मैं देख रहा हूँ ज़ोरों से जाज़ चल रहा है। सारे हॉल में जैसे लोग झूमझूम कर नाच रहे हैं। किसी के बदन पर कपड़े नहीं हैं। घास के स्कर्ट सबने पहन रखे हैं।

किसी-किसी के हाथ में भाले हैं और वे उछाल रहे हैं। कानों में गोल-गोल कर्णाभूषण हैं, गोरखपन्थियों की तरह—

जाज़ उभरता जाता है। सारी मण्डली रसोन्माद में है।

मैं देखता हूँ कि जाज बाहर चल रहा है। भीतर तो कुछ और ही मामला है। तेवारम् चल रहा है। दिव्यप्रबन्धम् गाया जा रहा है। भक्त-मण्डली जुटी है। सवेरे से शाम तक भजन चल रहे हैं। पुजारियों की मौज है। प्रसाद ही प्रसाद के ढेर लगे हैं।

भूखा नीग्रो बच्चा गार्बेज केन में से रोटी के टुकड़े चुन-चुनकर खा रहा है। अस्तित्ववादियो ! यही तुम्हारी चुनने की स्वतन्त्रता है।

भूखी हरिजन स्त्री विश्वनाथ के मन्दिर के बाहर कोढ़ियों की कतार में कटोरा खनखना रही है। करपात्रियो ! यही तुम्हारी आर्य-संस्कृति की या 'आसिन्धुसिन्धुपर्यन्ता' हिन्दूपदपादशाही है !

भूख एक मस्त हाथी है जो जंगल में भाग रहा है ! उसके गले में अभी किसी ने ऐसा लट्ठा नहीं बाँधा कि उसकी गति रुक जाये।

बेसी-डोरा-कावेरी—मार्था-सुजान-यशोदा—यह सब नाम उसी सुभद्रा के हैं जिसके हाथ नहीं हैं। यह सब नाम उसी माँ के हैं जो मर गयी है। यह सब नाम उसी बहन के हैं जो बाल-विधवा है। और उसी अजात-शिशु के हैं, जहाँ कि लड़की न जनमे इसके लिए गाँवों-देहातों में मनौतियाँ रखी जाती हैं।

एक नदी का पानी गँदला है, दूसरी नदी का पानी गँदला है : सभी नदियों का पानी ऐसा मटमैला क्यों है ? क्या उनके मूल में कोई मिट्टी के ढेले खिसक आये हैं। या राह में कोई कटाव हो गया है। सभ्यता नदी नहीं है। सभ्यता नारी नहीं है। वह मैली हो ही नहीं सकती। वह अच्छाई-बुराई से परे, निरी ट्रैजेडी है। निरा दर्द, निरा झरता हुआ शिशिर का पत्ता, गिरता हुआ नक्षत्र, रिल्के की कविता, और ग़ालिब की ग़ज़ल। वह एक पहेली है। जिसके सुलझाने की राह में कई सरल फार्मूले हाथ लगते हैं, जो सब के सब अधूरे साबित होते हैं। सभ्यता गणित से और सांख्यिकी से परे—कहीं छिपी है यूरेनियम के कणों-सी—

माँ कावेरी ! तेरा नाम अब मैं भूल गया हूँ—

एक राह यह भी है कि दुनिया की सारी झंझटों को हँसकर टाल दिया जाये—पर यह कैसे सम्भव है ?

स्टीव कर सकता है सब चीज़ों को नज़र-अन्दाज।

पर मैंने जब दुःख की घाटी का तल जो देख लिया, अब मेरा सिर चकराये बिना कैसे रह सकता है ? मैं खुद बौना बनता जा रहा हूँ जैसे वह स्तम्भों के शीर्ष दो हाथों से उठाने वाला यक्ष···

मेरे टेबल पर यह जो पीतल का हँसता हुआ कुबेर है, जिसे लॉफिग बुद्धा कहते हैं लोग, वह मेरी ओर ही देखकर हँस रहा है।

मेरा मन फिर भक्ति-विह्वल हो उठा। मैं जानता हूँ विज्ञान के इस युग में यह सब बड़ा ही आदिम ढंग है सोचने का कि संगीत से मनःशान्ति मिलती है। पर मैं क्या करूँ ! मैं गुनगुना रहा हूँ त्यागराज की एक सुन्दर कृति। तोडि रागिनी में आदिताल में—

कोटिनदुलु

कोटिनदुलु धनुष्कोटिलो मुंडग
षेटिकि तिरिगेदवे ? ओ मनसा।
सूटिग, श्यामसुन्दर मूर्ति नि
माटि माटि वि जूचे महाराजुलकु
गंग नुपुरंबननु जनिश्चनु—
पोंगुचु श्री रघुनायुनि प्रेमतो
वोगडे त्यागराज मनवि विनवे।

हे मन ! त्यागराज की बात सुन
श्री रघुनाथ दास के प्रेम की महिमा है
कि कोटि नदियाँ धनुष्कोटि में उपस्थित हैं

गंगा उसी के पादपद्म से निकली।
कावेरी भी तो उसी श्यामसुन्दर मूर्ति से निकली
क्यों नाहक़ तीर्थ-यात्रा करने में समय गँवाते हो !

यह भजन जब गाया जाता है तो आदिताल की चतुरस्रजाति या सम्पुट कहने वाले ग़लती करते हैं। वह तो एकताल है। संगीत के आरम्भ में अतिताल, झम्पाताल नाम से यह कितने प्राचीन काल से उत्तर में प्रसिद्ध है। कहाँ है इस ताल के आगे उत्तर और दक्षिण ?

जैसे जाज़ में सब एकाकार हो जाते हैं !

यह विलम्बित ताल है जिसमें लघुक्रिया होती है, वह मध्यम लय से द्रुत-अनुद्रुत होती हुई सशब्द क्रिया तक पहुँचती है। 'एषडि तालम्' इसीलिए कहा गया।

कथा है, एक देवदासी थी। सवेरे-सवेरे उसे भगवान् ने पुरन्दरदास के रूप में आकर एक रत्न-कंकण दिया। देखते हैं तो विट्ठल के हाथों से एक मणिकंकण ग़ायब है। अब तो उसे एक खम्भे से बाँधकर उसकी पिटाई की जाने लगी। देखते-देखते उस खम्भे के रूप में पुरन्दरदास ही प्रकट हुए। दासी थम्भ तब से बना। गाया जाने लगा। अब सब गाते हैं और झूम-झूमकर उस पत्थर में चमत्कार की उपासना करते हैं।

सभ्यता धीरे-धीरे हमें काठ बनाये डालती है। पत्थर बनाये दे रही है। हमारी भावनाओं के रत्नकंकण चोरी चले जा रहे हैं, और हम शिकायत भी किससे करें ?

···सब चुप, साहित्यिक चुप और
कवि-जन निर्वाक्
चिन्तक, शिल्पकार नर्तक चुप है;
उनके ख़याल से यह सब गप है
···
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।···

(ग० मा० मुक्तिबोध)

दस

जो और ब्रेसी की कहानी यों बिखर गयी। जीवन में ऐसा ही होता है। हम कहते हैं कि कहानी हमारे मन लायक चले। वांछित फल मिले—पापी को सज़ा मिले, पुण्यवान् आनन्द करें। और सब कुछ ठीक चलता चले, कोई बाढ़ न आये, कोई चट्टान न टूटे, कोई ऐसी बात न हो जिससे किसी का मन दुखे,

और सब सुख पायें। दूधों नहायें, पूतो फलें।

पर सब सुख में नहीं रह पाते, सब निरामय नहीं रह पाते, सब भद्र ही नहीं देख पाते—आज की दुनिया इतनी सीधी नहीं रही। उसमें उलझाव है और पेच हैं। बारीकियाँ हैं और हर एक छोटी से छोटी बात की भी सैकड़ों प्रति-क्रियाएँ होती हैं।

पर इस बहकने से क्या फ़ायदा? मैंने दुनिया के नवकलेवर का बोझ अपने ऊपर नहीं लिया है। मैं तो बता रहा था कि जो से कैसे फिर मुलाक़ात हुई।

कैलिफ़ोर्निया से ईस्टर की छुट्टियों में हम रेडवुड्स, यूसोमाटी गये थे। कई विद्यार्थी—डोरा भी थी, और कुछ मित्र थे। गिटार बजाने में होशियार हमारा दोस्त डैम भी था। और विवियन भी और जून भी।

सवेरे से चलकर काफी दूर जाकर विश्राम राह में करना पड़ता है। बसें फिर चक्करदार ग्लेशियर प्रान्त और दुलहिन के प्रपात से लेकर मकई और फलों के बग़ीचों के मीलों तक फैले विस्तार में से गुज़रती हैं। दोपहर जाकर वहाँ पर पहुँचना होता है। हमने पहले से तम्बू रिज़र्व कर रखे थे। बड़ी ही शान्त सुखद जगह। आज रात इस अलकपितान नाम की बहुत बड़ी पहाड़ी चट्टान के नीचे विश्राम करना है। कल सवेरे बड़े-बड़े तीन हज़ार बरस पुराने वृक्ष देखने जायेंगे जो सिर्फ अब कंकाल रूप में अवशिष्ट हैं। कहीं-कहीं तो जले हुए पेड़ के तने में बड़े-बड़े दरवाज़े के आकार के गोल छेद हो गये हैं। उनमें से घुसकर ऊपर पेड़ के खोखले तने से चाँद दिखाई देता है। कहीं इतना बड़ा पेड़ का तना है कि उसके नीचे मेहराब-सी काट ली है, मोटर उसमें से आराम से गुज़रती है।

यह एक अद्भुत—रम्य स्थान है। यहाँ रोज़ शाम को एक उत्सव होता है। शाम वैसे जल्दी ही हो जाती है। कई मन, हज़ारों टन लकड़ियाँ यहाँ हर हफ़्ते जलायी जाती होंगी। ऊपर ले जायी जाती हैं, पहाड़ी की चोटी पर उनकी आग जलायी जाती है और फिर तीन-चार सौ फुट ऊपर से उस आग को नीचे फेंका जाता है। आग का झरना लोग डूबते हुए सूरज की अन्तिम किरणों में देखते हैं। धीमे-धीमे नीचे उतरता हुआ, राख होता हुआ। यह वहाँ के रेड इण्डियन आदिवासियों की पुरानी प्रथा है। और उसे टूरिस्टों के लिए उसी ढंग से पुनरुज्जी-वित किया जाता है। साथ में आदिवासियों की सीटियाँ और एक-दूसरे को पहाड़ की चोटी से बुलाने की हू-हू आवाज़ें और उनके गीत भी ज़ोर-ज़ोर से बजाये जाते हैं। नीचे पैविलियन में बैठे हुए हज़ारों लोग यह दृश्य देखते हैं। उन्हें लगता है कि वे आज की दुनिया में नहीं बैठे हैं। कई हज़ार बरस पहले के यूसोमाटी में पहुँच गये हैं।

फिर पैविलियन में पुकार होती है—'प्रवासियों में से कोई है, जो आगे आ कर हमें गाना सुनाये। लोकगीत, बच्चों के गाने, कुछ भी।' ऐसी बातें वहाँ से

हो रही थीं।

मैं पैविलियन की ओर पीठ किये, शाम के घिरते अँधियारे में डूबती अन्तिम चिनगारी को आँखों से झेल रहा था। वह आग पहले नीचे बड़े वेग से उतरी, फिर कण-कण होकर विखर गयी। यह भी कैसी आदिम प्रथा है? सभ्यों के मनोरंजन के लिए रोज़ जंगल काटे जाते हैं। इस तरह से बरबाद होती है लकड़ी, अच्छी लकड़ी जिसका उपयोग होता—कहीं किसी ग़रीब को ईंधन मिलता, किसी की कड़छी बनती, किसी की शायद कठौती होती···

पर यहाँ उपयोगिता की बातें बेकार थीं। यह विराट् सौन्दर्य का साक्षात्कार मन में न जाने कैसी करुणा उपजा रहा था।

कि सहसा पैविलियन पर जो को पुकारा गया। जोज़ेफ—जाज़ के प्रसिद्ध गायक! हमें गर्व और खुशी है कि हमारे बीच यहाँ मौजूद हैं। वे ऊपर मंच पर चले आयें।

जो बहुत संकोच में पड़ गया। मंच पर जाकर बोला—मैं यहाँ चुपचाप कुछ दिन आराम करने आया था। आपने ख़ामख़्वाह मुझे बुला लिया। अब वह पुराना 'जो' नहीं रहा। न वैसा दम ही है। मेरे बाजे भी यहाँ कहाँ हैं?

पर लोग कहाँ मानने वाले थे। उन्होंने वाद्य जुटा दिये। और जो ने अपना वही पुराना दर्दीला स्वर छेड़ दिया।

एक घण्टा लोग झूमते रहे। स्वर-समुद्र में डूबते-उतराते रहे। उनका मन एक बिना पाल के जहाज़ की तरह भटकता रहा—एक ही जादुई चुम्बक की चट्टान के आस-पास। जो कई दिनों से गाता नहीं था। 'आउट ऑव प्रैक्टिस' था। पर पुरानी कमायी हुई संगीत-ज्ञान की पूँजी थी और लोग थे कि आग्रह किये जा रहे थे। फरमाइशें टूटी पड़ रही थीं—वह गीत, और वह दूसरा, और वह फलाँ गीत···

गाना ख़त्म होने पर मैं मंच पर पहुँचा। जो की बाछें खिल गयीं—

—ओह, राम्!

मैंने पूछा—कहाँ ठहरे हैं?

—और डोरा भी आयी है?

—हाँ, वह सहेलियों के साथ घूमने-घामने गयी है। सुना है यहाँ जंगल के पुराने पेड़ों का और लकड़ी का बड़ा अच्छा म्यूज़ियम है। डोरा वही देखने गयी है।

—बहुत अच्छे।

अब जो और संयत और मितभाषी हो गया था। उसका चेहरा सहसा पुरानी बातों की यादों के वन में जैसे भटक गया। उदास और फीका पड़ गया।

मैंने ही आश्वासन दिया—चलिए हमारे साथ, हमारे तम्बू में। आपके साथ और कोई है?

—मेरे साथ और कौन होगा? रामन्, जो कुछ साऊ दे सकता था वह सब

पीछे छूट गया। अब मैं सिर्फ दिन गिन रहा हूँ। कब एक दिन मौत आये और उठाकर ऊपर ले जाये। बस, आखिरी दिन के इन्तज़ार में मैं बैठा हूँ। जीने में अब कोई मानी नहीं रह गये।

—क्यों ? यह संगीत है, यह जाज़ है। इससे कितने हज़ारों को तुम आनन्द दे रहे हो। यह क्या कम सार्थकता है ? मैंने छेड़ा।

जो चलता था रुक-रुककर। पुरानी गति उसकी नहीं रही थी।—कला ? यह बड़ी मायाविनी रखैल है, मिस्टर राम, एक क्रूर मिस्ट्रेस। तुम्हारा बूँद-बूँद रक्त आख़िर तक चूस लेगी और शायद कुछ भी नहीं देगी बदले में ! थोड़े-से सिक्के, थोड़ी-सी शोहरत—यह तो अपने-आप में काफी नहीं है। कला आपको आदमियों की बस्ती में से ऊपर कहीं ले जाती है। वह इनसानी रिश्तों के सब दरवाज़े बन्द करा देती है। और सिर्फ बचा रहता है एक नशा जिसमें भूलना-ही-भूलना है। याद कोई नहीं रहती, और याद रखकर होता भी क्या है ?

फिर हम उसे ले गये। धीरे-धीरे उसे बेसी के दुःखों की कहानी सुनायी। उसे नीग्रो 'सिट-इन' का माहात्म्य भी सुनाया। जो सिर्फ शराब पीता रहा और हुंकारता रहा। उनका मन अब इतना शान्त हो गया था कि बेसी के नाम से वह एकदम गुस्से से भभक नहीं उठा। जैसे यह झरना है, यह ग्लेशियर की झील है, यह चट्टान है, यह तीन हज़ार बरस के पुराने पेड़ हैं, यह तम्बू हैं, यह बाजे हैं—वैसे ही, वैसे ही बेसी भी है, पुरानी यादें हैं, मार्था है, जेम्स है, पागल बहन है। एक यादों का सुनसान, भयावना, वर्षों से चुपचाप पड़ा हुआ जंगल है। और वहाँ तक जाने की पगडण्डी भी अब मिट गयी है।

जो ऐसी उपराम, बीतछन्द स्थिति में आ पहुँचा था। सिर्फ शराब थी जो उसे सुख, वह भी क्षणिक, दे पाती थी। वैसे उसे कोई शारीरिक दुःख नहीं था। बाल सफेद हो आये थे, मुँह की झुर्रियाँ और गहरी हो गयी थीं। पर भीतर से जैसे कुछ चुक गया था। कुछ रेगिस्तान बन चुका था, डेड-सी···

हम लोगों के आग्रह से तीन दिन की सैर के बाद हम जो सैनफ्रान्सिस्को ले आये। उसके लिए एक कमरा ठीक कर दिया। और कहा कि नॉर्थ बीच जब-जब हम जाते रहेंगे तो कोई-न-कोई उन्हें भी साथ ले जाया करेगा। जो को संगीत सुनने से शौक है, तो वही होगा। उनका नाम बदलकर उन्हें, उनकी इच्छानुसार अज्ञातवास में रखा जायेगा।

एक रात को ऐसे ही नार्थ बीच में हम सब सैलानी ढंग से निरुद्देश्य 'हँग्री हाई' होटेल पहुँचे। होटेल में घूम रहे थे – देखते हुए कि कहीं कुछ मनोरंजन मिल जाये। उस जगह पहुँचे तो सुना एक किसी नर्तकी का नाच चल रहा है। बड़ी भीड़ है। हम भी कहीं पीछे जाकर खड़े हो गये। यह कोई सुन्दरी नहीं थी। फ्रेंच

मद्यों की तरह लाल-सुनहरे उसके बाल थे; नीली आँखें थीं—वह अपनी उम्र छिपाने का प्रयास करने वाली स्त्री थी। और जैसा ऐसे सब नाचों में होता है, वह उत्तेजक गाने गा रही थी। और श्रोता बड़े रस से छोटी-छोटी कुरसियों पर बीअर के मगों और शराब के जामों से घिरे उस भड़कीले संगीत का आनन्द ले रहे थे। और वस्त्र उतारते जाने वाले नाच में भी किसी-किसी की रुचि थी—घूर-घूर कर कोई मिडिल ईस्ट की तरफ का आदमी उस ईषद्दीपित मंच की ओर देख रहा था। मानो उस अर्द्ध-दिगम्बर आकृति की आँखों से पी जायेगा—

'जो' भी हमारे साथ रहता; पर वह शराब में ही डूबा रहता।

(मुरुगन क्या कर रहा होगा ?)

सुना था बेसी भी जेल से छूटकर कैलिफ़ोर्निया आयी है। वह अब अपने नीग्रो-मुक्ति-आन्दोलन में पूरे प्राण-पन से जुट गयी। उसकी दूसरी चिट्ठी आयी थी, वह बड़ी सन्तोषप्रद थी। डोरा ने मुझे वह पढ़ने को दी थी।

"प्रिय डोरा,

जब मैं 'सिट-इन' के सिलसिले में जेल में गयी तो किसी ने दया की याचिका माँगी कि छोटा बच्चा है, इसे छोड़ दीजिए। पर मैंने इस बहाने पर और साथियों से दूर रहने से इनकार कर दिया। बच्चे को मिसेज़ ड्युबॉय सँभाल ही रही थीं। ऐसा कोई संकट नहीं था।

जेल में उन्होंने हमें अच्छी तरह रखा। कोई अभद्रता नहीं दिखायी। सभी गोरे-काले हृदय के नहीं होते। डोरा, हमारे आन्दोलन में कई अच्छे गोरे विद्यार्थियों, प्रोफेसरों, लेखकों-पत्रकारों, वकीलों और कुछ नये व्यापारियों का भी सहयोग था। हमारे लिए छूट थी कि चाहे तो हम मुचलके की या ज़मानत की रकम दें, और सज़ा से छूट जायें, या सज़ा भुगतें। हमने दूसरा मार्ग ग्रहण किया। अब तो आन्दोलन विराट् रूप धारण करने लगा। एक टुकड़ी पकड़ी जाती, कानून तोड़ने के लिए, कि दूसरी मौजूद थी अधिकतर संख्या में। यों सैकड़ों ने इस 'सिट-इन' में भाग लिया।

पर कुछ स्टोअर-हाउसों के मालिक संगदिल थे। वे नहीं बदले। कई तरह के बहाने देते थे। हम क्या करें, हमारे गाहक, और शेअर-होल्डर नहीं मानते। कुछ कहते थे, हम ही पर ये धरना क्यों, और भी तो जगहें हैं—स्विमिंग पूल पर धरना नहीं देते ! 'स्विम-इन' सत्याग्रह की भी बात हमारे आन्दोलन वालों के मन में चल रही थी।

खैर, यह सब तो तुमने अखबारों में भी पढ़ लिया होगा। इधर एक और अच्छी बात हुई। जैम्स कई जगह निराश होकर यहीं आ गया है। और हम दोनों सैनफ्रान्सिस्को इस ईस्टर में आने की सोच रहे हैं। उसके लायक शायद काम

मिल जाये। मैं पहले जैम्स से बहुत नाराज़ थी कि वह भी एकदम ग़ैर-जिम्मेदार हो गया है। कुछ फिक्र नहीं है अपने बीवी-बच्चे की। पर पत्र आते रहते थे, और मैं आश्वस्त थी कि एक दिन वह लौटकर आयेगा। उसकी अपनी सन्तान थी, उससे वह कैसे दूर रह सकता है ? क्या माँ का ही दिल होता है, बाप का नहीं ?

वह आया तब मैं जेल में थी। जेल से जिस दिन छूटने वाली थी, जैम्स मुझे लिवाने के लिए पहुँचा था। अब उसकी छोटी-सी लाल रंग की दाढ़ी उस चेहरे पर और भी अच्छी खिलती थी। उसने आते ही अपने बातचीत के बहुत स्नेहमय ढंग से, चुटकुलों से और विनोद-भरे बरताव से सबसे मैत्री कर ली थी। जैम्स अब आ गया और मेरे हाथ मज़बूत हो गये। अब मैं आराम से सौ बार अपने आदर्शों के लिए जेल जा सकती हूँ।

अपना सैनफ्रान्सिस्को का अता-पता देना। किसी भी दिन हम वहाँ आ धमकेंगे। और फिर तुम्हारा घर तो अपने घर-जैसा ही है।

तुम्हारे मित्र स्टीव का क्या हुआ ? उसके बारे में तुम पत्रों में बहुत लिखती थीं और वह भारतीय दोस्त—वह अपने देश लौट गये क्या ? मुझे सेण्ट लुई के उन दिनों की बराबर याद आती रहती है। कितनी मदद और सहानुभूति हमें तुम सब लोगों से मिली।

मैं कहती हूँ, आदमी के बाहर के रंग से कुछ आता-जाता नहीं। अच्छे-बुरे लोग गोरे-काले दोनों में होते हैं। मुझे तो लगता है कि यह 'सिस्टेम' होती है—एक सामाजिक प्रणाली—जो आदमी को अच्छा या बुरा बनाती है। बहुत थोड़े लोग होते हैं, जो उस चक्की से घिस-पिस कर बाहर आ पाते हैं। अधिकतर लोग तो भेड़िया-धसान वाले ही होते हैं।

वैसे बचपन में और किशोर वय में सभी आदर्शवादी होते हैं। सपने सबके मन में तैरते रहते हैं। और बहुत थोड़े हैं जो आदर्श के लिए कुछ बलि देने की जब परीक्षा की घड़ी आती है तो उसमें टिके रह पाते हैं।

पर मैं यह सब तुम्हें क्यों लिख रही हूँ। क्या यह तुम नहीं जानतीं ?

सप्रेम—

बेसी"

बेसी और जैम्स कैलिफ़ोर्निया आ गये। और बेसी तो अपनी 'नेशनल ऐसोसिएशन फॉर द ऐड्वान्समेण्ट ऑव क्लर्ड पीपल' (एन-ए-ए-सी-पी— रंगीन यानी काले लोगों के विकास के लिए राष्ट्रीय संघ) के कार्यालय में ठहरी। हमें बीच-बीच में मिलती थी। सूचना देती थी कि फलाँ जगह मीटिंग है, या रैली है। देखना हो तो आ जाओ।

एक दिन नॉर्थ बीच के एक कैफ़ेटेरिया में मुझे जैम्स और बेसी मिल गये।

हम बैठकर बातें करने वाले थे कि पता नहीं क्यों जैम्स, जैसे उसे किसी भूत ने छू लिया हो, ऐसे सहमते-सहमते उठा और दूर चला गया, भीड़ में कहीं खो गया।

देखा तो एक बहुत-सा मॅस्केरा (सुरमा) आँखों में लगाये एक बड़ी भद्दी-सी, खूब रंग से लिपी-पुती और ज्वाला-रंगी लिपस्टिक से आभूषित, स्त्री हमारी ओर घूरकर देख रही है। उसके साथ वाले व्यक्ति ने उसका कोट उतारा। गले में उसके खरे मोतियों का एक कण्ठा था और कानों में रत्नाभूषण थे। फिर मुड़-मुड़कर वह स्त्री हमारी ओर देखने लगी। हमें उसका ऐसे देखना अच्छा नहीं लगा।

दोनों के बीच में कुछ फुसफुसाहट हुई। और उस औरत के साथ का आदमी आकर हमसे फ्रेंच में बोला—आपके साथ का आदमी कहाँ गया ?

—हम नहीं जानते—मैंने कहा—क्यों ? क्या आप उसे जानते हैं ?

—हाँ वह तो ऐक्टर है। हम स्टेज पर साथ थे—उसकी बात से लग रहा था कि वह झूठ बोल रहा है।

—बहुत खुशी हुई। आइए हमारे साथ बैठिए।

— नहीं, मार्था उधर अकेली है। वह आये तो कहना, मार्था उसे बुला रही है।

मार्था का नाम सुनते ही जैसे हमारे दिमाग़ में बिजली कौंध गयी ? जोज़ेफ या 'जो' को छोड़कर वह केनाडा चली गयी थी। वहाँ से फ्रान्स। वह अपनी माँ का पेशा करती थी, ऐसा सुना था। वह यहाँ नॉर्थ बीच पर क्यों आयी ? और यह सन्देहास्पद आदमी तो उम्र में उससे बहुत छोटा जान पड़ता है, लम्बे बालों और गन्दे कपड़ों वाला क्यों है उसके साथ ! मैंने मन में सोचा—क्या ये गाहकों की तलाश में हैं ?

हमें वहाँ अच्छा नहीं लगा। हम उठकर दूसरे एक काफे में चले गये। जैम्स वहाँ भी नहीं मिला।

बाद में घर पर आने पर पता लगा कि जैम्स ने फोन किया था। वह घबड़ायी-घबड़ायी आवाज़ में कह रहा था—वह मार्था मेरी जान लेने पर तुली है। वह समझती है मेरे पास उसकी सब गुप्त बातें हैं। वह मुझे कभी माफ नहीं कर सकती, इस बात के लिए कि मैंने एक काली लड़की से प्रेम किया। यह उसके लिए असह्य है। वह एक भयानक प्रतिहिंसा-प्रिय नारी है। उसने ऐसे कई पुरुषों को जीवन से नष्ट कर दिया। उसकी एक पुराने शो-रूम के स्पैनिश मालिक से जान-पहचान थी। एक दिन यह पाया गया कि वह ग़ायब है। बाद में उसकी लाश एक सन्दूक में बन्द तैरती हुई मिली शिकागो नदी के एक ख़राब हिस्से में। वह भयानक स्त्री है। उससे मुझे बचाओ।

यह और एक नयी समस्या पैदा हुई। अमरीका की सारी काली जमात को—वर्णद्वेष के शिकार नागरिकों को—समान हक और स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के

फल चखने मिलें, इस बात के लिए बेसी ने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था। और यहाँ दो गोरों के बीच में—शायद रिश्तेदारों के बीच ठनी थी। मार्था के दोस्त कई गुण्डे हैं। 'अण्डर-वर्ल्ड' के कई बदनाम 'दादा'। अब क्या किया जाये? क्या पुलिस को इत्तिला दी जाये? हम लोग बहुत कुछ सोचते रहे। डोरा पुलिस को ख़बर देने के पक्ष में नहीं थी। बेसी कहती थी—पुलिस को कहकर भी क्या होगा? इस इलाक़े में वह बहुत कारगर नहीं है। मैंने सीधे कानून की शरण लेने की सलाह दी थी।

देश-देश का कानून अलग होता है। और अमरीका में तो हर प्रदेश के इस बारे में नियम अलग-अलग हैं। क्या किया जाये···

ख़ैर, इसी पसोपेश में कई दिन बीत गये।

और एक उदास शाम को, हम सब सैलानी ढंग से निरुद्देश्य 'हंग्री हाई' पहुँचे। और सुना कि एक फ्रेंच नर्तकी यहाँ नाच रही है। जो भी हमारे साथ था। हमें पहचानने में देर नहीं लगी कि वह नर्तकी और कोई नहीं पर मार्था थी। हमने वह भी देखा कि 'जो' हमारे पास खड़े से पता नहीं कहाँ चला गया।

नाच के बाद तालियाँ बजीं और कड़कड़ाहट पूरी होने के बाद वह नर्तकी डायस से उतरकर सामने बैठे हुए लोगों में से राह निकालती हुई आगे बढ़ती चली आयी। उसने मुझे और बेसी को और डोरा को देखा और ठिठक गयी। फिर उसने बड़ी-बड़ी आँखों से घूरा। हमारे पीछे कहीं जैम्स खड़ा था। उसे कटार-जैसे तीक्ष्ण कटाक्ष से देखकर वह चली गयी।

हमने राहत की साँस ली। चलो यह पाताल-नागिनी चली गयी—कुछ अनहोना घटित नहीं हुआ। हमें ख़ुशी हुई यह सब देखकर।

पर नहीं।

बात टली नहीं थी। दस मिनिट बाद वह नॉर्मल कपड़े पहनकर एक लाल कोट पहने वहाँ चली आयी, और फिर हमें ढूँढ़ने लगी।

—कहाँ है जैम्स? वह चीख़ी।

जैम्स ने गरदन नीचे करके वहाँ से उलटे पैरों खिसक जाने की सोची थी कि उधर से कहीं उसे जोज़ेफ़ दिखाई दिया। वह भी कहीं चला नहीं गया था; शायद मार्था की तलाश में था।

डायस पर जाज़ चल रहा था। ज़ोरों-ज़ोरों से वाद्यों की झनझनाहट चल रही थी। काफ़ी कोलाहल था। उसी में यह फ्रेंच नर्तकी मार्था बराबर तेज़ी से सरकती हुई पहुँची उसी दिशा में जहाँ जोज़ेफ की पीठ थी और उसकी ओट से जैम्स की लाल दाढ़ी का एक गुच्छा दिखाई देता था।

अब हम भी उस दिशा में बढ़े। हमने सोचा अब बड़ा वाग्युद्ध होगा। शायद

हॉल की शान्ति नष्ट हो। तालियों की गड़गड़ाहट में जाज़ चल रहा था। एक पिस्तौल का धमाका हुआ और तालियाँ रुक गयीं।

घटना बहुत तेज़ी से घटित हो गयी। दो मिनिट भी उसे नहीं लगे। कह सकते हैं कि वह दुर्घटना ही हुई। एक तरह का अकस्मात्, एक्सीडेण्ट।

मार्था उस दिशा में बहुत तेज़ी से बढ़ी और उसने जाकर जैम्स के गले का कॉलर पकड़ लिया। कि उसने एकदम भयानक हिस्टीरिया के दौरे की तरह रोना-चीख़ना शुरू किया। उसने जोज़ेफ को तब तक नहीं देखा था। उसे देखकर तो वह जैसे दुगुना क्रुद्ध हो गयी।

जो ने अपना बुढ़ापा भूलकर इस नागिनी का गला जैसे दोनों हाथों से दबोचने के लिए ज्यों ही हाथ बढ़ाया था कि अपने लाल कोट की जेब से मार्था ने पिस्तौल बाहर निकाला। और वह बारी-बारी से दोनों तरफ़ मुँह हिलाने लगी। उसकी तनी हुई उँगलियाँ पिस्तौल के घोड़े पर थीं।

सारे होटल में एक सकता-सा छा गया। आसपास के लोग पिस्तौल को देखकर तितर-बितर हो गये। किसी ने फुसफुसा कर कहा—हॅनी, घर चलें! दूसरे ने कहा—हिस्टीरिकल वूमन! तीसरे ने कहा—क्या-क्या शराब पीकर लोग करते हैं! चौथे ने कहा—सारा जाज़ का मज़ा किरकिरा कर दिया! और भी कई आवाज़ें उठ रही थीं···

—पकड़ो उस पागल औरत को!

—पुलिस को फोन करो।

—अरे अभी तो यह नाच कर रही थी।

—बारी-बारी से रोल अदा करती है : नर्तकी का, हत्यारिन का।

—यह उसका पुराना प्रियतम होगा।

—मामला कुछ रुपये-पैसे का है। इस मुल्क के लोग भावुक नहीं हैं।

—(ठण्डे स्वर से) मैं कहता नहीं था डॉन, आजकल मेण्टल टेन्शन का ग्राफ़ कुछ ऊपर ही बढ़ गया है। सोशियॉलॉजी के ऐंगल से डेप्थसाइकोलॉजी की मेथड···

—वही इटर्नल ट्राऐंग्ल (अमर त्रिकोण) है—एक स्त्री दो पुरुष।

—कुछ नहीं जी, इसको मैं जानता हूँ। स्टेज पर ये लम्बे बालों वाला लड़का काम करता था। और यह औरत उस पर मरती थी। प्रेम और युद्ध में सब कुछ जायज है।

ऐसी तरह-तरह की टिप्पणियाँ और फब्तियाँ कसते हुए लोग चले जा रहे थे—सब दरवाज़े की ओर चले गये थे। तीन व्यक्ति बचे थे, जैम्स, जो और मार्था!

मार्था ने जैम्स की ओर पिस्तौल तानकर घुड़की दी, उसके नथुने क्रोध से

फूल रहे थे—ज़रा भी हिले तो ख़ैर नहीं।

पिस्तौल की नली जैम्स की तरफ़ तनी देखकर जो जैम्स को बचाने बढ़ा—एक धमाका हुआ।

और गोली बजाय जैम्स को लगने के जो को लग गयी।

खून की लकीर-सी बह पड़ी, और जो औंधे मुँह वहाँ फर्श पर चित पड़ा था।

जो की लाश थी और हम सब वहाँ थे! डोरा थी, मैं था। बेसी और जैम्स थे। और कोई कुछ नहीं कर सकता था।

मौत थी—जैसे एक महाप्रश्न हो, या एक महा-उत्तर हो। उसके आगे सब सिर्फ गरदन झुकाये खड़े ही रह सकते थे। और सब कर्म, विचार, भाव जैसे वहाँ एक खड़ी पाई बन गये थे।

उनके पास कोई समाधान नहीं था।

मौत थी और मेरे मन में सारी पुरानी जीवन में घटित मौत की निकटतम क्षणों की स्मृतियाँ एक के बाद एक कौंधती-झिपती चली जा रही थीं। उनमें कोई सिलसिला नहीं था। बचपन में एक तोता पाला था। बड़ा प्यारा तोता, उसे रोज़ कटोरी में दाना-पानी देते। उसे बोलने के लिए सिखाते। तोते के लिए प्रश्न नहीं था कि वह तमिल सीखे, या अँगरेज़ी, या संस्कृत। उसके लिए शब्द बराबर थे। वह तो एक 'डुप्लिकेटर' मशीन की तरह था, जिसकी कोई भावनाएँ नहीं होतीं। न वे भाषा के साथ जुड़ी होती हैं। और एक दिन सहसा सवेरे उठकर देखा तो उसकी गरदन लटकी थी, आँखें स्फटिक की मणियों की तरह खुली आकाश को देख रही थीं। टाँगें ऊपर थीं, पंख दोनों ओर लटके थे। और कोई स्पन्दन नहीं था। मौत के बाद भी वह बहुत सुन्दर लगता था। और उसके बाद बचपन में मैंने घर की खिड़की से मना करने पर भी पड़ोस के घर में मरे हुए एक वृद्ध के शव को देखा—उसे टिकटी पर रस्सियों से बाँध रहे थे। सफेद कोरी चादर से उसे ढँका था—सिर से पैर तक। और उस पर बहुत-सी रोली और फूल बिखरे थे। उसके बाद सहसा माँ के साथ मैं वाराणसी गया था, वहाँ का मणिकर्णिका घाट का दृश्य मन में तैर गया। पड़े हैं शव, मुरदे, कोई उनकी तरफ़ देख भी नहीं रहा है। बारिश के दिन हैं, चिताएँ बड़ी मुश्किल से सुलगती हैं। रिश्तेदारों के पास पैसे नहीं हैं। टाल वाला पैसे के लिए बहस कर रहा है। कभी राजा हरिश्चन्द्र के साथ भी उसने ऐसी ही बहस की होगी। कुत्ते राख के ढेरों को सूँघ रहे हैं। पानी के पास कीचड़ में नारियल के ऊपर के छिलके, और गेंदे और जपा के फूल कुचले पड़े हैं। वातावरण में एक भयानक धुएँ की घुमड़न और घुटन है। यह सब दृश्य मैं जब छोटा था तब नाव में से देख रहा हूँ और मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि यह हंगामा क्यों हो रहा है? और बड़ा हुआ

तब मक़बरे देखे और बुद्ध के धातुओं के बड़े-बड़े स्तूप देखे और तिब्बत की सीमा पर पत्थरों के माना देखे। आदिवासियों के कई शव-सम्बन्धी संस्कार पढ़े। मन और भी कठोर होता आया। पुराने चर्च के घेरे के भीतर कई तरह की छोटी-बड़ी क़ब्रें और उन पर मोमबत्तियाँ और क्रॉस और मूर्त्तियाँ और मृत्युलेख देखे!···

अभी-अभी अमरीका में आने पर एक भारतीय विद्यार्थी की ज़्यादह पीने से मृत्यु हो गयी थी—उसका बढ़िया फूलों में सजा कॉफ़िन देखा। हॉल में सब जमा थे। कानाई मुकर्जी गीता पढ़ रहे थे। अगरबत्तियाँ जलाकर दक्षिण की ओर दिखा रहे थे···

"और ईश्वर ने कहा : जा-जा मृत्युराज, नीचे जा
जा नीचे सावान्ना में, जॉर्जिया में
यामाक्रा में
और बहन कैरोलिन को खोज ला।
उसने भार सँभाला है, दिन की गरमी और बोझ उठाया है
उसने बहुत देर तक मेरे द्राक्षवन में काम किया है,
और वह थक गयी है—
वह थककर चूर हो गयी है—
जा-जा, मृत्युराज, उसे मुझ तक ले आ!"

मृत्यु के ऐसे कितने प्रसंग हैं जो मन के चित्रपट पर से खिसककर चले गये। कई द्रुत, कई धीमे-धीमे। पर सभी एक गहरी चोट मन में उकेर जाने वाले।

हम भारतीय हिन्दू कहने को बड़ी बातें करते हैं कि मौत से हम डरते नहीं; हम पुनर्जन्मवादी हैं। हमारे लिए मृत्यु सिर्फ एक छोटा-सा अल्पविराम चिह्न है। पर मौत को लेकर कितना बड़ा आचार-शास्त्र हमारे यहाँ बना दिया गया—देवयान, पितृयान, श्राद्ध-समारोह और कितनी सारी बातें!

और पश्चिम ईसाई कहने को बड़ी बातें करते हैं कि मौत एक बड़ा गम्भीर, सॉलेम प्रसंग है। चर्चों में घण्टियाँ बजती हैं और सबको अन्तिम शव-संस्कार की प्रार्थना पर बुलाया जाता है। काले कपड़े पहने जाते हैं। पर प्रत्यक्ष जीवन में—यह सब मामला बड़ा आसान-सहज बना दिया गया है। वहाँ श्राद्ध-भोज नहीं होते, वहाँ मरने वाले पर रोते रहने के लिए किराये पर लोग नहीं बुलाये जाते, मर्सिये लिखने के लिए लोगों को 'तरहें' नहीं दी जातीं।

आदमी को लेकर ही इतनी हाय-हत्या है! लकड़ी सूख जाती है, कौन रोता है? जंगल कट जाते हैं, किसे फ़िक्र है? नदी सूख जाती है, कौन चिन्ता करता है? और यह तब कि अब यह पंचभूतों का चोला भी आख़िर मुट्ठी-भर मिट्टी है—आग, पानी, हवा, आसमान के सिवा और क्या है?

पर जड़ से चेतन, चेतन से और अवचेतन के भीतर हमने घुसने-पैठने की ख़ुर्दबीनें बना लीं—और यहाँ आकर रुके हम सारी दो हज़ार बरस की सभ्यता के विकास के बाद खड़े हैं। 'जो' का शव है। और कोई कुछ नहीं बोल रहा है।

जो मार्था की चीख थी, वह शान्त हो गयी। बहुत ज़्यादा शराब पीकर बड़बड़ाने वाली स्त्री की जल्पना से अधिक उसे किसने महत्त्व दिया। पुलिस आयी, पकड़कर उसे ले गयी।

किसी ने भरोसा नहीं किया उसकी बात का कि 'जो' उसका पति है। सिर्फ हम 'जो' को जानते थे। जानते रह गये। सिर्फ जानने से क्या होता है?

यह वह क्षण था, जहाँ सारा जानना धरा रह जाता है।

बाहर नॉर्थ बीच की उत्फुल्ल, रंगीन, मद्य से आविल, प्रकाशमय दुनिया बराबर नाच-गा रही थी। कहीं बीटनिकों के पोएट्री-ऑर्जीज़ (काव्य-पाठ की केलि) हो रही थी, कहीं नीग्रो गायक त्रौम्बोन, सैक्साफोन, क्लेरिनेट से उलझ रहे थे। वातावरण में खिलखिलाहट थी, एक तरह का उन्माद था—जैसे कई गुब्बारे रंग-रंग के पानी से भरे लुढ़क रहे हों। स्त्री-पुरुषों की रेलमपेल थी। कोई वर्जना नहीं थी, कोई बनावट नहीं थी। मनुष्य अपने आदिम पशुरूप में सम्भोग और सन्तोष के सागर पर लहरा रहा था।

एक ही संगीत सुनते हुए, एक ही तरह की शराब चखते हुए लोग भूल गये थे कि वे काले हैं या गोरे हैं या साँवले हैं; वे मेक्सिको से आये हैं, या क्यूबा से, पोलैण्ड से या पुर्तगाल से, स्कॉटलैण्ड से या आयरलैण्ड से; वे भूल गये थे कि वे कौन-सी भाषा बोल रहे हैं, कौन-सा वेश उन्होंने पहन रखा है, कौन-सी पीड़ाएँ उनके छोटे-छोटे घरों और कुटुम्बों की परिधियों में उन्हें घेरे थीं; वे भूल गये थे कि उनके यहाँ भी कभी कोई भिक्षुक या याचक आया था। या उन्होंने भी कभी कोई मृत व्यक्ति देखा था। वे अपने-अपने राग-रंग में मस्त थे।

एक बड़ा समुद्र था जो—जिस चाहे तो संगीत कह लीजिए, चाहे जंगल कह लीजिए, जिसे चाहे तो निबिड़ भावनाओं का सूचीभेद्य अन्धकार कह लीजिए, चाहे नीलमाधव की मूर्ति जिस पर अंकित है ऐसा काष्ठ-लोष्ठ विशाल स्तम्भ कह लीजिए। नाम बहुत महत्त्व नहीं रखते। रूप बहुत महत्त्व नहीं रखते। क्रिया ही यहाँ संज्ञा थी।

बेसी देखती रही और उसकी आँखों में आँसू नहीं थे।

जी हाँ, जैम्स देखता रहा, उसकी आँखों में आँसू नहीं थे।

मैं देखता रहा और मेरी आँखों में क्यों छलछलाहट थी?

पूरा सत्तावन बरस जीवन के जो ने संगीत-साधना में बिता दिये। उसने दिल में एक नासूर पाला। प्रतिष्ठा मिली, पैसा मिला। नाम मिला, शोहरत

मिली। पर उसे जीवन-संगिनी कोई नहीं मिल पायी—जिस पर दिल कभी फेंका था, आज उसी ने एक गोली से उसका जवाब दिया……

यही सभ्यता का ढंग है सारे आदिवासियों के साथ, अपने से भिन्न असभ्यताओं के साथ। एक गोली, और सब प्रश्न शान्त हो जाते हैं।

मैं वहाँ मौन खड़ा था। और मुझे लगा कि मेरे सामने कोई उत्तर नहीं है। सारे मार्ग पत्थर से पाट दिये हैं, बन्द हैं। और मैं पिरामिड की एकमात्र सुरंग के रास्ते को भी बहुत बड़े लोहे के कपाट से बन्द होते देख रहा हूँ। दम घुट कर ज़िन्दा दफ़नाया जाना ही था तो उसके लिए यह सब देखने को क्यों बचा रखा ?

मार्था से पूछा जाता तो वह शायद खुश होती। शायद वह भी अब दुःखी होती। उसने जो का जाज़ सुना था। वह उसकी इज़्ज़त करती थी। उस बार ठण्ड में उसने जो के लिए एक मोटा कोट खरीद दिया था—जन्मदिवस के उपहार के लिए। जो कहता रहा—नहीं, मैं क्या करूँगा इसे लेकर।

और लिली के फूल उसी तरह खिलते रहे थे।

नीली आँखों में झील में तैरते हंसों की तरह, वे आनन्द के फूल! तब जो का नाम नया-नया प्रसिद्ध होने लगा था। एक कोई प्रादेशिक अखबार का प्रतिनिधि आकर जोज़ेफ़ से पूछ रहा था—आपके संगीत के पीछे किसकी प्रेरणा है?

जोज़ेफ़ ने मुस्कराकर कहा—मार्था की।

पत्र-प्रतिनिधि—क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?

जो—मैं अपने जाज़ में ज़्यादा विश्वास करता हूँ।

पत्रप्रतिनिधि—आप समझते हैं काले-गोरे का भेद अनन्त काल तक रहेगा?

जो—नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। सब लोग बहरे हो जायें या सब लोग गूंगे हो जायें तो भेद बराबर बना रहेगा।

पत्रप्रतिनिधि—आपकी प्रियतर वस्तु?

जो—शराब।

आज वह पत्रप्रतिनिधि कहाँ है? आज वह आकर देख ले कि उसकी प्रियतर वस्तु ने उसकी प्रेरणा को क्या करने के लिए बाध्य किया और अब जो बहरा-गूंगा और आस्तिकता-नास्तिकता से परे यहाँ काठ बना पड़ा है।

मृत्यु का साक्षात्कार ईश्वर का साक्षात्कार है।

या धर्म, महाकाल का साक्षात्कार है।

नहीं-नहीं, ईश्वर कहीं नहीं है—आदमी अन्तरिक्ष-यानों में उड़ रहा है। पृथ्वी की पेपरमिण्ट की गोली के आस-पास चक्कर काट रहा है। यह बहुत कड़वी गोली है। यह पिस्तौल की भी गोली हो सकती है।

माँ कावेरी ! तेरा संगीत अहरह चलता था—मेरी रग-रग में, मेरी आत्मा में, कण-कण में, वही प्रतिध्वनित होता था। आज वह कैसे सहसा समाप्त हो गया। गितार किसी ने फोड़ डाला। कावेरी और समुद्र के बीच में बहुत बड़ा अस्वान डैम बना दिया गया।

वैसे संगीत मन की मुक्ति है। पर शरीर से भी मुक्त होना पड़ता है। सामने पड़े जो को देखकर मेरे मन में याज्ञवल्क्य स्मृति का श्लोक तैर रहा था :

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥

अब कोई रंग का झगड़ा उसे सता नहीं सकता था। नादब्रह्म में 'जो' विलीन हो गया।

और जो को यों मुक्ति मिली।

ऋण

पुस्तक के लेखन में 1959 से 1961 तक अमरीका-प्रवास के विविध अनुभव तथा निम्न पुस्तकें और पत्रिकाएं सहायक रही हैं; पर सब नाम काल्पनिक हैं :

1. द नीग्रो इन अमेरिकन कल्चर : मार्गरिट बुचर
2. द पीपल दैट वॉक इन डार्कनेस : जे० डब्ल्यू० श्यूट नाडोट
3. स्ट्राइड टुवर्ड फ्रीडम : मार्टिन लूथर किंग
4. डायरी ऑव ए सिट-इन : मेरिल प्राउड फुट
5. 'हाउल' : ऐलेन गिन्सबर्ग
6. 'देशान्तर' में नीग्रो कविताओं के हिन्दी अनुवाद डॉ० धर्मवीर भारती-द्वारा
7. तिरुक्कुरल (कषगम)
8. 'क्राइसिस' के अंक

—लेखक

सोमा

सतीश नया-नया जगदलपुर में आया था। गोंडवाना के जंगल के पास का यह छोटा-सा कस्बई गाँव था। सतीश ने दर्शन में एम० ए० कर लिया था। अच्छे मार्कों से वह पास हुआ था और उसके मन में जीवन और जगत् के विषय में कई कल्पनाएँ थीं, जो कि किताबों से उसने सीधे उठा ली थीं। उन्हें कभी जीवन में परखा नहीं था। उसने यह भी नहीं सोचा था कि यह दुनिया केवल उसकी मर्जी या कल्पना से नहीं चलती है।

लम्बा सफर, धूल-भरे रास्ते, बदली हुई जलवायु, और सबसे अधिक उसके अपने अकेलेपन ने उसे बीमार कर दिया था। उसे स्थानीय मिशन अस्पताल में जाना पड़ा। वहाँ एक बूढ़ा भारतीय ईसाई डॉक्टर बैठा था। मँझोले कद का, काला-साँवला, चश्मा लगाये। उसका गोल चेहरा उसकी चाँद की वजह से और भी गोलमटोल लगता। क्यू में स्थानीय आदिवासी और अन्य बीमार खड़े थे। डॉक्टर हरएक को सहानुभूतिपूर्वक देख रहा था। सतीश भी लाइन में खड़ा हो गया और धैर्यपूर्वक आस-पास की चीज़ों को देखने लगा। एकदम उसकी आँखें एक स्मार्ट तरुणी नर्स की ओर खिच गयीं। वह सफ़ेद झक फ्राक और टोपी पहने थी। उसकी साँवले चेहरे में बड़ी-बड़ी दो तीखी चमकीली आँखें थीं। उन आँखों में जिज्ञासा और विस्मय का भाव था। वह ख़ूब खुलकर हँसती। उसके मोती जैसे दाँत चमकते।

वह पहले हर बीमार को देखती। सब ब्यौरा कागज़ पर नोट करती। वह स्थानीय लोगों में उनकी भाषा में बात कर सकती थी। एक बुढ़िया की नब्ज देखी, या किसी रोते बच्चे को उसने थपथपाया, या किसी बूढ़े अपंग को उसने सहारा दिया। उस आदमी के चेहरे पर दूसरे लोक का निमंत्रण साफ लिखा हुआ था।

जब सतीश की बारी आई तो उसने तीखे स्वर में पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"सतीश।"

"पूरा नाम ?"

"सतीश तिवारी।"

"उम्र ?"

"उनत्तीस।"

"शादी हुई या नहीं ?"

"नहीं हुई।"

"पता ?"

"अभी मुझे मकान नहीं मिला है अभी तक, पर…"

"मैंने तुम्हें रहने की जगह नहीं पूछी, तुम्हारा काम या पेशा क्या है ?"

"मैं स्थानीय कालेज में दर्शन का लेक्चरर हूँ।"

"ठीक है। वही पता हुआ। तुम्हारा धर्म क्या है ?"

"अगर मैं कहूँ कोई नहीं है।"

"यह कैसे हो सकता है ? तुम्हारे माँ-बाप क्या थे ? हिन्दू, ईसाई, या…"

"हिन्दू।"

"तो ऐसा क्यों बोले कि कोई धर्म नहीं है ? क्या तुम्हें अपने माँ-बाप के धर्म से शर्म आती है।"

"नहीं, पर मैं अब परम्परागत, सनातनी रूढ़ियों से परे…"

"मुझे तुमसे बहस करने का समय नहीं। क्या है तुम्हारी बीमारी ?"

"सिरदर्द, बुखार।"

"कब से शुरू हुआ ? कितने दिनों से बुखार है ?"

"एक-दो दिन से।"

"क्या तुम्हें हरारत देकर ठंड लगती है ?"

"हाँ।"

फिर वह और बीमारों से पूछताछ करने लगी।

उस बस्ती में बारिश शुरू हो गई थी। कहीं कोई नाली नहीं थी और पानी सब गंदला हो गया था। उस दलदल की ज़मीन में मच्छर खूब हो गये थे। उस नये कालेज की इमारत के आसपास। वहाँ न रहने की कोई व्यवस्था थी, न खाने की, न होस्टल था, न लैबोरेटरी, न खेल का मैदान। एक नाममात्र की लाइब्रेरी थी, जिसमें पाठ्य-पुस्तकें और अखबार वगैरह रख दिये गये थे। सतीश को उस सारे वातावरण से घृणा हो गई थी। परन्तु यह उसकी पहली नौकरी थी, और उसे और कहीं जाने के लिए ठौर नहीं था। उसकी सौतेली माँ और अत्यन्त स्वार्थी बाप के कारण वह सदा अपने आपको दुरदुराया हुआ बच्चा महसूस करता। वह किताबों में डूबा रहता, और फिर कुछ दिनों के बाद किताबें भी शत्रु लगने लगतीं।

इस अधसोये गाँव में गये तीन महीनों में केवल उसका एक मित्र हो पाया था और वह मित्र भी कोई बहुत मनोरंजक या उसका ध्यान सदा बाँधे रखे ऐसा नहीं था। वह एक तरह का आधा बौद्धिक परिचय था, जिससे उसके गर्व को कुछ गुदगुदी मिलती। उसके किताबी आदर्शवाद की चर्चा के लिए एक साथी मिल गया था।

ज़बरदस्ती जैसे वहाँ पढ़ रहे हैं, उन्हें छूट दी जाये तो पहले हवाई जहाज़ से वापस अपने 'देश' लौट जायें; कई हैं जिन्हें भारत जाने में शर्म लगती है, जिन के उधर कोई माया-पाश नहीं है, न ऐहिक न आत्मिक। उन सब को सुधारने या बदलने का ठेका क्या मैंने लिया है? बेकार दुनिया के अन्देशे से दुबले होने से फायदा? सो जो जैसा भी है, चलने दो उसे।

यह स्थिति-स्थापकतावादी, यह तेरापन्थी, यह थेरवादी, यह कॅन्जर्वेटिव रुख़ ग़लत है—फिर दूसरा मन कहता। क्या इस अमरीकन ढंग की नयी से नयी पोशाक के भीतर कोई लामा बैठा अपना 'प्रार्थना-चक्र' घुमा रहा है और हृदय की गति की बदले में 'ओम् मणि पद्मे हुम्' की आवृत्ति हो रही है? कहीं मेरे भीतर बहुत गहरे में मदुरे-मीनाक्षी के ऊँचे गोपुरम् जम कर बैठ गये हैं; कहीं बृहदेश्वर का विशाल शिखर-आम्लक का अचार बनाया गया है जो सीझ गया है; कहीं तिरुकलिकुण्डम् की सीढ़ियों के ऊपर चढ़कर पता चला है कि नीचे की सीढ़ियाँ ग़ायब हैं; पक्षीतीर्थम् के सफेद गरुड़ मुझे अपनी चोंच में उठाकर ले गये हैं। मानसरोवर कितनी दूर है भाई? उतने ही कोस जितनी ये हड्डियाँ और मुण्ड इस रूपकुण्ड के पास बिखरे हैं—कोई जवाब दे रहा है गुफा के भीतर से जैसे गूँजती हुई प्राचीन चिर-पहचानी आवाज़ है।

—माँ कावेरी! माँ कावेरी! तेरा दर्शन पुण्य है, तेरा आचमन पुण्यतर है, तेरे प्रवाह में निमज्जन पुण्यतम है!

माँ बचपन में बहुत-से स्तोत्र गाती थी। अस्पष्ट स्मृति मन में है—अब तो मैं सब भूल चुका हूँ। सोशियॉलॅजी की ऊँची डिग्री लेने मैं यहाँ आया। 'तमिल ब्राह्मणों की विवाह-पद्धतियों' पर डेसर्टेशन लिखा और सहज डिग्री मिल गयी। और अब आगे रिसर्च कर रहा हूँ। मैंने सुना है दूर मेरे देश में जाँत-पाँत को लेकर फिर कालियमर्दन-जैसा, समुद्र-मन्थन-जैसा, महाभारत-जैसा दृश्य उपस्थित हो गया है। डेढ़ साल हुए यहाँ आये—कभी-कभी 'हिन्दू' अखबार पढ़ लेता हूँ, मन डूब जाता है। कितनी छोटी-छोटी बातों पर हमारे यहाँ लोग लड़ते हैं: भाषा; प्रदेश-नाम, चन्दन सीधा लगायें या टेढ़ा; कच्छा लगाकर साड़ी पहनें; या न पहनें; जनेऊ पहनते हुए गाय का गोबर, मूत्र, दूध, दही सब पंचगव्य चाटें या न चाटें, चोटी कितनी लम्बी रखें—क्या मूर्खता है, जहालत है! हम अब भी साँप-बिच्छू पूजने वाले आदिवासी हैं क्यों?

पर मुरुगन वह सब नहीं कर सकता था जो बचपन में हम कर सकते थे। हम उच्चवर्णी थे, विशेषाधिकार वाले।

मुरुगन ही अकेले क्यों? मनुष्य मात्र के भीतर कहीं एक आदिवासी छिपा है। सवाल यही है कि उस जंगली, अन-पालतू, पशु का क्या हो?

विज्ञान ने कहा: उसे मार डालो। गोली में खर्च ज्यादा लगे तो ज़हर

दे दो।

धर्म ने कहा : उसकी उपेक्षा करो। उसे दवा दो। बाँध दो।

और वह आदिम कुछ है कि फिर बर्बर अट्टहास कर उठता है। केरल के जादूगरों की तरह, बंगाल-असम की यक्षिणी (जॉक्खिनी) की तरह, खण्डोबा और योगमाया की तरह, भीलों की देवी माता की तरह···

वह बार-बार अन्धे प्रतिशोध की तरह जागता है। भूकम्प और जल-जले, उल्कापात-अशनिपात और ज्वालामुखी-से खौलते-बहते लावा, भयानक हहराती बाढ़ और महामारी की तरह। युद्ध को नक्शे से जितना मिटाने की कोशिशें होती हैं, फिर एक मेगाटन, एक हाइड्रोजन बम, एक भूगर्भ में आणविक परीक्षा चालू होते हैं···

कण-कण पर वही रेडियो-ऐक्टिव पदार्थ बहुत ही हल्के-हल्के चूरे की तरह बिखर रहा है। जमीर लुंज हो गये हैं, संकल्पशक्ति को फालिज मार गया है। एक-एक कर बुद्ध की मूर्तियाँ गला कर उनकी तोपें बनायी जा रही हैं और गांधी की गोली से मारा गया बछड़ा फिर अपनी दन्तहीन हँसी हँस कर उन्हें चिढ़ाते हुए पूछ रहा हो : "पीर पराई जाणी रे ?"

मेरा मन ठीक नहीं है। मुझे कहीं रात नहीं दिखाई दे रही है। सब ओर रास्ते जैसे छेक दिये गये हैं। हर राह में सोशियॉलॅजी की मोटी-मोटी किताबें हैं, बोर्डिंग के फाटक का ताला है, बाप की घुड़की की कँटीली बाड़ है, एक छिपी हुई चट्टान है जो नाव को लील जाती है, एक पैशाचिक जिम क्रोंका चूड़-नर्तन है, एक ऐसी विवश दृष्टि से मुरुगन मेरी ओर देख रहा है, श्राद्ध के दिन कोई पायस बना है, उस का जूठा दोना मैं कब फेंकूँ और वह कब चाटे।

यही है 'मानुष-सत्य' ?

मेरा दिमाग़ सोचते-सोचते सुन्न हो गया है।

पता नहीं कब मैं सपने में क्या-क्या देखने लग गया था—कई मिश्रित-मिलित प्रतिमाएँ। एक बहुत बड़ी छिपकली नाक दबाये, कमण्डलु पास में रखे, पालथी मारे—मोहेंजोदड़ो की सील में के सींग वाले देवता की तरह बैठी है। कई कीड़े पास में रेंग रहे हैं, उन्हें उस योगी छिपकली से डर नहीं है। जिस घने पेड़ के नीचे वह बैठी है उसकी डालियाँ नहीं, बरगद की जडों की तरह कई तरह की साड़ियाँ लटक रही हैं, नंगी गोपियाँ उधर दूर हरे तालाब में छिपी हैं, उनके मुँह सिर्फ खुले हैं, बड़े-बड़े जूड़े बाँध रखे हैं जिन पर सबरमलै और सम्पिकै की मालायें गुँथी हैं, बालों से तेल चू रहा है, बड़ी-बड़ी उनकी सुन्दर बिन्दियाँ हैं और नाक में हीरे की लौंगें हैं और कानों में···अरे यह क्या कानों में जिन्दा गोल-गोल चमकीले घोंघे बरस रहे हैं ! श्रुतियों की पोथियों को सफेद कीड़े खा रहे हैं। एक धीमा पर कराहता हुआ, लेकिन बार-बार हथौड़े की चोट-जैसा,

स्वर उठ रहा है—

मेरा धर्म
मेरी जाति, मेरा वंश,
मेरी प्रजाति, मेरा राष्ट्र, मेरी महानता,
मेरा धर्म ! मेरा गोत्र ! मेरा रंग ! मेरी श्रेष्ठता !
मेरा चर्च ! मेरा कुल ! मेरा वर्ण ! मेरी सम्पत्ति ! मेरा जादू !
मेरी ऐसी की तैसी ।
मेरे शास्त्र
मेरे शास्त्र
मेरे, मेरे-मेरे···
मेरे

फिर यह सब दृश्य जैसे खो जाता है। बहुत हल्की-सी कोई चीज़ एक बहुत बड़े आसमान में तैरती आती है—शायद तोते का पंख है। और पास आकर वह एकदम एक यन्त्र में बदल जाती है—यह कॅम्प्युटर यन्त्र है। उसी तोतई रंग का—खटाखट बटन दबते ही उसमें से नीग्रो बच्चे बाहर निकल आते हैं, गोल-गोल सफेद बड़े कोयों-सी आँखें। यह तालाब तुम्हारे नहाने के लिए नहीं है; यह होटल तुम्हारे रहने के लिए नहीं है। यह चर्च तुम्हारी प्रार्थना के लिए नहीं है···

चर्च में से प्रार्थना के स्वर उठ रहे हैं—

जीज़स में न उत्तर है न दक्खिन
न काला है न गोरा—सब समान हैं।
सब प्रभु के बालक हैं !

प्रार्थना के स्वर कड़ुए हो जाते हैं। एक बड़ी-भारी केक है—शायद शादी की हो, शायद जन्म दिन की हो, शायद उत्सव की हो ईस्टर या क्रिसमस की। मैं देखता हूँ केक घुलकर उसमें से करेले निकल आये हैं। मुरुगन करेला माँग रहा है—माँ डाँट रही है, इस झोपड़ी के पिछले दरवाज़े पर तेरी छाया भी गिरी तो याद रखना ! मेरी माँ बड़ी दयालु थी, पर वह पिता से कहकर डण्डों से मुरुगन को पिटवा तो सकती ही थी।

और फिर मैंने सुना मुरुगन गाँव से भाग गया। पढ़-लिख कर बड़ा होकर वापस आया, तो उसे काम कौन देता है? वह हरिजन का हरिजन। उसकी मेज पर से फाइल उठा ले जाने से चपरासी ने इन्कार कर दिया। वह बोला—मैं उससे बड़ी जात वाला हूँ।

"दुनिया की माताएँ युद्ध नहीं चाहतीं।" होरेस का वाक्य बड़े पोस्टर की तरह लिखा हुआ था। माताएँ बड़ी दयालु होती हैं। होंगी—अजित लाल की

माँ बीमार थी और उसके पास पैसा नहीं था। मैंने कहा ले जा—पर डॉक्टर के घर तक वह गया तो माँ मर गयी। कोई नहीं आया उठाने अरथी।

मैंने कन्धा लगाया। श्मशान की ओर हम जा रहे हैं। सब हक्के-बक्के हैं : अय्यंगार के लड़के को क्या हो गया है? बेंकटरामन का बड़ा भाई पगला गया है—हरिजन की अरथी उठाकर ले जा रहा है—क्या हो गया है उसे?

वह ज़माना और था। सन् '35 का राष्ट्रीय लहर का जोश था। बड़ा भाई बाद में जेलों में सड़ता रहा। स्वराज के बाद लोग उसे भूल गये। वह पाण्डिचेरी चला गया। मुरुगन? तुम्हारे लिए कहाँ कोई पाण्डिचेरी है? कोई तिरु अण्णामले? कोई परमधाम? नहीं-नहीं···

तुम्हारे लिए तो वही फौज से लौट कर बेकारी है। आई० एन० ए० में तुम चले गये थे न? न घर के न घाट के। मुरुगन अब दक्षिण में द्रविड़ कषगम् छोटा-मोटा नेता बन गया है। क्या यही परिणति है, अन्याय का जवाब माँगने की!

जिम कह रहा है दक्षिण में अमरीका के कई नीग्रो मुस्लिम बन रहे हैं। वे अपना सम्बन्ध अब राष्ट्रों से, अफ्रीका की इस्लामी ताकतों से जोड़ रहे हैं। कहते हैं हमारा नीग्रोस्तान अलग बनेगा? क्या यही परिणति है, अन्याय का जवाब माँगने की!

छोड़ो मस्जिद-गिरजा-मन्दिर। सब के शिखर-कलश—गुम्बज हम चूर-चूर कर समुद्र में डाल दें तो क्या है इस सवाल का उत्तर? फिर समय चलने लगा···

एक बहुत बड़े-बड़े यन्त्रों के कारखाने में हूँ। एक तरफ काला बच्चा डाल दिया जाता है एक बड़े से फनेल में—दूसरे छोर पर उसका भूरा, चितकबरा आधा साँवला, अधगोरा, नीला, जामुनी, जैसा चाहिए वैसा संस्करण निकल आता है। खटाखट-खटाखट मशीनों से चालित ऐसेम्बलीबेल्ट है—जैसे खिलौनों से बनते चलते हों। मान लीजिए सारी दुनिया का एक रंग हो भी जाये—पीला, लाल, गोरा, काला सब मिश्रित होकर एक नया ही रंग। तो भी क्या यह मनुष्य की समस्या समाप्त होगी।

दूसरे कमरे में खाने पर छीना-झपटी चल रही है। न थाली हैं न प्लेटें, न कोई काँटा न छुरी, न चम्मच, न सर्वियेट। गोलियाँ हैं। विटामिन और प्रोट्रीन और कार्बो-हाइड्रेट्स की गोलियों के वितरण में बड़ी हाय-हत्या मची है।

दुनिया के गोले पर मधुमक्खियों के छत्ते लगे हैं। इन मधुमक्खियों की शक्लें आदमियों-जैसी हैं। घड़ियों के काँटे उन्हें चलाते-भगाते रहते हैं। मिनिट काँटा और सैकण्ड काँटा भगाता है, घण्टे का काँटा रोकता है। नीला दरवाज़ा : ठहर जाओ; लाल दरवाज़ा : भीतर आओ! सीटी हुई : क़वायद चालू; सीटी हुई : क़वायद बन्द।

सब कवायद कर रहे हैं। और एक कराह। मुरुगन की ही आवाज है शायद, या अय्यघन की भी हो। पर हाँ उस आवाज का दर्द परसों सुनी हुई बेसी की आवाज से बहुत मिलता-जुलता है—यह साला दर्द भी बड़ा बदमाश है ! इसके कई जुड़वाँ भाई हैं और सबके चेहरे एक-से होते हैं, यह 'कॉमेडी ऑव एरर्स' है—यह कराह क्यों है यह जानने को मैं आगे बढ़ता हूँ तो बड़ी भारी कन्दरा मुँह फैलाये पड़ी है, जैसे सुरसा का जबड़ा हो। इसमें से नीचे देखना मुश्किल है।

देखता हूँ तो सिर चकराता है, नहीं देखता हूँ तो ऊपर से तड़ातड़ हण्टर पड़ रहे हैं। मारे प्यास के हलक सूखा जा रहा है, पानी जो नजर आता है वह सिर्फ पानी की तस्वीर है। एक ठण्डे सपाट आईने में सिर्फ एक मरीचिका का प्रतिबिम्ब।

—माँ काबेरी, माँ काबेरी, तू कहाँ है ?

मिसीसिपीपर से एक कर्कश सीटी बजाते हुए लकड़ी के पुराने ढंग के तेल से चलनेवाले 'वाफारों' (भाफ से चलनेवाली नावों) का ताँता चला गया—धीमे-धीमे गुजरता गया। किनारे की ऊँची-ऊँची घास में हलचल मची। इस विशाल नदी का पात्र क्या है पूरा समुद्र है। पानी में मेरी मौत है। मत्स्यकन्या की तरह वह मुझे बुला रही है।

मत्स्यकन्या के हाथ में एक शंखाकार वाद्य है और उसके कण्ठ में ग़जब की मिठास है। वह जो गा रही है उसके शब्द समझ में नहीं आते—वे मोहनजोदड़ो की चित्रलिपि की तरह अबूझ हैं। यह भी कहना मुश्किल है कि उसके गाने में वेदना है या आनन्द। वह निरा गाना है।

मत्स्यकन्या का रंग मैं नहीं देख सका। भूल गया काला-गोरा, पीला-लाल क्या था—शायद रुपहले उसके बाल थे और रंग गहरा साँवला था। उसके चेहरे में कोई सौन्दर्य नहीं था। मिस्र के शिल्प की तरह त्रिकोणों से बना चेहरा था। कोई वहाँ आसपास नहीं था जब राजा शन्तनु वॉकिंगस्टिक घुमाते हुए चले आये। चार्ली चैप्लिन की तरह उन्होंने ऊँचा काला हैट पहना था।

हल्की कूटी गयी। मत्स्यगन्धा का ब्याह होगा। घर के आँगन में ऐयर घर की तरह मूसल गाड़ दिया गया। अब बड़ी पंगतें होंगी—ज्योनार सजेंगी।

जूठी पत्तलों के लिए मन्दिर के बाहर शोर मच रहा है। वही कोठियों की कतार होगी। इनको जीने क्यों दिया जाता है ? सरकार को चाहिए कि जैसे डी० डी० टी० का छिड़काव करती है, वैसे 'मर्सी-किलिंग'···

कई चिताओं का एक साथ धू-धू करना। न्यूयार्क में एक सर्दी की रात को सेण्ट्रल पार्क के पास एक नीग्रो मिला था, जो ललचायी आँखों से उस होटल की काँच की खिड़कियों में से दमकते निऑन-दीपों को देख रहा था—उसे जूठी हड्डियाँ मिलनी भी सम्भव नहीं थीं।

छोटे से केफेटेरिया की मालकिन सफाई का बड़ा ख़याल रखती थी। उस नीग्रो ने बेहद शराब पी रखी थी और उसके शब्द अस्पष्ट थे। वह गालियाँ बकता जाता था। सम्भव है उसके पास बटन दबाते ही, आठ-इंची तीखा फाल लपलपाती जिह्वा से बाहर बढ़ाने वाला चाकू हो।

आग की कितनी जीभ होती है ? माँ ने कहा था—पाँच।

मुरुगन के घर जब उसकी बहन सन्निपात में आयी थी, पंचाग्निसाधन करने वाले यान्त्रिक को ही तो बुलाया था। बहुत झाड़-फूँक हुई, नहीं बच सकी।

"मौत का एक दिन मुऐअन है,
नींद क्यों रात भर नहीं आती…?"

मेरा मन इस तरह न जाने कहाँ भटक रहा था—दिशाहीन, निरुद्देश्य, निष्प्रयोजन, आकारहीन—तब दरवाजे पर घण्टी बजी और जो और बेसी आ गये।

हम सब लोग बड़े दीवानखाने में पहुँचे। आतिथ्य-सत्कार में पेय देने में डोरा ने और उसकी माँ ने कोई कसर नहीं उठा रखी। जो पीता गया और उसका सुर गरमाता गया। मैंने पूछा था—क्या कभी भारतीय संगीत भी सुना है ?

—हाँ, हाँ। शिकागो में एक बार एक इण्डियन लड़के ने पता नहीं कैसा एक भारतीय बाजा था, सात तार वाला कहता था, ऐसा बजाया था कि मैं तो मुग्ध हो गया। ऐसी-ऐसी बारीकी, ऐसे-ऐसे बोल-तानें, ऐसा आनन्द ! वाह, सगाविया की गिटार भी मात है।

बेसी बोली—मैंने भी वह सुनी थी। अब तो रविशंकर के रेकर्ड मिलते हैं। मैंने गये महीने ही किसी भारतीय के घर पर सुने थे। असल में इन भारतीयों का संगीत अकेले का होता है।

मैंने कहा—आखिर सारी कला अकेले की ही होती है।

स्मिथ बोल पड़े—तो क्या ताजमहल और नॉत्रदाम क्या एक आदमी अकेला ही बना लेता ?

डोरा ने जवाब दिया—कोई महाकाव्य है जो एक से ज़्यादह महाकवियों ने सामूहिक खेती की तरह लिखा हो ?

जो कुछ रुकता-रुकता बोला—भले आदमियो ! मैं आप जैसा पढ़ा-लिखा नहीं। पर हमारे तो बहुत-से गाने हम नहीं जानते किसने, कब, कैसे लिखे। पीढ़ियों से गाये जाते रहे हैं—तो मैं समझता हूँ उनमें जरूर कुछ-कुछ हर गाने वाले का जुड़ जाता ही होगा ?

मैंने कहा—बड़ी अच्छी बात बतायी आपने। हमारे यहाँ तो त्यागराज-जैसों की कृतियों की 'शुद्धता' रखी जाती है। हमारे यहाँ की ख़ूबी ही यह है कि अकेला एक जो करेगा, सब उसी तरह बनने में अपनी जिन्दगी लुटा देंगे। एक बुद्ध हुआ—

आज तक कई बुद्ध बनने में लगे हैं। पर आपकी पश्चिम वालों की यह बात है कि वहाँ अकेलापन 'खोजा' जाता है। हर काम में सब मिलकर उसे करते हैं।

डोरा—नहीं यह बात सही नहीं है। माइकेलएंजेलो, लियोनार्दो दा विंची सब अकेले थे। संगीतकार भी बाख़ हो या चॉपिन···

मैंने अपनी बात को कुछ विस्तार से समझाना चाहा—पश्चिम में जब सहकारिता—सामूहिकता पर जोर है, ऐसा मैं कहता हूँ तो मतलब यह है कि कला का सामाजिक दायित्व वहाँ बहुत चर्चा का विषय बना। टॉल्सटॉय और सारे मार्क्सवाद से प्रभावित समीक्षक: कला को सामाजिक-नैतिक उद्देश्य से प्रेरित मानते हैं। मानो एकान्त में कोई रॉबिन्सन क्रूसो अपनी बंसी छेड़ ही नहीं सकता।

बेसी ने बात बदलते हुए कहा—बहस छोड़िए, मान लेते हैं भारतवासी ज़्यादह व्यक्तिवादी हैं। आखिर समाजवाद भी तो पश्चिम की ही देन है। पर संगीत की क्या कोई अपील ऐसी हो सकती है जो सारी भीड़ को एक-सी हो ?

डोरा बोली—पश्चिम में भीड़ से घिरकर भी आदमी बहुत एकाकी है; पूर्व में अकेला रहकर भी आदमी सतत समाज के बन्धनों से जकड़ा-जकड़ा है।

मिस्टर स्मिथ ने मजाक में कहा—हमारी बेटी भी सूत्र बोलने लगी। सोहबत का असर है न ?

फिर कॉफी आयी। वर्जीनिया पीती नहीं थी और अब योगी के आने का भी खतरा था। जो समय दिया था उससे आध घण्टे से ऊपर बीत चुका था, पर न मिसेज विल्सन का फोन आया न योगी का।

बातचीत कुछ मजाक की दिशा में चलने लगी।

जो ने गम्भीरता से पूछा—ये योगी लोग क्या सचमुच हवा पर जी सकते हैं ? सुना है कई दिनों तक लगातार फाके करते चले जाते हैं। क्या यह सच है ?

मैंने कहा—सब के बारे में सच नहीं। पर कुछ लोग कई हफ्तों तक भूखे जरूर रहते हैं।

स्मिथ साहब ने जोड़ा—उनका कहना है कि उससे उनकी अध्यात्मशक्ति बढ़ती है ? क्या यह सच है ?

मैं चुप रहा।

डोरा ने कहा—बहुत कुछ इसमें अपने मन का धोखा है। यानी मान लो वही शक्ति है। मैं तो कहती हूँ जो के गाने में भी आध्यात्मिक शक्ति है। शक्ति होती है क्या ? जो सोती भावनाओं को उभारे।

बेसी ने कहानी सुनायी कि कैसे एक बार दक्षिण अमरीका में जो के गाने सुन-सुनकर नीग्रो श्रोता एक बड़े गोरे सेठ की दूकान को लूटने जा रहे थे।

वर्जीनिया ने भोले भाव से पूछा—क्या संगीत से आदमी बुरी बातें करने के

लिए भी उभारा जा सकता है।

जो—क्यों नहीं ? चित्र-कला है। शक्ति है। आप चाहें तो उससे आदमी में उदासी जगायें, या पोस्टर से उसमें मरने-मारने की ताकत उभारें। यही बात संगीत की शक्ति है। शक्ति तो निरपेक्ष होती है। वह यह थोड़े ही कहती है कि इसका उपयोग इसी दिशा में करो।

डोरा ने बहस जारी रखते हुए कहा—यानी यह कहिए कि शक्ति अन्धी होती है।

वर्जीनिया ने कहा—अन्धी नहीं, भोली कहो।

जो फिर दार्शनिकों की तरह कहने लगा—जो भी कह लो। आदमी बड़ा चतुर जानवर है। जब वह शक्ति काम में आ जाये, अच्छी हो जाती है; जब वह ग़लत दाँव पर गिरे तो झट से उस शक्ति पर सारी ज़िम्मेदारी डालकर हाथ झटक कर अलग हो जाता है। यह ठीक नहीं है।

वेसी—मैं समझती हूँ संगीत या कला की चर्चा में नीति की, पाप-पुण्य की बातें लाना बेकार है। वे अवान्तर हैं।

स्मिथ ने कहा—मैं तो यह कहता हूँ कि संगीत नैतिक-अनैतिक नहीं होता, संगीतकार जरूर होता है। हमारे ही मुहल्ले का वह टॉम। आवारा निकला। कहते हैं पियानो अच्छा बजाता है; होगा। पर उसने कोई नैतिक जिम्मेदारी ही महसूस नहीं की—न अपने माँ-बाप के लिए, न अपने बहन-भाइयों के लिए, यहाँ तक कि न अपनी प्रेयसी के लिए—

वर्जीनिया—वह जो हो, पियानो जब वह बजाता है तो सारा गाँव झूम उठता है। मुझे तो लगता है इन कलाकारों की कोई अपनी अलग नीति-मर्यादाएँ होती हैं। वे ही जानें।

डोरा उछल पड़ी—माँ ने आज बहुत दिनों बाद ऐसी बात कही कि मैं उससे एक राय हो रही हूँ। माँ वैसे न संगीत जानती है न नीति-शास्त्र।

वर्जीनिया बोली—बेटी, मैं तुझे जानती हूँ; और फिर सब काम कोरी अक्ल से ही तो नहीं होते। कला तो कोई दैवी देन है। नहीं तो हर म्यूजिक स्कूल का लड़का यहूदी मैनुहिलन न हो जाता!

स्मिथ साहब को कहाँ चैन था। वे फिर छेड़ने लगे—जो, यह कह रहे हैं आपको भारत का गाना कैसा लगा?

जो—मुश्किल है बताना, बहुत थोड़ा सुना है। पर उसमें एक बात है हमारे संगीत की तरह एकस्वरता नहीं है। उसमें बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ हैं, हर गाने-बजाने वाला अपने-आपको उसमें उँड़ेल सकता है और यों उसमें की विविधता अनन्तगुनी हो जाती है। मुझे लगता है, यह पूरे पूरब के धर्मों का भी हाल है। वहाँ हर आदमी का अपना पूजा-पाठ का तरीका होता है, हरएक का

अपना विशेष धर्म ।

मैंने पूछा—जो महाशय, आप हमारे उधर कैलिफोर्निया भी आ रहे हैं या नहीं ।

जो—जरूर, वसन्त में आऊँगा । पर एक बार आपको मेरे घर शिकागो आना चाहिए । अगर यह मंजूर हो तो हम साथ-साथ आयेंगे ।

मैंने खुशी से कहा—क्यों नहीं, गरमी की छुट्टियाँ हैं । और मुझे बहुत-कुछ देखने-सुनने को मिलेगा । मैं यहाँ सदा के लिए रहने-वसने तो आया नहीं हूँ । जितना जान लूँ, अच्छा है ।

जो—क्या करेंगे जान कर मि० रामन् । जानने का मतलब है और दुःखी होना । एक सिख साहब मेरे पास आये थे । उन्होंने बड़े सवाल वग़ैरह पूछे ? मेरे बारे में—कितनी शादियाँ हुई, बच्चे कितने हैं ? गाने से क्या कमाते हो ? कितना खर्च करते हो वगैरह—पच्चीसों सवाल । मैं समझा, सचमुच इस शख़्स को मेरी जीवनी लिखनी है शायद । पर बाद में पता लगा कि शिकागो यूनिवर्सिटी में हजरत पढ़ते थे और किसी प्रोफेसर के लिए यह सब काम वह कर रहे थे । गोरा प्रोफेसर कालों के बीच जाकर यह सब पूछने से डरता था । और हिन्दुस्तानी न गोरे न काले, मँझले रंग के अच्छे खप जाते थे—नीग्रो को लगे, ये अपने ही दूर के भाईबन्द हैं—गोरों को लगे, हाँ कहीं मैक्सिको या ब्राजील की तरफ के हजरत हैं । यह मजेदार वात है !

डोरा—यही भारतीय की बड़ी मुश्किल है । वह चुनाव नहीं कर पाता—इधर और उधर दोनों तरफ उसका ध्यान बँटा रहता है ।

मैं—कई वार दो परस्पर विरोधी बातों का एक साथ खयाल, एक साथ उन्हें जीवन में उतारना, उनके बारे में भावना के तल पर लगाव—आदमी में एक जबरदस्त आत्म-निर्भरता जगा सकता है । क्या दुनिया में दो ही रास्ते हैं ? या तीन, चार, दस, पचास पर्याय हो सकते हैं ? क्यों न ऐसा सोचा जाये ?

जो—संगीत की दृष्टि से तुम्हारी बात सही है । मैं नहीं मानता कि आदमी को सिर्फ एक ही तरह का संगीत सुनना चाहिए या सीखना चाहिए । मैंने कई प्रकार का संगीत सीखा है । फिर भी मेरे व्यक्तित्व का सब से अच्छा विकास निग्रार जाज में होता है । यह जान कर वही करता हूँ ।

बेसी—भैया ने दस साल पहले और भी कई तरह के गाने गाने का और बाजे बजाने का अभ्यास ही नहीं किया, एकाध बार कॅन्सर्ट भी दिया है । पर सब एक रंगीन (नीग्रो) गाने वाले से यही अपेक्षा करते हैं कि वह नीग्रो गाने ही गाये ।

मैं—एक जीवन के लिए यह एक अकेली विधा कितनी बड़ी चुनौती है । प्रस्ताव हो रहा था कि जो कुछ गाये ।

—कि इतने में दरवाजे पर घण्टी बजी और मिसेज विल्सन और योगी लक्ष्मण चतुर्वेदी उपस्थित हुए।

मैं चुप होकर सुनता रहा।

चार

मिसेज विल्सन और योगी लक्ष्मणचन्द्र चतुर्वेदी मिस्टर स्मिथ के घर में आते ही बड़ी लम्बी-चौड़ी माफी माँगने लगे, देर से आने के लिए।

मैं मिसेज विल्सन को देख रहा था, जो विशेष रूप से 'ओरिएण्टल' बनकर आयी थीं। यानी उन्होंने कानों में मत्स्याकार कुछ पहन रखा था, हाथों में कश्मीर से आया हुआ 'ट्रिंकेट्' पहन रखा था, पीतल का। और स्कर्ट पर एक बूच लगा रखा था जो ताजमहल के आकार का था।

रूप में एकाकार होने से आत्मा में पैठ हो जाती है—यह क्या पश्चिम का अन्धविश्वास है! और हम हैं कि रूप में एकाकार होकर भी आत्मा इतनी भिन्न, इतनी स्वतन्त्र बनाये रखते हैं, इसकी दर्शन-शाखा बनाते हैं।

योगी को देखकर जो को कुछ कुतूहल हुआ। बोला—आपका यह योग क्या है, जनाब?

लक्ष्मण साहब आँखें अधमुँधी करके बड़े अन्दाज से यों बोले जैसे डकार ले रहे हों—यह इतनी जल्दी समझ में आने वाली बात नहीं है, संगीतज्ञ साहब। इसके लिए बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं, मन को तैयार करना पड़ता है। इस सब को हमारे यहाँ संस्कृत में कहते हैं—साधना!

बेसी बोली—क्या आपके योग से हमारा गाना बेहतर हो सकता है?

लक्ष्मण ने उतने ही सहज भाव से उत्तर दिया मानो एक नया चेला मूंड़ने का सुख मिल रहा हो—क्या नहीं? श्वास पर विजय स्वर पर विजय है। और संगीत में और क्या होता है?

कॉफी और बिस्किट आये। मिसेज विल्सन ने मद्य मँगाया। और बातचीत में रंग बढ़ता गया।

डोरा ने जो से कहा—एक गाना गायें।

पहले बहुत आना-कानी करते रहे। वाद्य कहाँ है? पूरा सरंजाम हो तो गाने का मजा है। फिर मान गये और गाना उन्होंने छेड़ दिया। यह एक पुराना स्पिरिचुअल (धार्मिक) गाना है, जैकॅब के बारे में। जब्बॉक नदी के किनारे—

"ओ कुश्ती खेलने वाले जैकॅब, जैकॅब, सवेरा हो रहा है, पौ फूट रही है।

मैं तुझे जाने नहीं दूंगा।

ओ कुश्ती खेलने वाले जैकॅब, जैकॅब, सवेरा हो रहा है, पौ फूट रही है ।
वह मुझे जाने नहीं देता ।
ओह ! मैं अपने भाई को काँपते हुए हाथों से पकड़े हुए हूँ :
मैं उसे जाने नहीं दूँगी ।
ओह ! मैं अपनी बहिन को काँपते हुए हाथों से पकड़े हुए हूँ :
मैं उसे जाने नहीं दूँगा ।"

जो के गाने के ढंग में बहुत गहरा दर्द था । गाना पूरा हुआ, पर बड़ी देर तक हमारे कानों में जैसे वह गूँजता रहा ।

हम सब थोड़ी देर तक चुप बैठे रहे । मानो सब प्रार्थना की मनःस्थिति में हों । सब के मन हलके हो उठे, जैसे पानी में तैरती लकड़ी हो, जैसे आसमान में टहलता तोते का पंख हो । मानो हम सब के पंचप्राण पाँखिल हो उठे हों ।

मौन तोड़ा योग ने । वह अपनी विशिष्ट बिहारी बत्तीसी बरसाते हुए सिर हिलाकर बोले—हमारी समझ में तो इसमें कोई आध्यात्मिक भाव नहीं आया ।

मैंने कहा—छोड़ दीजिए । जो नहीं समझ में आता वह सब समझने लायक होता ही है, ऐसा क्यों मानते हैं ?

योग पर चोट लगी हो, इस विचार से वह तिलमिला उठे । बिना पूछे कहने लगे—हम अपने अमरीकी विद्यार्थियों को ज़्यादह गम्भीर फिलॉसफी (दर्शन) वगैरह नहीं पढ़ाते । हम तो अपने सीधे आसन सिखाते हैं । फीस लेते हैं ।

स्मिथ साहब को कुछ उत्सुकता हुई—हमारा व्यापार बढ़े ऐसा भी कोई योग आपके पास है ?

मिसेज विल्सन बोलीं—यह आपका हाथ देखकर बता सकते हैं । मिस्टर लक बहुत बड़े पामिस्ट हैं । लक इनकी मुट्ठी में बन्द रहता है ।

अब क्या था ! एक तरफ योगी साहब शरमाते जायें और एक-एक हाथ प्रकाश में फैला कर देखते जायें । कुछ अधूरा-सा बतायें और बाकी छोड़ दें । इस आशा से कि कुछ और फीस मिले तो और कुछ बताया जाये ।

मैंने अपना हाथ नहीं बताया । मैंने कहा—मैं ऐसे भाग्यवाद को नहीं मानता । अव्वल तो यह योगी साहब सब भूत-भविष्यत् सब लोगों को जानते हैं, इसमें मेरा विश्वास नहीं । जानते होते, तो पहले अपना ही भविष्य नहीं सुधारते ? दूसरे, मान लीजिए उन्हें यह सिद्धि हो भी तो क्यों मैं अपने भविष्य की दुःखद बातें जानकर आज ही और दुःखी हो जाऊँ ? मैं अभी-अभी यह गाना जो से सुना है, मैं चाहता हूँ बेसी भी कुछ सुनाये । गाना, कविता—कुछ भी । इसी तरह हम एक दूसरे को और नजदीक से जानें । क्या जरूरत है हमें एक दूसरे के आगे आने वाले दिनों के अँधेरे-उजाले में झाँकने की ?

बेसी को कुछ सुनाने का आग्रह सब करने लगे । उसने दो छोटी-छोटी

कविताएँ सुनायीं, जो नीग्रो कवियों की लिखी हुई थीं। बेसी ने कहा—पहली कविता केनेथ पैंचेन की है। इसका शीर्षक है : लिंचिग (जिन्दा मारने) के लिए अच्छा दिन—

"ब्लड हाउण्ड (खूँखार शिकारी कुत्ते)
उदास बूढ़े जजों की तरह दिखाई देते हैं
एक विचित्र न्यायालय में।
वे अपनी नाक उठाये हुए उस दिशा में इशारा कर रहे हैं
जहाँ नीग्रो सख़्त फाँसी के फन्दे से झटका खा कर झूल रहा है
उसके पैर कौए की तरह फैले हैं इन
प्रतिष्ठित सभ्य मानवों पर जो ठहाका मारकर हँस रहे हैं
जब उसका दम घुटता है
मैं इस काले आदमी को नहीं जानता
मैं इन काले आदमियों को नहीं जानता
पर मैं जानता हूँ कि मेरे दो हाथों में
एक काला है, एक सफेद।
मैं जानता हूँ कि
मेरे एक हिस्से को गला घोंट कर मारा जा रहा है
जब कि दूसरा हिस्सा भयानक ढंग से अट्टहास करता है
जब तक यह नहीं बदलेगा
मैं हमेशा मारता रहूँगा, हमेशा मरता, मारा जाता रहूँगा !"

मानो यह भयानक कविता काफी नहीं थी कि बेसी ने एक और कविता सुनायी जो उतनी सामाजिक, और सीधे अन्याय का प्रतिरोध करने वाली नहीं थी। बेसी ने भूमिका के रूप में कहा—1901 में जॉर्ज एच० व्हाइट वासिंगटन की कांग्रेस में आखिरी नीग्रो थे, उनके बाद पच्चीस साल तक कोई नीग्रो संसद् में नहीं आया। व्हाइट नॉर्थ कैरोलाइना से रिपब्लिकन और पॉप्युलिस्टों के सम्मिलित प्रतिनिधि के नाते चुने गये थे। उन्होंने अपने अन्तिम भाषण में कहा, 'लिंचिंग' के खिलाफ कानून बनाने के अपने प्रयत्न में असफल होने पर—अध्यक्ष महोदय, यह शायद अमरीकी कांग्रेस (संसद्) से नीग्रो की कुछ समय के लिए विदा है। परन्तु मुझे कहने दीजिए, फिनिक्स पक्षी की तरह, वह एक दिन जागेगा और फिर आयेगा। यह अन्तिम शब्द एक अपमानित, भग्न-हृदय, जख़्मी और रक्त-रिसते लोगों की ओर से हैं जो अब भी ईश्वर में विश्वास करते हैं। श्रद्धामय, पश्चिमी, ईमानदार, प्रसुप्त शक्ति-सम्भावनाओं से भरे जा रहे हैं ! मानो नीग्रो की यह ऊर्ध्वमुखी प्रगति ही एंजेलिना ग्रिम की इस कविता में व्यक्त है—'काली उँगली' (ब्लैक फिंगर) सुनिए—

"मैंने अभी-अभी एक सुन्दर चीज देखी है
पतली और शान्त
एक सुनहले सुनहले आकाश के सामने
एक सीधा सरो का पेड़
संवेदनशील
सुन्दर, इतना आकर्षक
मानो एक काली उँगली
आकाश की ओर उठी हो
क्यों, सुन्दर, शान्त उँगली, क्या तुम काली हो ?
और क्यों तुम ऊपर की ओर इशारा कर रही हो ?"

सारी पार्टी में इन दो कविताओं से जैसे सकता-सा छा गया। सब लोग द्रवित हो उठे। सिवा योगी के, जिनके पल्ले बहुत कम पड़ा था। वे सीधी-सीधी अभिधा जानते थे। व्यंजना-लक्षणा उनके बस की बात नहीं थी।

मेरा मन फिर इस काली उँगली वाली कविता को सुनकर भटक गया।

मुरुगन और मैं बचपन में पेड़ पर चढ़ने का खेल खेलते थे। माँ ने मना कर रखा था कि वह अछूत है और उसके हाथ का पानी मैं न छुआ करूँ। पर कच्चे फल झूठे खाने में कहाँ आपत्ति थी ? पहले दिन माँ से जब मैंने कहा तो उसने मुझे खूब पीटा। मुरुगन के साथ खेल बन्द हो गया।

—माँ कावेरी ! तेरा दर्शन पुण्यमय है, तेरा आचमन पुण्यतर है, तुझ में निमज्जन तो पुण्यतम है !

क्या कावेरी का पानी भी नहीं धो सकता इस अछूतपन को ? मरने के बाद मुरदे उसमें बहा दिये जाते हों, पर जब तक जिन्दा है तब तक अय्यंगारों के घर का वेंकटरामन कैसे छू सकता है अपनी गोरी उँगलियों से उस शबरी के पुत्र को जिसके जूठे बेर मेरे पूर्वजों के प्रपूज्य राम ने खाये हों, उस विदुर पत्नी के दूर के रिश्तेदार को, जिसके जूठे फल मेरे पूर्वजों के नित्य-स्मरणीय कृष्ण ने खाये थे ?

केवट कौन जात का था ?
और हलधर यादव ?
और सन्तों में कितने-कितने लोग ?

वह हिन्दुओं का भगवान् अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शती में आकर चौके-चूल्हे में अलगाव बरतने लगा। वह सनातन बन गया। जैसे उससे पहले उसे कुछ भी करने की छूट थी। अलग-अलग धन्धों में समाज बँट गया, गाँव के शहर बने, विलायत से कई तरह के गिरजे हमारे देश में आये और भगवान के भी जैसे टुकड़े-टुकड़े हो गये और एक-दूसरे को ये टुकड़े बे-पहचाने हो गये ?

इतिहास का कितना क्रूर परिशोध ! जिस जंगल से कटकर ये लट्ठे पानी में बह रहे हैं उन पर जंगल के ठेकेदार का नम्बर लगा है, उसकी मुहर लगी है—और क्या यह नदी फिर दूसरे एक गुंजान जंगल की ओर ही जा रही है ?

गये वे ढोल-मादल, बंसी, इकतारे और फिर क्या हम उसी सरल-आदिम एकसुरीयपन की ओर बढ़ते जा रहे हैं ? वही एक तानपूरा या एक करताल काफी है ? पूर्व फिर-फिर लौटकर आता है—चाहे पूर्व में हो, चाहे पश्चिम में ।

हम नये पुराण गढ़ते जाते हैं । हम नयी गाथाओं के हॉल बनते जाते हैं । हम नये आल्हा के ऊदल हैं, हम नये रासो के पिरथीराज । हमने सिर्फ नये चेहरे पहने हैं, नाम बदले हैं, चोग़े बदले हैं—यन्त्र वही हैं । सितारे वहीं हैं । नेपथ्य संगीत भी वही चल रहा है । वह थमा ही नहीं है ।

हम कटते-पिटते, काटते-पीटते सोचते हैं कि बढ़ रहे हैं, पर देखें तो एक ही भँवर में चक्कर काट रहे हैं । एक ही जंगल से हम आये, एक ही नये जंगल को जा रहे हैं; एक ही पहाड़ से लुढ़के, एक ही चट्टान की ओर बढ़ रहे हैं; एक ही महासागर से उठकर, नदी बनकर, फिर दूसरे महासागर में जाकर मिल रहे हैं ! हमारे आस-पास समुद्र है, संगीत है; हम सब सरिताएँ हैं, हम सब संगीत की खोज में भटकते स्वर हैं···

—फिर विचारों का ताँता टूटा । कुछ जोर से बहस चल रही थी जो और योगी चतुर्वेदी के बीच ।

जो कह रहे थे—नहीं हमारी स्थिति दूसरी है । आपकी तरह आसान हल हमारे पास नहीं है ।

योगी कह रहे थे—बहुत कुछ आपने मान रखा है कि आपको दुःख है । असल में दुःख माया है । अब आपके पास मोटर है, फोन है, अच्छा ख़ासा मकान है, आमदनी है, अभी कहा कि नीग्रो लोगों की पढ़ाई के लिए आप चन्दा भी देते हैं । और क्या चाहिए ?

जो—क्या इतना ही काफी है ? स्वतन्त्रता की कीमत और बड़ी होती है ।

योगी—तो यों कहिए कि आप गोरों का शासन नहीं चाहते । आप एक तरह से प्रच्छन्न-विरोधी या अराजकतावादी हैं ।

जो—आप लेबल क्यों लगाना चाहते हैं । आप क्यों चाहते हैं कि हम सिर्फ वही हैं, जो आप कहते हैं । आप योगी नहीं हैं । योगी तो सबको एक-सी नजर से देखता है ।

मिसेज विल्सन ने कहा—ओह वे ब्राह्मण योगी हैं । यानी ऊँची जाति वाले । वे सबको एक-सा कैसे देख सकते हैं ?

सब हँस पड़े ।

योगी को लगा जैसे उनका अपमान हो रहा हो, तो कोई संस्कृत श्लोक

बुदबुदा कर बोले—आप जानते नहीं ब्राह्मण आग है, क्षत्रिय उसका रक्षण करने वाला कुण्ड है, वैश्य हवा है, उसे जलाते रहने वाली समिधाएँ शूद्र हैं। हर समाज में अलग-अलग काम करने वाले लोग तो जरूरी होते ही हैं।

मैंने उन्हें चुप करते हुए कहा—मिस्टर योगी, अपने उपदेश अपने देश तक ही सीमित रखिए। क्यों यहाँ ग़लत-सलत प्रचार कर रहे हैं। मैं कहता हूँ इन्हें जाति के इतिहास का कुछ पता नहीं है। यह पार्टी कोई उचित समय नहीं है कि इस बारे में बहस की जाये। मैं सोशियॉलाजी पढ़ता हूँ, मुझे योगी से यह सब मामले ज़्यादह मालूम हैं।

योगी ने हिन्दी में गालियाँ देनी शुरू कीं—वे साउथिण्डियन, सब जगह लड़ते हैं। अहिन्दी भाषी लोगों को क्या पता है योग का गहन तत्त्व। आख़िर उपनिषद् गंगा के किनारे ही रचे गये। रामायण अवध दोआबे में हुई, महाभारत कुरुक्षेत्र में रचा गया—सब भारत का परम गुरु ज्ञान उत्तर प्रदेश और बिहार में ही शुरू हुआ। बुद्ध बिहार में हुए।

मैंने कहा— वहीं ख़त्म भी हो गया।

योगी ने अन्तिम अस्त्र निकाला—तुम लोग अ-भारतीय हो। पश्चिम के अन्धे नवकाल और अनुयायी।

हम दोनों की लड़ाई छुड़ाते हुए डोरा बोली—सुनिए, हमें कोई भारतीय गाना भी सुनायेंगे। कोई लोकगीत ही सही। कुछ-न-कुछ···

अब मैं और योगी दोनों चुप ! जैसे सिट्टी गुम हो। जो गाने याद आ रहे थे। वे लोकगीत तो नहीं थे, मैंने कहा—योगी, तुम ही सुनाओ।

योगी बोला—पहले तुम सुनाओ।

मुझे तमिल का एक बचपन का खेल का गीत याद था। वह किसी तरह मैंने गुनगुना दिया। योगी जो 'शान्ताकारं, भुजगशयनं···' गुनगुनाने लगे।

मैंने कह दिया—मेरा तो बच्चों का अर्थहीन गाना है। उसका अर्थ क्या समझाऊँ। योगी अपनी टूटी-फूटी ग़लत-सलत अँगरेज़ी में श्लोक का अर्थ विस्तार से समझाने लगे। ज़ाहिर है कि उससे मण्डली का मनोरंजन हुआ। कोई गम्भीर आध्यात्मिक भाव नहीं व्यक्त हो सका।

यों पार्टी रात के नौ बजे तक चलती रही। और सब लोग बिदा हुए। मेरे मन में बड़ा तिक्त प्रभाव वह शाम छोड़ गयी। विदेश में भारतीयों के प्रति मेरी घृणा पता नहीं क्यों और भी बढ़ गयी।

मुझे डोरा ने बाद में कहा—वे हमारे गेस्ट थे। आप उनसे इतना क्रॉस (टेढ़े) क्यों हुए ?

—मुझे उसकी बातें पसन्द नहीं थीं।

—तो चुप रहते। यह क्या ज़रूरी है कि हर चीज दुनिया में तुम्हारे मन के

अनुकूल ही हो। यह चाहना ग़लत है।

उस दिन रात को मैंने डायरी में जो लिखा वह कुछ इस प्रकार से था—

अब एक सीख मिली !

"जो अप्रिय है उसे उपेक्षा से टालना चाहिए। उसे प्रिय की राह में घसीट लाना, प्रिय के महत्त्व को कम करना है।

"मान लीजिए मुझे कोलाहल पसन्द नहीं है, संगीत पसन्द है। पर कोलाहल को मिटाने के लिए और ज़्यादह कोलाहल किस काम का है ? नकार का नकार स्वीकार नहीं बन जाता—मानवी सम्बन्धों में। शोर को शोर से मिटाने से संगीत नहीं पैदा होता।

"यही बात मनुष्य की और कई बातों के बारे में लागू है। क्रोध को दबाने से मन:शान्ति नहीं मिलती। क्रोध को बेतहाशा व्यक्त होते देने से क्रोध से मुक्ति नहीं मिल सकती। क्रोध की तो उपेक्षा ही करनी होगी।

"सारी सभ्यता का इतिहास मनुष्य के आदि पशु को भुलाने का यत्न है। कई बार मनुष्य धोखा खाता है। वह अपने आपको वरग़लाता है।"

सेण्ट लुई में तीसरे दिन सुबह डोरा ने म्यूज़ियम देखने का कार्यक्रम बनाया। और हमने दो घण्टे तक विस्तार से हर हिस्सा देखा। पूर्वीय कला और ऐतिहासिक अवशेषों का कक्ष, पश्चिम की चित्रकला और शिल्प-कला, पशु-पक्षी, पत्थर और जंगल की लकड़ियों वाले कक्ष, उस प्रदेश की संस्कृति की विशेषताओं का कक्ष, आदिवासियों के मॉडेल और कई तरह के पुराने आयुध और वाहनों का कक्ष—अत्याधुनिक कला का कक्ष।

आदिवासी और अत्याधुनिक चित्रकला में, शिल्पकला में बड़ा साम्य मिला। व्यापक विराट् हिंसा से जर्जर आधुनिक मानव मानो उन्हीं तुतले, सरलतम प्रतिमानों की ओर बढ़ रहा हो !

डोरा ने कहा—अमरीका को अपनी इस अमूर्त चित्रकला पर बड़ा गर्व है। 'जाज़' और रौथ् के और आर्प ही तो हमारी नयी दुनिया की देन है।

मैंने साफ-साफ कहा—मेरी समझ में यह कला नहीं आती। यह क्या है 'सफेद पर सफेद' या फिर काले धब्बों से भरा कैनवास या फिर मुश्किल से एकाध रेखा और रंगों का फैलाव।

डोरा ने पूछा—क्या कलाकार को अपने प्रयोग करने की स्वतन्त्रता नहीं दोगे ?

मैं—क्यों नहीं; पर फिर वह समाज पर उन्हें थोपता क्यों नहीं है ?

डोरा—थोपता कौन है ? समाज उन्हें सराहता है। सम्मान से ख़रीदता है। म्यूजियमों में, आर्ट-गैलरियों में टाँगकर रखता है। यह सब क्या उत्तरोत्तर हमारे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर बढ़ने का संकेत नहीं है ?

रेवरंड पाल डेविड स्थानीय छोटे से गिरजाघर का 'पास्टर' था। इस मिशन को नाज़ था कि इस अंचल में उन्होंने हज़ारों भारतीयों को, विशेषत: अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगों को ईसाई बनाया था। रेवरंड पाल स्थानीय बोली फर्राटे से बोलते थे और उनके प्रवचनों में गाँव के मुहावरे और हँसी-मज़ाक की बातें जुड़ी हुई होती थीं। गाँव के लोग इस अधेड़ मिशनरी से प्रेम करते थे, चूँकि वह दयालु और बहुत सहायताशील था। गरीब लोग बुलाते तो वह उनकी मदद को दौड़कर जाता और उनमें मुफ्त दवा बाँटता। दान-धरम भी करता।

सतीश हर रविवार की शाम को चर्च जाता था और वहाँ नियमित आने वालों में नर्स सोमा भी थी। एक दिन सतीश पाल से बातें कर रहा था कि सहज सोमा का विषय चल पड़ा। वह एक अनाथ आदिवासी लड़की थी। पड़ोसियों ने उसे पालकर बड़ा किया। वे पड़ोसी भी उसे छोड़कर चले गये। बैलाडीला में खान-मजूर बनकर वह कार्य करने लगी। बचपन से ही वह मनस्विनी, स्वच्छंद जीवन बिताने वाली वनवासिनी थी। जैसे जंगल की चिड़िया हो, वह पंद्रह वर्षों से प्रकृति के सान्निध्य में रही। कोई कपड़ा उसने पहना नहीं, सिवा सिर पर एक पीतल की पट्टी, गले में गुंजा और कौड़ियों की माला और कमर के नीचे एक छोटे अधोवस्त्र के। और यह अधोवस्त्र भी वह तब पहनती जब नमक खरीदने उसे हफ्ते के हाट में जाना पड़ता।

सोमा बिलकुल निरक्षर थी। मिशन ने उसे बड़ा किया। अब वह हिन्दी में बाइबिल पढ़ लेती है। थोड़ी-बहुत चालू अंग्रेज़ी का प्रयोग भी कर लेती है। उसकी इच्छा थी कि गरीब और अनाथों की सेवा करे। उसे सबसे नफरत थी तो झूठ से।

सतीश और पाल में यह सब 'पिछड़े वर्ग' के लोग और 'ईश्वर की उन पर दया कम है,' अत: उन्हें ईसाई बनाकर अच्छे आदमी बनाने के सुधारवादी तर्क पर बड़ी बहस होती रहती।

"यह सब गलत है। ईश्वर ने सबको समान बनाया है। समान पैदा किया है। क्या काला, क्या गोरा। क्या शहर का, क्या जंगल का, क्या पढ़ा-लिखा, क्या अनपढ़। आदमी यह अहंकार क्यों पाले कि वह राह-भटकी भेड़ को रेवड़ में ले आ रहा है? आदमी भेड़ नहीं है…"

रेवरंड पाल के मर्म में आघात लगता और वे जवाब देते—"मेरे नास्तिक मित्र। यह केवल पवित्र पुस्तक की रूपक की भाषा है। हमारा प्रभु यीशू सबसे बड़ा गड़रिया है। उसकी नज़र में हम सब बराबर हैं। सोमा की बात दूसरी है। वह शापित है। वह ईश्वरहीन है। हम उसे गिरजाघर के मंच पर लाये। हमने उसे आदमी बनाया।"

"इसका क्या अर्थ है? क्या सब लोग जो ईसाई नहीं होते, आदमी नहीं होते?"

"मैं ऐसा नहीं कहता। आदमी का ढाँचा या बाह्य रूप होना काफी नहीं होता। उसमें ईश्वरनिष्ठा होनी चाहिए। उसमें ईश्वर, उसके पुत्र और पवित्र आत्मा में निष्ठा होनी चाहिए, तभी उसमें ईसाई चेतना, ईसाई विवेक जागेगा..."

"पाल, तुम सदा तोते की तरह बोलते हो। तुम सिर्फ किताब की भाषा बोलते हो। क्या तुम्हारे कोई स्वतंत्र विचार भी हैं?"

"नहीं, नहीं, जिसे तुम 'स्वतन्त्र विचार' कहते हो, वह कुफ्र है। वह 'ब्लैसफैमी' है। मैं एक निष्ठा से बँधा हूँ।"

"तो फिर आपके और मेरे बीच में कोई एक सामान्य विचार भित्ति नहीं हो सकती। क्या आप समझते हैं कि सोमा का पूर्व-जीवन, उसका आदिवासी मुक्त वन्य जीवन, सींग पहनकर रात-रात-भर नाचना और कच्ची शराब पीना, यह सब आनन्दोल्लास अच्छे नहीं हैं? ठीक नहीं हैं?"

"हाँ, मेरा मत है कि अब वह अधिक सभ्य बन गई है। वह अब प्रभु यीशू का पथ अनुसरण करेगी। चर्च में शादी करेगी और भली औरत की सीधी-सच्ची गिरस्ती चलायेगी। वह एक पुरुष की पत्नी और अनेक बच्चों की माँ होगी, जो ईसाई होंगे...।"

"पाल, तुम इसलिए यों सोचते हो कि तुम एक कैथोलिक पादरी हो और तुम्हें व्रतस्थ ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना पड़ता है।"

"कैसा विकृत मन है तुम्हारा मि० तिवारी! क्या गोंडों का उस तरह से जंगली जीवन, युवक-युवतियों का एक ही घोटुल में एक साथ सोना और अपने जीवन-साथी को चुनना, ठोक-बजाकर, यह सब पाप नहीं है?"

"सुना है, अमेरिका में डेटिंग की प्रथा चलती है इसी तरह से। और किसी ईसाई ने उस पर आपत्ति नहीं उठायी..."

इस तरह दोनों में बहस बराबर जारी रहती। कोई किसी की नहीं सुनता। पाल अपनी जगह से टस से मस नहीं होता। सतीश भी हार मानने वाला नहीं था। दोनों में समान तत्त्व बहुत कम था। सोमा ही एकमात्र दोनों में एक शृंखला थी।

सोमा का स्वर अच्छा था। वह अपने प्रजाति में अच्छी गायिका और नर्तकी रही होगी। जब फिर पूनम का चाँद पूरी उभार पर होता, बाँस के जंगल सिर हिला-हिलाकर झूमते, गोंड अपने अर्थहीन गीतों की कड़ियाँ दुहराते, ज़ोरों-ज़ोरों से—"आलो ये रेलो ये रेरोंग..." साथ में ढोल बजाते, गोल बनाकर नाचते जाते, रात-रात भर। पास में झरता झरना ताल देता। और प्रहर कैसे चुपचाप बीत जाते, निकल जाते। किशोर-किशोरियों के लालस-सालस कटाक्ष, कभी वर्षा देवता को बुलाते, कभी नाग-रानी को या जंगल की आग के देव को शांत करते।

ऐसा क्रम शताब्दियों से चला आ रहा था। उनके ताल और नाच की थिरकन को किसी ने रोका नहीं न बाधा डाली। उनकी भक्ति अपने आसपास की सब प्राकृतिक वस्तुओं के लिए थी—पेड़ और पहाड़, बाघ और साँप, सबमें एक ही अपरिभाषित 'प्राण' भरे हुए थे···

गोंड जाति, जिसका सोमा एक अंश थी, बहुत गरीबी में गुज़ारा करती। न तो उनके कोई मकान थे, न ज़मीन, न जायदाद, न कोई चीज़-बस्त। खेती उनकी 'झूम' की थी। खेतों की कटाई के बाद जो डंठल बचे रहते वही जलाकर उसकी राख खेतों में बिखेर देते। उनके उत्सव भी बहुत सादे थे—ऋतुओं के साथ बँधे। उन्हें अपने आसपास के रंगों और आवाज़ों के मेले के प्रति बच्चे जैसी जिज्ञासा और कुतूहल था।

सतीश के लिए, जो आधुनिक वामपंथी बौद्धिक था, यह सब एक बड़ी अनैतिहासिकता लगती। ऐसे लोग बीसवीं सदी के भारत में, रेडियो समाचार और तेजी से बदलती दुनिया से घिरे 'आराम' और 'सुखचैन' से कैसे रहते हैं! वैज्ञानिक विकास और सुख-समृद्धि के बीच ऐसी अशिक्षा और ऐसी दरिद्रता! मनुष्य मनुष्य के साथ ऐसा क्रूर परिहास क्यों करता था? क्या मनुष्य डरता था कि किसी दिन वह अराजक के रूप में फूट उठेगा? जब इन आदिवासियों की अगली पीढ़ी विश्व-इतिहास पढ़ेगी, जब वे अपने अधिकार और विश्व में राष्ट्रों की होड़ा-होड़ी में अपना स्थान जानेगी, जब···

पाल सतीश के ऐसे विचारों पर कि इन आदिवासियों में क्रांति के बीज बोये जायें, ठंडा पानी डालता।

जब एक दिन तीनों मिले, तो ऐसे लगा कि सोमा एक तीसरा आयाम है वह एक अलग ही दुनिया का जीव है, मानो वह इस दुनिया का हिस्सा नहीं है।

सतीश ने उस पर दया दिखाई—"इस तरह अस्पताल में कब तक खटती रहोगी? क्या तुम्हें नहीं लगता कि अपनी अलग ज़िन्दगी बिताई जाये?"

सोमा—"इसका क्या अर्थ है? अब भी मुझे नाचना-गाना पसंद है।"

पाल—"पर अब तुम सत्य के राह की खोजी और गरीबों की सेविका हो। तुम्हें लौटकर पुनः जंगली तितली के जीवन की तरह जीवन नहीं बिताना चाहिए।"

सोमा—"पर तितली रंग-बिरंगी, कितनी सुन्दर होती है!"

सतीश—"जीवन केवल रंग नहीं है। जीवन का मतलब है कठोर परिश्रम, संघर्ष। सोमा, तुम अभी बच्ची हो।"

सोमा—"बच्चा बने रहने में क्या बुराई है?"

पाल—"हमारे ईसामसीह को भी बच्चे प्यारे थे।"

सोमा—"कहिए सतीश बाबू? नाचने-गाने में क्या बुराई है। हम किसी

को तंग तो नहीं करते, किसी को लूटते तो नहीं।"

सतीश और पाल दोनों चुप हो गये। वह ऐसे मौलिक सवाल पूछती, बहुत अलग-अलग कारणों से। धीरे-धीरे सतीश के मन में एक गुप्त चाह उठी कि सोमा से विवाह कर लिया जाये। क्यों न वह उसे अपनी जीवन-संगिनि बना ले। रेवरंड पाल ने कहा कि विवाह गिरजाघर के नियमों के अनुसार होना चाहिए। और इसी बहाने एक और शिक्षित, चुस्त, तेजतर्रार हिन्दू युवक ईसाई बन जाता।

कुछ दिन बीते। और जब पादरी साहब सतीश और सोमा के विवाह की बात सोच रहे थे, तब एक विचित्र घटना हो गई।

एक पूनम की रात थी। हवा में बसंत था, और हवा से चुंबित वन के वृक्ष कोरस में गा रहे थे, पत्तों की तालियाँ बजा-बजाकर। झरना हमेशा की तरह खिलखिला रहा था। सतीश उम्मीद लगाये बैठा था कि सोमा सफेद झक कपड़े पहने चर्च में आयेगी, दिव्य वधू-वेश में। सतीश तो किसी धर्म-रूढ़ि में विश्वास नहीं करता था, परंतु पाल की इच्छाओं को मान देते हुए, विवाह ईसाई रस्म से करने को उसने अपनी सहमति दे दी थी।

पर वह बहू कभी आई ही नहीं।

गोंड उत्सव दिन था। दूर पर ढोल बज रहे थे और वे जैसे बुला रहे थे, बार-बार वही रैंटे टाट-रैंटे टाट ताल के बीच-बीच में ढम-ढम-ढम, ढम-ढम-ढम ज़ोर से बज उठता। बड़े-बड़े ढोल, जिन पर जंगली जानवरों का चमड़ा चढ़ा था, छोटी-छोटी बाँस की डंडियों से पीटे जाते। गोंड तरुण वादकों के गले में वे लटके रहते। एक हाथ कभी उन ढोलों को थपकाता, कभी ज़ोर-ज़ोर से पीटता। कैसा अलौकिक संगीत था!

सोमा ने वह सुना। उसके कान उस गूँजते जादू से भर उठे। वह अपने आपको सँभाल नहीं सकी। मानो कोई हिप्नौसिस का मारा हो, वैसे वह उठी। मिशन अस्पताल के अहाते से बाहर चलने लगी। चर्च की ओर जाने के बजाय वह जंगल के रास्ते की ओर मुड़ी। उलटी दिशा में वह भागने लगी। वह घने जंगल में घुस गयी। उसने अपना युनिफार्म उतारा और उस सघन वन की कोख में वह खो गई। वह अपनी जान को लेकर भयभीत थी। मानो सभ्यता उसका एक अमूर्त, अदृश्य भूत की तरह पीछा कर रही हो।

अब उसके लिए नहीं थीं ईसाई प्राथनाएँ, अस्पताल की ड्यूटी, सतीश के उपदेश, दान और मानव-दया के रिश्ते। उसके लिए कोई रूसो वाला 'सामाजिक बंधन' नहीं था। कई विचारक मानकर चलते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जन्मना संघ-प्रिय है। वह गृहस्थी और परिवार के चक्कर से दूर, उस सोच से परे कहीं थीं।

ढोल बराबर ढम-ढम-ढम बज रहे थे। सोमा अपने आपको रोक न सकी। उसके भोले कोश में नहीं थे शब्द—उत्स की ओर लौटो, 'एटैविज़्म' (Atavism)···

हमारे सारे तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन, बौद्धिक वाद-विवाद, सब व्यर्थ हैं, अर्थहीन हैं, आखिर मनुष्य का अन्त में वही रह जाता है, जो शुरू में था—केवल शरीर।

डॉ॰ जेम्स ने आह भरी और कहा—"सोमा चली गई। किसी ने उससे कुछ कहा नहीं। उसने किसी की अनुमति नहीं ली? क्यों? वह जंगल में गई, घने जंगल में। वह पीछे छोड़ गई केवल उसकी पोशाक, उसका फ्राक, उसकी टोपी, और शायद अंडरवीयर भी। वह हौवा के वेश में चली गई। दिगंबरी···"

अब बताइये कौन रोगी है और कौन डाक्टर?

व्यंग्य-साहित्य

अथ तैल माहात्यम्

भीड़ में सुने सम्भाषण के टुकड़े

—तेल देखो, तेल की धार देखो !
—कहाँ राजा भोज, कहाँ गँगुआ तेली !
—तेल को संस्कृत में 'स्नेह' कहते हैं
—तो तेली नहीं स्नेहीजन कहो, सनेही
—बड़े तैलबुद्धि हैं आप ?
—पोऽरिंग वॉटर ओवर ट्रबल्ड ऑएल
—आग में तेल छिड़कना है !
—चाहे बालू में से तेल निकल आये, परन्तु मूर्ख के हृदय में समझ आनी मुश्किल है।
—शनी महाराज को तेल चढ़ाइए !
—अजी इन तिलों में तेल कहाँ ?
—अगर आँ तुर्के-शीराज़ी बदाते आरद दिले-मा रा
बख़ाले-हिन्दुअश बख़शम् समरकंदों-बुखारा रा
(अगर वह शीराज़-निवासी प्रियतम मुझ पर कृपा करे तो उसके काले तिल की क़सम, मैं उस पर समरकंद और बुख़ारा की जागीरें निछावर कर दूँ।—हाफिज़)
—अजी वह तिल-तिल करके घुलकर मर गयी
—खुल जा समसम (सीसॅम = तिल)
—क्या तिल का ताड़ बना दिया जी !
—तेल मालिश, चंपीऽऽ
—इनका मेल नहीं हो सकता, पानी और तेल की तरह !
—तेल के रंग जल रंगों से अधिक टिकाऊ होते हैं
—"तैले तैले न वाणिज़्यम्..."
('शैले-शैले न माणिक्यम्' की पैरोडी)

(तेल की पकौड़ियाँ, 1962 से)

बुद्ध पालम एअरोड्रोम पर

फिर से बुद्ध यहाँ पर आये अपने ही घर
जिसको कहते भारत सुन्दर।
देखा इन ढाई हज़ार बरसों में सचमुच
कितना बदल चुका है सब कुछ
आये बुद्ध, सुना पालम-विमानतल पर नारी-नर
तत्पर, सत्वर, लाखों पीले-पीले चीवर
राज और शासन के अफ़सर
पीला एक गुलाब टाँककर
खड़े हुए थे बना समज्या
मानो सब ही ले लेंगे अब अहा, प्रव्रज्या !
कई कैमरे खड़के,
इतना प्रकाश क्यों कर तड़के,
और मचानों पर यों चढ़ के ?

आह, स्वयंप्रभ ज्ञानालोकित
सौम्य तथागत की मुद्रा को,
लेन्स कहाँ ले पावेगा ?
यह भी रस्म हुई पूरी फिर
झट से एक प्रेस-कान्फरेन्स बुलायी
कई जुटे पत्रों के भाई
लगी प्रश्न की झड़ी
मूर्खता-भरी अक्ल से गढ़ी।
पूछ रहे आपकी राय क्या ?
सीटो के बारे में, वीटो के बारे में
प्राहीबीशन, कॉण्ट्रासेप्शन,
गन्दे ग्रन्थों का प्रास्क्रीप्शन,
युद्धों की अनिवार्य कड़ी में,
हिन्दी की लालों से भरी हुई गुदड़ी में,
कब पहुँचेंगे हम मंगल-तारे में ?
और आपकी प्रिय अभिनेत्री ?
कौन आपका प्रिय साबुन है ?
किस रेजर से, और ब्लेड से

आप नित्य श्मश्रु हैं करते ?

गौतम ने सब प्रश्न सुन लिये
मौन मुस्कराकर वह बोले—
नहीं मुँडाया हमने सिर जो
आते ही प्रश्नों के ओले !
हम न आपके एक प्रश्न का भी
देंगे कोई भी उत्तर
नहीं हमारे पास राजनैतिक वह चाभी
जो कि अहल्याओं को कहीं बनाती पत्थर
नहीं हमारी कस्तूरी से पूरित नाभी,
(हिन्दी नहीं ग़रीब की जोरू सबकी भाभी)

सब कुछ दुःख से भरा हुआ है पथ पर
देखा तब सिद्धार्थ चले तो
कई वृद्ध चीथड़े पहन कर
कहीं पेन्शनों ख़ातिर था
कहीं पुरानी फटी वर्दियाँ पहने जर्जर
चले जा रहे थे गिरोह बन
नारा यही लगाते—
जो बूढ़े की नहीं करेगा फिक्र वही बूड़ेगा ।
और कई रोगों से जर्जर
कहीं पीलिया, कहीं-कहीं चेचक से पीड़ित,
ढीले-ढीले अंजर-पंजर
स्वास्थ्य-मन्त्रियों को जो कोसे चले जा रहे !
और मरण की बात न पूछा

देखा सब कुछ कई जनों ने
कुछ तो करुणा दरसाकर शब्दों में
किसी पास के होटल में घुस गये
गर्म पी चाय
या कि कह—'ब्वाय'···
मँगायी बीअर
अथवा जिन या विस्की

चुस्की-चुस्की पीकर दर्द भुलाते
मन में कहते 'हाय-हाय' अकुलाते ।
और किसी ने ग़ुस्से में आ
मुट्ठी बाँधी और लगाया नारा ऽ ऽ
दुनिया के सब रोगी-कोढ़ी
दुनिया के सब बूढ़ो
दुनिया के सब मरने वालो
गोल बाँध कर क्रान्ति करो अब,
इन्क़लाब या जिहाद बोलो—
यमराजा के ख़िलाफ़ मोर्चा
ले जाना ही होगा ।

बुद्ध मुस्कराये
नैनों से केवल एक अश्रु ही ढुरका ।
"यह अज्ञान ! दुक्ख का कारण" !
"नियति मनुज की अपनी तृष्णा !"

('तेल की पकौड़ियाँ', 1962 से)

बाज़ारू सभ्यता

बड़े-बड़े बाज़ार जहाँ पर सजा-सजाकर
कपड़े, गहने, जूते, सब कुछ हैं विज्ञापित,
मोटर के शो-रूम, विलायत-लौटे नापित,
वहाँ सभ्यता छिप जा बैठी कहीं लजाकर ।

टार रोड, औ' बिजली की सब सुविधा अच्छी,
रिक्शा, टैक्सी, ट्राम और बस
पैसे से मिलता है बस सरबस का सब रस
पर दो जून वहीं खाने की दुविधा अच्छी !

यहाँ अमूल्य वस्तुएँ भी बेची जाती हैं :
मसलन सतीत्व, प्रामाणिकता, वोटर संख्या,

पण्य वस्तु लावण्य बना है, नगण्य है क्या ?
खुदा चढ़ा नीलाम, आत्मा की फ़ोटू खींची जाती है

नहीं यहाँ पर कुछ भी शाश्वत या चिरकालिक ।
सब कुछ बँटा हुआ दो रिश्तों में : हैं नौकर अथवा मालिक !

('तेल की पकौड़ियाँ', 1962 से)

फगुनाहट

सरसों के हाथ हुए पीले
ईखों की पाँत खड़ी तनकर
अरहर के खेत बड़े भोले
सूरज भी ठिठका है छन-भर

बेर छिपे झाड़ी से झाँके
चरखी से पानी बहता है
निकली गोरी अभी नहा के
फागुन की आहट अनचाहे

पेड़ों ने बदले हैं कपड़े
उड़ते सूखे पीपल पत्ते
जाटिन ने दाँती से काटे
पूल किये पच्चीस इकट्ठे

नभ से सौ फ़ानूस टँग गये
पच्छिम की महराब ललाई
नये-पुराने धुले, रँग गये
मन में यों बहार उरझायी

('तेल की पकौड़ियाँ', 1962 से)

नींव

कुछ सिलावट, छीनियाँ ले,
ईंट रचते हुए मिस्त्री,
कुछ श्रमी महिला तगारी ढो रही
गोल चूने की इक भट्ठी !···
बन रहीं ये कोठियाँ, ये महल किसके ?
आदमी को शीत ऊष्मा से फ़क़त रक्षण अभीप्सित
फिर भला महराब की और मंज़िलों की क्या ज़रूरत ?
ये भला बहलाव किसके, शग़ल किसके ?—
ईंट रक्खी, और चूने से सटायी
धूप से पक्की हुई
अब क्या हटायी जा सकेगी ?
और ऊपर पत्थरों को पाट डाला
अब भला ये चीज़ किस 'बल' से
मिटायी जा सकेगी ?
(एक बल है तो ज़रूर, भूकम्प जिसको बोलते हैं
जो कि सारे विश्व को संत्रस्त कर दे
'शेष' जब कुछ डोलते, मुँह खोलते हैं···)—
आज जितना ही शिखर ऊँचा बनाना
ख़ूब गहरा खोदना उतना ज़रूरी
और जितना ही बड़ा मालिक-मकान
उतनी ही ज़्यादह मजूरी से हो दूरी !—
यह जुटे हैंगे अनेकों जीव
जिनको एक टूटी झोंपड़ी भी नै नसीब
क्या उसी को लोग कहते हैंगे नींव ?
क्या इसी पर आज होंगे रे खड़े
प्रासाद ये, अट्टालिकाएँ !
और उन विवसन, श्रमिक महिलाजनों की
आह पर जो चाँदनी बनती चलेगी
क्या उसी पर खिलखिलायेंगी
वे 'बूर्ज्वा' बालिकाएँ—?
जो हमारे कविजनों की स्वप्न प्रेयसियाँ बनेंगी !

क्या इसी को लोग कहते हैंगे नींव ?
क्या इसी पर ये जुटे हैं जीव ?

('तेल की पकौड़ियाँ', 1962 से)

लॉलीपॉप

एक वार हिन्दी के छह कवि सरस्वती देवी के पास पहुँचे और आशीर्वाद माँगने लगे। सरस्वती जी ने उन्हें एक-एक को एक-एक लॉलीपॉप यानी चूसने के खटमीठे पेपरमेण्ट दिये। तव उसकी तारीफ़ में उन्होंने जो कुछ फ़रमाया सुनिए।

—एक पुराने ढर्रे के कवि थे, उन्होंने कवित्त कह डाला :

कैधों निबुओं का है निचोड़ इक्षुदण्ड जोड़,
कैधों किसी लाल-पीले राजर्षि का शाप है।
कैधों यह खट-मीठी स्मृति की अँगीठी में
मुग्धा नायिका के मन छाया हुआ ताप है।
कैधों अनुराग का है सुरभिविहीन पुष्प,
वाप रे वाप ! आप कैधों स्मर-चाप है।
प्रतिभा का पाका यह, ज्ञान की शलाका सम
मातु सारदा का यह बाँका लॉलीपॉप है।

—एक द्विवेदीयुगीन कवि ने हरिगीतिका फरमायी :

भगवान् भारतवर्ष में कैसा विदेशी शाप है !
शब्द कोई क्या स्वदेशी मिल न सकता आप है !
किन्तु माता शारदा ने जो दिया, निष्पाप है !
आह ! लॉलीपॉप है ! रे वाह, लॉलीपॉप है !

—वाद में एक छायावादी कवि पधारे। बोले :

अरे अवदात ! लालि के पाप
प्राण ! तुम लघु-लघु गात
पियालों के फूलों से
जब अलिकुल-संकुल
टलमल-रलमल
मसृण-अविरल
जल बहता था जलज-नयन कूलों में

तब तुमने जन्म लिया ओ शबनमस्नात !
मधुर-मधुर तुम ! विरह-स्मरण सम
अमित आत्म तुम, करुण करुण मम
तुम्हें सँजोकर मैं रखता हूँ प्रिये स्नेह की याद !
चप्पल भी जो तुमसे पायी, समझा सदा प्रसाद !

—प्रगतिवादी :

लाल लॉलीपॉप देना !
शारदे ! तुम बोर्जुआ हो, एक हँसिया छाप देना !
मुक्त मेरा छन्द है
यह मुक्त सब आनन्द है
स्पूतनिक का युग, मुझे मत लाइका का शाप देना !
लाल लॉलीपॉप देना !
चूसते हैं खून जैसे ग़रीबों का, मजूरों का
चूसते हैं नवीनों को, पुराने ज्यों सभी पोंगा !
चूसते हैं, चूसते हैं, चूसते हैं
आज लॉलीपॉप हम !
उच्छिष्ट किन्हीं देशों के विचारों की भाँफ हम !
आने वाली क्रान्ति के हैं घोड़ों की टाप हम !

—गीतकार :

साँस-साँस में पुकारता रहा कि स्वाद याद है।
अधर से चढ़ा लिया न अमिय-विष प्रमाद है।
गगन में मगन चढ़ी कि बदरिया अगाध है।
गुनगुना रहा पिया हुआ, हिया की दाद है।
न अर्थ है न शब्द, नाद, नाद, सिर्फ़ नाद है।
एक रक्त कमल लॉलिपॉप चखूँ य' साध है !

—प्रयोगवादी :

खट्टी जैसी डकार
मीठा ज्यों कुण्ठा का ज्वार
अन्धा युग, अन्धा जग, अन्धी गली, अन्धा लालटेन
ट्रेन में खींची हुई चेन !
शब्द मत दो, न सही, मिठाई दो

तो तो ता ता ता ता तो तो
मैं क्या बच्चा हूँ
जो लॉलीपॉप माँगूंगा ?
आ गया चुपके से चोरी से खा लूंगा !

—नकेनवादी :

ला
 लीला
  आप
पाप

('तेल की पकौड़ियाँ', 1962 से)

एक कुत्ते की डायरी

शुनिचैव श्वपाके च पंडितः समदर्शिनः ।
(गीता)

मेरा नाम 'टाइगर' है, गो शक्ल-सूरत और रंग-रूप में मेरा किसी भी शेर या 'सिंह' से कोई साम्य नहीं । मैं दानवीर लाला अमुक-अमुक का प्रिय सेवक हूँ; यद्यपि वे मुझे प्रेम से कभी-कभी थपथपाते हुए अपना मित्र और प्रियतम भी कह देते हैं। वैसे मैं किस लायक हूँ ? मतलब यह है कि लाला जी का मुझ पर पुत्रवत् प्रेम है । नीचे मैं अपने एक दिन के कार्यक्रम का ब्योरा आपके मनोरंजनार्थ उपस्थित करता हूँ—

6 बजे सवेरे—घर की महरी बहुत बदमाश हो गई है। मेरी पूँछ पर पैर रखकर चली गयी । अन्धी हो गयी क्या ? और ऊपर से कहती है—अँधेरा था । किसी दिन काट खाऊँगा । गुर्र-गुर्र···अच्छा-चंगा हड्डीदार सपना देख रहा था और यह महरी आ गयी—इसने मेरे सपने के स्वर्ण-संसार पर पानी फेर दिया। विचार-शृंखला टूट गयी। बात यह है कि मैं एक शाकाहारी घर में पल रहा हूँ। अतः कभी-कभी मांसाहार का सपना आ जाना पाप नहीं !—यह मेरी अतृप्त वासना है, ऐसा परसों मालिक से मिलने को आये, एक बड़े मनोवैज्ञानिक जी कह रहे थे ।······फिर सो गया ।

7 बजे—कोई कम्बख़्त आ ही गया । नवागन्तुक दिखाई देता है । बहुत भूँका—पर नहीं माना । ज़रूर परिचित होगा । जाने दो—अपने बाबा का क्या जाता है ? डेढ़ सौ वर्षों में ब्रिटिश नौकरशाही ने हमें यही तो सिखाया है—किसी की सारी, किसी का सर—अपने से क्या ? हम तो भुस में आग लगाकर दूर खड़े हैं तापते !

8 बजे—नाश्ता-पानी । आज ब्रेकफ़ास्ट की चाय पर बहुत गर्मागर्म बहस हो रही है ! क्या कारण है ? मालिक कह रहे हैं कि इन मज़दूरों ने आजकल जहाँ देखो वहाँ सिर उठा रखा है । कुचलना होगा इसे। जान पड़ता है—मज़दूर कोई साँप है। मालिक के मित्र बतला रहे थे कि उत्पादन में कमी हो रही है। हड़तालों के मारे तबाही मची हुई है । ऐसा कहते हुए उन्होंने अपनी नई 'सुपरफ़ाइन' धोती से चश्मे की काँच पोंछकर साफ़ की थी । मालिक की लड़की कुछ उद्धत जान पड़ती है; बाप से मतभेद रखती है । यही तो कुत्तों की जाति और मानव-जाति में अन्तर है—कुत्ता सदा वफ़ादार रहता है; आदमी, ये अहसान-फ़रामोश हो जाते हैं !

9 बजे—बगीचे में मालिक के छोटे लड़के (और आया उनके साथ) सैर के लिए आये। फूलों के विषय में आया कुछ भिन्न मत रखती है; मालिक की लड़की का कुछ और मत है। मेरी दृष्टि से तो ये सब काट-तराश बेकार-सी चीज़ है—मगर नहीं—मैं अपना मत नहीं दूँगा—पहले मैं यह जान लूँ कि फूलों के बारे में मालिक का क्या मत है? तभी अपना मत देना कुछ 'सेफ़' होगा।

10 बजे—एक नये ढंग के जानवर से मुलाक़ात हो गयी। यह 'फट् फट् फट्' आवाज़ बहुत करता है, नथुनों से धुआँ उगलता है। मालिक चाहता है तब रुकता है, चाहता है तब सरपट दौड़ता है। बड़ी चमकीली आँख है उसकी। मैंने भरसक उसकी नकल में भूंकने और दौड़ने की कोशिश की—मगर यह किसी विदेश से आया हुआ प्राणी जान पड़ता है। जाने दो, अपने को विदेशियों से क्या पड़ी है? अपने राम तो 'स्वदेशी' के पुरस्कर्ता हैं—चाहे नाम ही स्वदेशी हो—और बनाने के यन्त्र सब विदेश से आते हों।

11 बजे—भोजन। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अच्छे-अच्छे तनख़ाहवाले बाबुओं को जो नसीब न होगा, ऐसा उमदा पकवान हमें मिल जाता है। सब भगवान की लीला है। जब वह खाता हूँ तो भूल जाता हूँ कि मेरे गले में कोई पट्टा भी है या मुझे भी कभी मालिक ठोकर मारता है। मुझे स्वामी की ठोकर अतिशय प्रिय पुचकार की भाँति जान पड़ती है।

12 बजे से 3 बजे तक—विश्रान्ति।

3 बजे—सहसा किसी का स्वर। निश्चय ही वह मालिक की बड़ी लड़की का मुलाक़ाती, भूरे-भूरे बालों वाला तरुण है! वह मख़मल का पैंट पहनता है, पहिले मैंने उसे किसी चितकबरी बिल्ली का बदन ही समझा—वह ग़रीबों की बात बहुत करता है! आज उसने जो चर्चा की उसमें कला का भी उल्लेख था। जान पड़ता है कि शिकारी कुत्ते को जैसे एक ख़ास काम के लिए पालकर बड़ा किया जाता हैं; वैसे ही यह कलाकार नाम का प्राणी भी समाज में किसी ख़ास हेतु से बढ़ाया जाता है।

4 बजे—शाम की चाय के वक़्त बहुत मण्डली जुटी थी। घर ख़ास चायघर बन गया था। आज 'हिन्दुत्व', 'हिन्दू-सभा', 'हिन्दू-वीर', 'हिन्दू-दर्शन' आदि विषयों पर बड़ी बहस हुई। कई लोग थे जो इस बारे में उदासीन थे कि वे अपने को हिन्दू कहें या अहिन्दू। दो-चार नौजवान इस बारे में बहुत 'टची'[1] थे। जैसे कुत्ते की थूथड़ी पर कोई बेंत मारे तो वह तिलमिला उठता है; वैसे ही उनके हिन्दुत्व पर चोट करने से ऐसा जान पड़ता था कि उनके सतीत्व पर चोट हो रही है। मैं जानना चाहता हूँ कि हिन्दू क्या चीज़ है? यह किस चिड़िया का नाम

1. टची=touchy=तिलमिलाने वाले।

है ? मेरा पुराना मालिक ईरानी था—और तब भी मैं सुखी था—अब भी हूँ। गुलाम का कोई धर्म नहीं होता—कहते हैं अब यहाँ के आदमी आज़ाद हो गये हैं, मगर पैसे की गुलामी तो अभी बाक़ी ही है। जैसे प्रसन्न होकर मेरी जाति के प्राणी अपनी पूँछ हिलाने लगते हैं; वैसे मैंने कई विद्वान, चरित्रवान, निष्ठावान, धर्मवान (माने जाने वाले) महानुभावों को पैसे की सत्ता के आगे पिघलते हुए देखा है। हिन्दुत्व बड़ा है या पूँजीत्व !

6 बजे—बाहर फिर घूमने के लिए चला। मालकिन मेमसाहिबा ख़ास कपड़े पहने, ऊँची एड़ी के जूते, रंगीन साड़ी वग़ैरह के साथ थीं। मेरी भी चेन ख़ास ढंग की थी। यह तभी पहनाई जाती है जब मालकिन किसी उत्सव-विशेष या बाइस्कोप वग़ैरह में शामिल होती हैं। आज भी कुछ भीड़ देखने को मिलेगी। मेरी दृष्टि में सभा-समाजों की भीड़ और सिनेमा-थियेटर की भीड़ में ख़ास अन्तर नहीं।

6 से 8.30 बजे तक—एक सफ़ेद पर्दे पर हिलती-बोलती तस्वीरें देखीं। अरे, तो यह आदमी जो अपने-आपको बहुत सभ्य समझता है सो कुछ नहीं है। जैसे हम लोगों में प्रेमातुरता होती है, वैसे ही इनके चलचित्रों की नायक-नायिकाएँ दिखाती हैं। कोई ख़ास अन्तर लड़ने-भिड़ने में भी नहीं—जैसे दो श्वान एक हड्डी के लिए लड़ते हैं, दो मानव एक मानवी के लिए या मत के लिए या पराये देश के लिए। अच्छा हुआ मैंने यह दृश्य देख लिया, जिसे हज़ारों मानव चुप बैठे हुए आँखों के सहारे निगल रहे थे। मेरा स्वप्न भंग हो गया। मानव-जाति को मैं बड़ा आदर्श समझता था—परन्तु वैसी कोई विशेष बात नहीं।

9 बजे—सोया। क्योंकि फिर सवेरे जागना है, वही पूँछ हिलाना है—तब डबल रोटी का टुकड़ा शायद मिले; और ज़्यादह ख़ुशामद करने पर दूध भी मिल सकता है !

अच्छा भु: भु: (मानवों की भाषा में अनुवाद : अच्छा तो रास-राम !)

घूस

'हे ईश्वर ! जग है नश्वर, फिर भी शाश्वत है रिश्वत···'

एक तरुण कवि ने अपनी (काल्पनिक) प्रेयसी के प्रति कहा—'प्रेयसी ! यदि तुम आओ तो निज हृदय बिछा दूँगा मैं !' कवि का अपने हृदय का इस प्रकार कार्पेट बना देना एक प्रकार से घूसख़ोरी ही हुई। क्या प्रेयसी उस बिछावन के बिना उसके जीवन-झोंपड़े में प्रवेश ही नहीं कर सकती थी ? और मान लीजिये, प्रेयसी के चरण-कमल सैंडलान्वित हों तो फिर इस हृदयरूपी कार्पेट की नरमी

या खुरदुरेपन का उन्हें एहसास ही नहीं होगा। परन्तु साहित्य में सब जगह यह सूक्ष्म प्रकार की घूसख़ोरी चला करती है। जैसे बच्चे से काम लेना हो तो उसे चाकलेट का लालच दिखलाया जाता है, उपन्यासकार या कहानीकार अपने पाठक के दिमाग में कुछ और विचार ठोकना चाहता है, फ़िट करना चाहता है—और आश्रय लेता है कथा का। हम साहित्यिकों और लेखकों के अपने पाठक से सम्बन्ध इस प्रकार से घूस देने वाले और घूस लेने वाले के होते हैं। घूसख़ोरी आज के युग का महान आदर्श है।

आप सवेरे से शाम तक दैनिक जीवन में यही किया करते हैं। आते ही आपके बच्चे रोना शुरू करते हैं और उनसे (और अप्रत्यक्ष रूप से उनके लिए ज़िम्मेदार आप से) हैरान श्रीमतीजी झल्लाती हैं तब आप बच्चों को इकन्नी देकर जलेबी, बर्फ़ी या ऐसी ही कुछ चीज़ लेने भेज देते हैं। श्रीमतीजी को शाब्दिक घूस देते हैं कि हाँ, अब की छुट्टी में मैं तुम्हें ज़रूर मायके पहुँचा दूँगा। कि इतने में आपके दोस्त आ धमकते हैं। वे शहर भर का 'स्कैंडल' आपको सुनायें इससे पहिले वे आपसे ज़्यादह बड़बड़ न करें इसलिए आप उन्हें घूस के रूप में 'सिगरेट' ऑफ़र करते हैं। और दफ़्तर जाने में 'लेट' होने पर जल्दी आफिस से लौटने के लिए अफ़सर जब क्रुद्ध हो रहा हो तब दुम दबाये आप सामने खड़े हैं और धीमे से विषय छेड़ देते हैं? (जिस क़िस्म का अफ़सर हो और उसकी अभिरुचि हो) —'वह मर्सिराइज़्ड कपड़ा ख़ास तौर से आपके लिए मैंने इतने गज़ रखवा लिया है। दाम का क्या, आते रहेंगे; भला आप भी क्या कहेंगे ?' या 'क्रॉसवर्ड का वह उन्नीस डाउन का 'क्ल्यू' है, उसमें N के बजाये L ही अधिक उपयुक्त है'; या 'आपके हाथ की बीमारी के लिए मालिश सबसे ठीक होगी'; या 'मैंने नेहरू की नयी किताब ख़रीद ली है कल आपको पढ़ने ला दूँगा'; या फिर एक दूसरा मोर्चा—'कल वह फलाँ साहब (साहब के शत्रु या प्रतिस्पर्द्धी) आपके बारे में यह कह रहे थे कि···' और साहब झट से अपना गुस्सा भूलकर आपसे कहेगा—'हाँ, हाँ, मिस्टर श्रीवास्तव या सकसेना या भटनागर, (जो भी आपका नाम हो), कुर्सी ले लीजिये बैठिये—क्या बता रहे थे आप। यों हर एक दफ़्तर का बाबू अपने बॉस या आक़ा को ख़ुश रखने के लिए विविध तरीके जानता है। आका ज्योतिष में दिलचस्पी रखते हों तो ये सब दफ़्तरिये ज्योतिषी बन जाते हैं और उसे बाग़बानी से शौक़ हो तो सभी कारकुन पोचा के बीजों का कैटलॉग बन जाते हैं।

घर लौट आने पर, इसी तरह मार्केटिंग करने जाते हैं तब, काला बाज़ार से चीज़ें बेचने वाले बनिये को—'हाँ सेठ जी, आप ही तो हमारे सबसे बड़े विश्वसनीय दूकानदार हैं!' और साग-सब्जी बेचने वाली कूंजड़िन तक को—'वाह, तुम्हारे खेत की मूली कितनी मीठी होती है, इसी से तो यहीं लेने आते हैं,'

इस आशा से आप ख़ुश करते रहते हैं कि कुछ अधिक, कुछ बेहतर और कुछ एहतियात से माल मिले। पर आप भूलते हैं कि ऐसे ही स्तुति करने वाले सभी ग्राहक आते हैं, और व्यापारी सभी से मीठी बातें करते हैं। व्यापारी की हँसी गिलट के रुपये की तरह होती है।

आप घूस देने जाते हैं, वहाँ ख़ुद भी इस घूसख़ोरी के शिकार ज़रूर होते ही हैं। सबसे अधिक विज्ञापित साबुन या फिल्म के लालच से शायद ही आप बचते हैं। और प्रवास में, सिनेमाघर में, मोटर-स्टैंड पर, कहीं भी जहाँ-जहाँ टिकट ख़रीदने का सवाल होता है, चुपके से पुलिसमैन को या अन्य पहचान वाले को दो-चार-पैसे-आने-रुपये 'चढ़ोतरा' दे देना अधिक सुविधाजनक होता है। यहाँ तक कि रेल में बैठाने में भी कुली महाशय किसी क्रोधी देवता से कम 'बलि' नहीं लेते। और डिब्बे के अन्दर घुस जाने पर आप लाख कांग्रेसी हों अन्दर बैठे मोटे-ताजे दाढ़ी वाले सिख या रेशमी शलवार और लिपस्टिक लगाने वाली शरणा-र्थिनी (?) से, चाहे वे बिला टिकट ही क्यों न हों आपको डर के पेश आना पड़ता है और उनके हिन्दूसभाई कुतर्कों की हाँ-में-हाँ मिलाना पड़ता है; नहीं तो आपको डर है कि कहीं आप उनके विरोध में कुछ सत्य-अहिंसा छाँटने लगे तो सिक्ख की 'किरपान' अपनी 'किरपा' आप पर सीधे कर देगी और आप ही को छाँटने लगेगी, अथवा सिन्धिन अपनी सैन्धव ('तुरंग' नहीं) संस्कृति का परिचय देकर आपको स-सामान उसी डिब्बे की खिड़की से बाहर चलती ट्रेन से चुटकी में यों फेंक देगी जैसे कोई खटमल हो! इसलिए बदन पर शुद्ध खादी और सिर पर गांधी टोपी होने पर भी कहेंगे—जी-हाँ जी-हाँ, यह आपका ही कहना दुरस्त है सरदार जी! पाकिस्तान में ज़रूर ऐसा होता होगा, आदमी के दो टुकड़े करके फिर उन्हें जोड़ देते होंगे, फिर से सताने के लिए! ज़रूर-ज़रूर! और सिन्ध में भी जी, आपका एक लाख से कम का कारोबार आप छोड़कर नहीं आयी होंगी! परसों मेरे एक गुजराती मित्र को थर्ड-क्लास में चार इंच अपना पेंदा टेकने भर जगह प्राप्त करने के लिए गुजरातियों को सुनायी गयी चुनी-चुनी गालियाँ चुपचाप निगलनी पड़ीं। सिर्फ ट्रेन से उतरते वक्त वह बोला कि—'शरणार्थी भाईजान मैं भी एक गुजराती हूँ!'

घूस देने का एक प्रकार सिर्फ घूस लेने वाले के मन को पहिचानना ही नहीं, उसकी सुप्त-गुप्त प्रान्तीय अहंताओं को उभाड़ना भी होता है। जैसे पहिले प्रकार का उदाहरण एक हमारे सेठजी-मित्र हैं। वे चौथी हिन्दी पास हैं—अंग्रेज़ी और चीन लिपि उनके लिए बराबर हैं। मगर उनकी लाइब्रेरी ऐसी अप-टु-डेट है—नयी-से-नयी किताब ऐसी न होगी जो उनकी अलमारी में मौजूद न हो। चाहे अलमारी में वे बेतरतीब ही क्यों न पड़ी हों और मकड़ों ने जाले ही क्यों न उन पर बनाये हों। मैंने उनके विद्या-प्रेम से चकित होकर पूछा—कि यह क्या मामला

है ? उन्होंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'देखिये साहब, तरह-तरह के लेबर-इन्सपेक्टर और अफ़सरान आते हैं। किसी को मुर्ग-मुसल्लम प्यारा है, तो किसी की शैंडी से तृप्त होती है और किसी-किसी अफ़सर को यह खाना-पीना कुछ नहीं, किताबों का ही शौक़ होता है। यह लाइब्रेरी उन लोगों के लिए है। लाइब्रेरियन हमारे एम० ए० हैं। उन्हें हिदायत है कि अफ़सर आते ही उनकी पुस्तकों के सम्बन्ध में रुचि की जानकारी हासिल करो और बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर, नयी-नयी, सुनहरी जिल्द की किताबें उन तक पहुँचा दो। जाते-जाते उनके मोटर में रखवा दो। देखता हूँ कैसे ख़ुश नहीं होता है !

दूसरी बात का उदाहरण मुझ-जैसे बहुभाषी को सहज मिल जाता है। एक पंजाबी साहब से परसों काम पड़ा—मैं भी वैसी थोड़ी-बहुत उर्दूई हिन्दुस्तानी फाँक सकता हूँ कोई बोली या वेश से पहिचान नहीं सकता कि शुद्ध हिन्दी का मैं कोई अध्ययनशील आलोचक हूँ या जन्मना महाराष्ट्र ब्राह्मण हूँ। सो साहब उनसे आध घंटा बातें होती रहीं। उनसे मुझे कुछ व्यक्तिगत काम था—फायदा उठाना था। उनकी बात को काटूँ, तो मेरा काम गोल होता था। उतना मैं बातचीत में चट हूँ। वे बोले आपका नाम क्या है ? सिर्फ कह दिया कुछ पंजाबी लहजे से 'पिरभाकर'। फिर उन्होंने बताया कि ये हिन्दी-हिन्दी जो कहाती है, यह कैसे उर्दू में ज़बर्दस्ती 'संसकिरत अल्फ़ाज़' 'ठूँस-ठूँस कर बनायी जा रही है; वैसे वे भी हिन्दी जानते हैं—उसमें रखा ही क्या है ? पुरानी हिन्दी तो बाबाजी-लोगों की है : ये ही नानक, कबीर, तुलसीदास, मीराबाई के भजन हैं। और नयी हिन्दी में भला कोई लेखक भी हैं ? हमारी उर्दू के फलाँ-फलाँ शायर जैसा तड़पाने वाला और तेज़-कलाम कोई है ? मैंने नम्रतापूर्वक दो-चार बड़े नाम लिये तो बोले—अरे भाई, हिन्दी के अक्सर सब अच्छे लेखक पंजाबी हैं—ये सुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, देवेन्द्र सत्यार्थी, यशपाल, अश्क, उदयशंकर भट्ट, प्रेमी, वात्स्यायन—सब लाहौर वाले हैं। मैंने मन में कहा—अब लाहौर कहाँ ? मुझे भी हाँ-में-हाँ भरते देख पंजाबी समझकर वे बोले, पंजाब वाला हिन्दी-उर्दू जानता है, ये यू० पी० वाले क्या जानें ? और नीचे दक्षिण में तो भाषा की लोगों को तमीज़ ही नहीं। मैंने कहा—'जी !' आगे कह रहे थे—ख़ास तौर से गुजराती और मरेठे ! (एक गाली देकर) उन्हें तो कोई शऊर ही नहीं। मैं चुपचाप उन की बात पीता रहा, कहा—'जी !' मुझे उनसे गरज थी। और आख़िर तक वे जान नहीं पाये कि मेरी मातृभाषा उर्दू से भिन्न कोई हो सकती है। मेरा काम हो गया।

जैसे मातृभाषा, वैसे खाने के ढंग, पहिनावे और अपने शहर के प्रति लोगों को झूठा अहंकार होता है। आप उसे लहका दीजिये, आपका काम बन जायेगा। उस दिन एक सिन्धी बहन के यहाँ मुझे सिर्फ़ यह रसपूर्वक कहने पर कि—बस

चावल तो सिन्धी ही बनाना जानता है, क्या वो शहाज़ीरे उसमें पड़ते हैं और एक-एक चावल का दाना अलग ! मुझे ऐसा बढ़िया खाना मिला कि क्या कहिये ! तात्पर्य, स्तुति-प्रिय होता कौन नहीं ? शूर्पणखा और अष्टावक्र भी स्तुति से अपने आपको उर्वशी और मदन समझते होंगे। देवता तो विशेष रूप से घूस-प्रिय हैं। जितने अधिक मोदक आप दें उतने ही गणेश जी अधिक प्रसन्न होंगे। शिवजी तो धतूरे से ही ख़ुश हैं, और कुछ बेचारे देवता ऐसे अल्पसंतोषी हैं कि एक पैसा उन्हें प्रसन्न कर देता है, या एक नारियल । Anti Corruption Committee को यानी घूसख़ोरी-रोक-समिति को इन देवताओं और उनके भक्तों को भी विचार में लेना चाहिए। कुछ तांत्रिक देवता कुमारी बलि भी लेते थे। सुनता हूँ रियासतों में अभी भी यह घूसख़ोरी के मांसल ढंग चलते रहते हैं। जो पैसे और डाली और चीजों से प्रसन्न नहीं होते उन्हें सजीव 'भोग' लगाना ही पड़ता है ! आख़िर पुराणों में भी ऋषि-मुनियों की कथायें हैं ही जिनके संताप को कम कर, कृपाकिरण प्राप्त करने, राजा लोगों ने अपनी बीवियों को 'नियोगार्थ' या अन्यथा भेजा था ! भारतीय सांस्कृतिक परंपरा घूस के खिलाफ़ नहीं।

अन्त में एक चुटकुला एक घूँसप्रिय अफ़सर का सुनाता हूँ। वे अपने बैठके में बैठते थे उनके मुसाहिबों ने यह प्रवाद फैला रक्खा था कि 'अफ़सर साहब बहुत सत्यप्रिय, न्यायप्रिय हैं, वे कभी पैसे को छूते तक नहीं। परन्तु अफ़सर से काम लेने वाले सेठों को मालूम था कि अफ़सर साहब के बैठके में जो चिक का पर्दा है उसके पीछे अफ़सरानी (इसे सिन्धी नाम न समझें) अपना लोहे का चूल्हा रखती थीं। सो बहुत बात बहस के बाद जब सेठ जी आँक बढ़ाते जाते—तो पाँच सौ ले लें। 'नहीं नहीं जी, ये बातें मुझे पसन्द नहीं'। सेठ जी—तो सात सौ ले लें। 'मैं घर से निकाल दूंगा, जो घूस की बात की !' सेठ जी—तो नौ सौ से काम नहीं चलेगा ?' 'मैंने हज़ार बार कह दिया है···'। सेठ जी—'तो ठीक है हज़ार पर निपटा दीजिये और फैसला मेरे ही फेवर में कर दें।' तब बहुत-बहुत गुस्से का अभिनय कर अफ़सर साहब कहते—'डाल दे अपने हज़ार रुपये उधर चूल्हे में ! मैं अपने सिद्धान्त पर अटल रहता हूँ।' सेठ जी भाव ताड़ लेते। उठते। जाते समय चुपके से नोट का बंडल चिक के पीछे वाले लोहे के चूल्हे में डाल देते। और काम बन जाता।

अब मेरी यानी हिन्दी के एक गरीब लेखक की आप पाठकों से यही इल्तिजा है कि कुछ लेखक-जनों को भी घूस दिया कीजिए। वे आपके भाषण मुफ़्त लिख देंगे। फोटो छपा कर जीवनियाँ लिख देंगे। ज़रूरत पड़ी तो आपकी पत्नी के नाम गद्य-काव्य भी लिख देंगे।

वेरंग

···रंगी को ना-रंगी कहतैं, सुन-सुन कबिरा रोया !

आज एक बेरंग खत आ गया। न सिर्फ वह बेरंग इस माने में था, कि डाकखाने को उसके दुगुने दाम हमारी जेब से जाने वाले थे; मगर अंदर भी कुछ मामला फीका-फीका ही था। पत्र में हार्दिकता की कमी थी और रंग-रूप-रस-हीन, निरा शाब्दिक और बौद्धिक रंग जमाने की कोशिश थी। शब्दों में से अगर यह रंगीनी ही उड़ जाये तो फिर क्या बचे ? महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने कहा बहुत सूखे ढंग से है, मगर शब्दों में निहित इस 'विच्छिन्ति' के बारे में ही है—

सुरम्यता ही कमनीय कांति है
अमूल्य आत्मा रस है मनोहर
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है
नितांत निष्कर्ष यही, यही, यही !

इस कविता की अंतिम पंक्ति एकदम बेरंग है। मगर हमारे एक प्रगतिवादी आलोचक मित्र ने इसी कोटि की एक पंक्ति टी० एस० ईलियट के 'राख बुधवर' काव्य में से निकालकर बतलाई—

That's all, that's all. that's all.

बस, बस, बस, हो चुकी कविता। यों ही बेरंग रचना करने को आजकल 'आधुनिकतावाद' कहते हैं, क्यों ? परन्तु कविता तो है, 'चित्रराग'। उसमें 'सतरंगिनीपन' न हो तो फिर 'इन्द्रधनुष' नाम से तीन किताबें पहिले ही होते हुए सप्तवर्ण और क्यों निकलें ? वैसे आदि-रंग दो हैं : काला और गोरा। इस पर कम मज़ाक नहीं किये गये। कल परसों अखबारों में गोरे न्याय का एक नमूना पढ़ा: कि एक काले हब्शी को एक गोरी अमरीकन महिला का अधरस्पर्श करने के अपराध पर जिंदा जला दिया गया; दूसरी ओर एक अंग्रेज़ ने एक हब्शिन पर बलात्कार किया; जिस पर उसे बीस डालर 'ज़रीमाना' हुआ और वह भी किश्त से वह भर सकता है—वह छूट गया। सूरदास भले कहते रहे हों 'कारे की प्रीत' विपरीत कुछ भी, यहाँ तो उलटा मामला है ! गोरों को सदा ही 'सर्वत्र' कन्सेशन या छूट है। कबीरदास जी का पद है, और किसी के बारे में मती समझना, 'माया' के बारे में है—'अँधेरे में ठाड़ी गोरी का कर सू !' सूर ने कहा है—'ढरि-ढरि बूंद परत कंचुकि पर मिलि अँजनसो कारे।' नीचे का दोहा वियोगी हरि जी का है, यह बात आप भूल जाइये, और पढ़िये—

उन प्यारे गोरेनु कौ गाहकु सब संसारु
हम न्यारे कारेनु कौ कारौ कान्ह अधारु !

इलाचंद्र जोशी की 'विजनवती' में मृत्युदेवि का आवाहन है—

आज तनिक तुम बोलो—मृत्यु देवि मरु रानी
निज घूँघट पट खोलो—निबिड़ कृष्ण-असमानी ?

ऐसी कृष्णा से कृष्ण भगवान ही बचायें ! मगर क़ैस के लिए लैला (अरबी शब्द-मूल अर्थ : अमावस की घनी तिमिराच्छन्न कृष्ण-निशा) ही 'नूर' का पूर है; सो क्या करें ? यह तो अपना-अपना रंग है ! कहीं रंग उड़ता है, कहीं जमता है; कहीं निखरता है ! इसी पर तो संसार के सारे उपन्यासों के पोथन्ने रंगे गये हैं। रंग चढ़ाने से कुछ नहीं होता—सूरदास 'काली कमरी चढ़े न दूजो रंग।' काला बाज़ार करके ऊपर सफेद टोपी पहनने से कुछ नहीं होता; जो रंग चढ़ता है, सो तो और ही होता है। वह उतरता नहीं। जैसे—'गिरिधर के रंग-राती' गाने वाली मीरा !

कवियों का प्रिय रंग लाल जान पड़ता है। शायद इसका एक कारण यह हो सकता है, कि वह प्रत्यक्ष जीवन में इतना दुर्लभ है। मैं रूज़ और लिपस्टिक के युग की बात नहीं करता, रक्तचन्दन और मेंहदी के युग में भी यह 'जित देखूँ तित लाल' का 'राग' था। कुछ नमूने देखिये— नन्ददास ने गाया था—'कृपा रंग रस ऐन नैन राज रतनारे।' और अलाम के 'स्वेत-स्याम-रतनार' पर तो कौन नहीं 'जियत-मरत-झुकि-झुकि परत' हो उठता है ? एक संस्कृत कवि की मूँगे (विद्रूप) की कांति (छाया) वाले अधरों पर यह उक्ति कैसी रंगीन-तबीयत वाली है—

तवैष विद्रुमच्छायो मरुमार्ग तवाधरः।
करोतु कस्य नो मुग्धे ! पिपासाकुलितं मनः ॥

(हे मुग्धे ! मूँगे के समान कान्ति वाला तेरा लाल ओठ, वृक्षों की छाया से रहित मरुभूमि के मार्ग के समान है। यह किसके मन को प्यास से व्याकुल नहीं कर देता ?)

अमीर खुसरो की पहेली है—

स्याम बरन औ' राती नैना !
ऐ सखि, साजन ? ना, सखि—मैना !

जब कि काव्य-विषय की मुखाकृति से रंग चू रहा हो, नृत्य गीत आदि का रंग बँधा हो, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों में—'सखी, सचमुच आज जो इस कदम्ब के नीचे रंग बरस रहा है !' ऐसी फ़ागुन की रंगरलियाँ मची हों, कवि सोच रहे हों, कि 'लहलहात है हरित-गौर-स्यामल-रंग-रचों'—तब सहसा किसी का यह कहना, कि यह तो सब रंगामेज़ी है, असली रंग तो कुछ और ही है, रंग में भंग होता है; रंग फक़ हो जाता है; यह जानकर कि यह तो सब रंग-दिखावा है—रंग बदल जाता है।

कहाँ वे संस्कृत कवि जो मानवती नायिका को प्रणय-कलह में मना रहे हैं—'रक्ता पूर्वदिगंगना रविकरै निद्यापि रक्तासि किम !' (देख, पूर्व दिशा सूर्य

किरणों से रक्त (लाल) हो गई; परन्तु तुम अभी भी अनुरक्ता नहीं हुई ?) और कहाँ आजकल का सस्ता रंग-पाउडर, कि सवेरा भी, 'पियराता' और नायिका भी विवर्ण, एर्नामिया-पीड़िता। रक्त के नाम से आजकल लोग डरते हैं; प्रेम भी रक्तविहीन, मांसहीन होता है और युद्ध और क्रांतियाँ भी रक्त-हीन। रंग-रूप ही कुछ और हो गया है।

इसी से आधुनिक कवि इस लाल रंग के लिए बहुत व्याकुल है। पंतजी फरमाते हैं—'रक्त पलाश! रक्त पलाश!! मुझे रूप ही भाता।' (इसीलिए 'रूपाभ' पत्र एक साल सिर्फ चला!) 'नवीन' जी के कुंकुम में 'बिंदिया' जिसने पढ़ी हो वह जानता है, कि उसका रंग पक्का है। 'अंचल' महोदय पुकारते हैं—

आज माँग में सेन्दुर क्या सखि, रुधिर चन्दनों की रेखा
भरी जवानी में यह विष भी बोलो प्राण! गया देखा
छैल उठी है रक्त कबरियाँ बेनिशान मंजिल वाले!
रक्तलिप्स ले पीत पयोधर हैं दिगन्त भी मतवाले! (अपराजिता)

'अंचल' की इस कविता का एक उनके मुलाकाती अर्थ बतला रहे थे, "छैल का मतलब छैला, छैल-छबीला, रंगीला जवान! जैसा कवि, वैसी उसकी कविता!' धन्य हो! परंतु रंग की चर्चा कुछ ऐसी रंगारंग (इस शब्द के लिए मैं आ० इं० रे० का ऋणी हूँ—वह फीके, कई बार सुने, घिसे-घिसाये, फरमाइशी, मिले-जुले गानों के रेकार्डों का विज्ञापन गीतों का रंगारंग प्रोग्राम कहकर देता है) होती है, कि बूढ़े हरिऔधजी भी वैदेही-बनवास में कह उठे—

रंग जमाता, लोक लोचनों पर रहा
चंपा का चंपई रंग बन चारुतर!

विष्णु प्रसाद कुँवरि एक रीतिकालीन कवयित्री की होली है—'जमना तट रंग की कीच बही! प्यारजी के प्रेम लुभानी आनन्द रंग सुरंग गही!' सौ बात की एक बात हमें रत्नाकरजी ने बता दी है—

कहत कुरंग जे न जानै कछु रंग ढंग
परम सु-रंग ये तिरंग नैन तेरे हैं!

एक देश भक्त को इसमें तिरंगा मजा आ गया—झंडा का झंडा, नैन के नैन, भक्ति की भक्ति! पंतजी ने 'फहरै तिरंग' लिख ही दिया है। कई देशभक्त खुद एक तीन रंग ब्लाक (हेड) हैं! आपको अगर छपाई या चित्रकला से कुछ मतलब हो तो आपको जानना चाहिए, कि मूलतः तीन ही रंग हैं—त्रैवार्णिक, सृष्टि वाले सत्व-रज-तमस् नहीं (गोरे-लाल-काले की चर्चा ऊपर हो चुकी) मगर पीला, नीला, लाल! इन्हीं के संगम से भिन्न-भिन्न रंग बनते हैं, जैसे हरा, केशरी, जामुनी, नारंगी आदि।

हिन्दी कोष में रंग शब्द के बाईस अर्थ दिये हैं। परन्तु फिर भी यह बेटा

"रंगरूट' शब्द कैसे बना, इसका 'रूट' समझ में नहीं आया। आप भी कहेंगे— क्या मज़ाकिये आदमी हो! कहाँ के नायिका के 'गोरे लाल कपोलन' की चर्चा कर रहे थे और वहाँ से सीधे रंगरूट पर आ गये—हो गया न रंग किरकिरा? मगर मेरे लायक दोस्त! अगर ये रंगरूट न हों तो देश की रक्षा कैसे हो और देश-रक्षा न हो तो धान कहाँ से उपजे, और धान न उपजे तो खायें क्या, और खायें नहीं तो खून कहाँ से बने, और खून ही नहीं हो तो वे नायिकाओं के जो 'अनुराग-रंजित' अभोजनवदन हैं, वे विकसित कहाँ से हों? वे पुण्डरीक पांडुर हो जाये; वे पद्मराग एकदम श्वेत-कुमुद हो जायँ; और श्वेत तो प्रेत का रंग है (सफेद टोपी वाले माफ करें)।

रंग की ऐसी ऊल-जलूल चर्चा हम और भी करते मगर रंगों के दो प्रकार हमारे वैज्ञानिक मित्र बतला रहे हैं: एक विषैले, दूसरे खाद्य (एडिबल)! मिठाइयों में जो नाना-वर्ण-युक्त पदार्थ आपको दिखाई देते हैं, वे आप कदापि न समझें, कि कश्मीर के केशर-वनों से चुनी हुई कलियों से अनुरंजित हैं। वे खाद्य रंगों से विभूषित हैं। मतलब मिठाई भी क्या हुई आधुनिक सभी बातों की भाँति कोरा बाहरी रंग ही है, उसमें कुछ तत्त्व-माल नहीं।

रंग को 'वर्ण' भी कहते हैं। वर्ण-भेद या वर्णाश्रम वाला वर्ण नहीं; परन्तु सु-वर्ण! जैनियों के देव ऋषभ का पुराणों में सु-वर्ण होने का उल्लेख था—धनी भक्तों ने उसकी सचमुच स्वर्ण की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कर दीं। किसी चतुर सूक्तिकार ने कहा है 'सु-बरन को ढूँढत फिरैं, कवि, व्यभिचारी, चोर!'

बात चली थी बेरंग चिट्ठी से। कुछ लोग बेरंग चिट्ठी इसलिए भेजते हैं, कि वह कहीं खो न जाये और ठीक ठिकाने से पहुँच जाये, 'नावक के तीर' की तरह! सच बात यह है, कि चिट्ठी-पत्री ही क्या, दुनिया ही बड़ी बेरंग होती जा रही है, और इससे ऐसे लेख लिखकर कुछ रंग प्रकट कर लेते हैं। वर्ना जब नया रंग चढ़ेगा, नया रंग जमेगा तभी कुछ यह और यह बेरंगीनी कुछ कम हो तो हो। नहीं तो यह सब फिरंग का जादू है।

कान

"भद्रं कर्णेभि शृणुयाम सर्व"···सब सुनें, पवित्र कानों से सुनें? ऋषियों में यह बात चली आ रही है? मगर हम क्यों सुनें साहब, सुनने लायक भी कुछ हो। अक्सर बातें तो ऐसी ही होती हैं, कि इस कान से सुनो, उस कान से निकाल दो। कहा जाता है, कि आँख और कान में सिर्फ चार अंगुल का ही फर्क है और फिर भी बड़री अँखियों की तारीफ 'आकर्ण भौंहों वाली' कहकर ही की जाती है।

न आँखें सुन सकती हैं और न कान देख सकते हैं फिर भी कान से सुनी बातों (हियरस एवीडेंस) की अपेक्षा आँखों देखी ज्यादा सच मानी जाती है। न्यायदाता भी कुछ आँखों के लिहाज में ज्यादा आ जाते दीखते हैं, बेचारे कान को कौन पूछता है। वैसे 'कर्ण वर्जित' संस्कृत में साँप को कहते हैं; फिर भी उसकी सर-सर सुनाई देते ही सबको सुननी पड़ती ही है। आजकल जब से देश में बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो रही हैं तब से अफवाहें उड़ाने का रोग चल पड़ा है और ऐसे ही लोग काना-कानी करते हैं। कुछ पक्के दिल वाले होते हैं, उनके कान पर जूँ भी नहीं रेंगती, कुछ लोग आधे कान सुनते हैं और कुछ कान में तेल डालकर बैठे रहते हैं, कि कब वे राई सुनें तो उसका पर्वत बना डालें।

आप पढ़ने वाले या सुनने वाले समझते होंगे, कि कान पर लेख लिख रहे हो, तो कुछ कान में रस डालोगे मगर देखा तो वही भिन्नाहट। आयुर्वेद में एक रोग का नाम है 'कर्णक्ष्वेड़' (कान में बराबर भिन-भिन आवाज होते रहना)। आजकल जहाँ देखो वहाँ यही रोग है, सिनेमाघर में, रेडियो पर, सड़क पर, बाहर-घर में। यह बढ़ती हुई आवाज की समस्या ऐसी भयानक है, कि अच्छे वैज्ञानिकों को कान पर हाथ नहीं धरने देती। एक आवाज सब ओर से उठ रही है, कि यह आवाजबाजी कम हो? मगर इन सिनेमा और रेडियो, लाउडस्पीकर और इन भोंपुओं के कान कौन उमेठे? जब सुनना चाहते हैं, तो हम यह, कि बुन्दू खाँ अपनी सारंगी के या बाबू खाँ अपनी बीन के कान उमेठ रहे हों, वहाँ सुनो तो ऐसा कर्कश और ताल स्वर शून्य रेंकना कान पर पड़ता है, कि गाने वाले (मा'सी') के कान उमेठने की इच्छा होती है।

यह बात आप अपने कान तक रक्खें, कि ऐसी कान-जैसे रचना लेकर मैं जब हिन्दी के परिहास भावना (सेन्स ऑफ ह्यूमर) शून्य सम्पादकों के पास जाता हूँ तो वे कान मलने लगते हैं या फिर फरमाते हैं—कान पूँछ दबाकर चले जाइये? गोया मैं लेखक न हुआ कोई लम्बे कान वाला जानवर हुआ। अगर आप गधा शब्द पसन्द न करते हों, तो सुसंस्कृत शब्द 'कार्णिन' है या (लम्बकर्ण)।

लम्बे कान पर एक बात याद आ गई, कि एक मामले में जानवर आदमी के कान कतरते हैं। हाथी या गौयें अपने कानों का कर्ण 'कर्णस्फाल' या 'कर्णताल' कर सकते हैं। यानी कान फड़फड़ा सकते हैं। आदमियों में भी कुछ जो 'मसल्स कंट्रोल' जानते हैं शायद कान यों हिला सकें, नहीं तो आदमी को जबान हिलाना ही आता है।

'कर्ण-जप्' उस आदमी को कहते हैं जो एक कान से दूसरे कान में यों चुगली करता हुआ चले। अक्सर लोगों को आदत होती है, कि आप उन्हें कहिये, यह बात अपने ही तक रखना, कि जरूर कानाफूसी कर उसे फैला देंगे। अंग्रेजी में कहावत है—अपने दोस्त पर भी एतबार न कर उसका भी कोई दोस्त ज़रूर

होगा (नेवर ट्रस्टदाई फ्रेंड, ही इज आल्सो ए फ्रेंड)।

बेचारे सौन्दर्य की जब तालिका होने लगती है तब इस कान को कोई नहीं पूछता—केश, भौंहें, आं, नखासा, अधर, सर पर संस्कृत कवियों ने उपमाओं का खजाना लुटा दिया, पर बेचारा कान ! उपेक्षित ही रहा। कान का उपयोग सिर्फ इतना ही जान पड़ता है, कि वह आभूषणों का अधिष्ठान हो—हेयरलिंग, झूमर, कर्णफूल, टोप्स, बालियाँ वगैरह-वगैरह का वासस्थान सो कान ! सो हमने कवियों से पूछना छोड़कर (मुआफ करें संस्कृत कोष में कवि के अनेक अर्थों में उल्लू भी है) वैज्ञानिकों से कान के बारे में बात शुरू की तो बोले, उसकी रचना बहुत उलझी हुई है। उसमें एक 'टाइम्पैनम्, फिर यूस्टैच्यियन् ट्यूल' फिर कैनस आफ कांच्लिया···राम राम ! कान न हुआ एक चक्रव्यूह हो गया। उनसे जो खास बात का पता चला वह यह, कि कान बहुत कुछ चूड़ी के तर्ज पर जो 'साउंड' बक्स होता है न, उस जैसी चीज़ है। हमारी समतोलना (सेन्स आफ बैलन्स) कान पर अवलम्बित है। आँख मूँदकर चलती गाड़ी में बैठिये, जान पड़ेगा आप पीछे उल्टे जा रहे हैं।

अब श्रुतियों का (यानी वेदों का) यह हिसाब है, कि प्रति सैकिंड 15-20 से लगाकर 30000 स्वर कंप (बाइब्रेशन्स) हो सकते हैं, जिसमें साधारण कानों को 8 से 10 तक का फर्क का पता चलता है। जिनके कान सधे हुए हैं वे प्रति सेकिंड में 1।4 से 1।8 फर्क को भी पहिचान सकते हैं। पियानो पर से साधारणतः प्रति सेकिंड 28 से 4224 स्वर-कंप होते हैं तो पाइप अग्नि पर 16 से 8448··· पर। आप कहेंगे देखो कान की बात करते-करते ये काम की बात करने लगे। कभी-कभी छपाई की भूल में काम के बजाय कान छप जाता है और तब इस वाक्य का क्या होगा—(असेम्बली में श्री···का काम रोको प्रस्ताव' 'कान रोको प्रस्ताव हो जायेगा।)

अन्त में एक चुटकुला ब्रह्माजी का याद आ रहा है, सो देता हूँ। बंगाली कहानी लेखक 'बनफूल' ने लिखा है। ब्रह्माजी के चार सिर यानी आठ कान होते हैं। एक दिन शिकायतें सुनते-सुनते उनके कान पक गये। रूस ने आकर शिकायत की—

अमरीका बदमाश है—उसे ठीक करो।

विधाता बोले—अच्छा।

अमरीका ने आकर कहा—रूस शैतान है, उसका इन्तजाम करो।

विधाता बोले—अच्छा ?

सास ने कहा—बहू बहुत लड़ती है।

ब्रह्मा बोले—अच्छा।

बहू ने आकर कहा—सास खराब है।

ब्रह्मा बोले—अच्छा ?

यों सुनते-सुनते जव वे थक गये तव अपने सेक्रेट्री को वुलाकर उन्होंने पूछा, अपने घर में सरसों का तेल है ? वह बोला—हाँ !

तव उसे मँगाकर अपने कानों में तेल डालकर ब्रह्माजी तव से जो सोये—सो अभी तक सो रहे हैं—गाढ़ी नींद में।

यूनियन के दो बकरे

सन् 1955 में दशहरे में हम टेहरी गढ़वाल की राजधानी नरेन्द्र नगर से दूर पाँच मील पहाड़ पर एक देवी के दर्शन के लिए गये थे। वहाँ टेहरी रियासत की राजकुल की 'माता' है। राह कठिन थी, थकते जाते थे। पाँव फूल गये थे। गेंदे के फूलों के वन की 'उग्र' गन्ध आ रही थी। सुना कि इन फूलों-पेड़ों से शराब खींची जाती है। शक्ति के स्थान के आस-पास भंग, चरस, अफ़ीम के पेड़ों के वहुतायत में रोपण की बात तो सुनी थी। तब ऊपर जाकर क्या देखा कि बड़ा बीभत्स-सा दृश्य है। एक वहीं 'इम्प्रोवाइज्ड' मन्दिर-जैसा बना लिया गया है। ताज़े खून की धार इधर से उधर खिची है। कई बकरों के मुण्ड पड़े हैं और बलि दिये जा रहे हैं। लाल फूल, फूटे नारियल, बतासे, धूप-दीप, अगरु-लोहबान—अजीब-सा वातावरण है। मगर जब देवी के मन्दिर में आये, तो यह सब देखने-सुनने के लिए तैयार होकर आना ही चाहिए। इतने में सुना यह कि दो-चार पहाड़ी मोटर-ड्राइवर आपस में वात कर रहे थे—यूनियन के दो बकरे पहुँच गये या नहीं।

मुझे कुतूहल हुआ। पूछा, "यह यूनियन कौन-सी है ?"

"बोले—मोटर-ड्राइवरों की। यूनियन की ओर से दो बकरे यहाँ कल ही से भेज दिये गये थे।"

मोटर-ड्राइवरों की देवी माता के प्रति अपार भक्ति के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। वे दो जो उनके 'स्केपगोट' थे उनसे मुझे सहसा एक पुरानी बात याद आ गयी।

सन् 1937 में मैं अहमदाबाद के राष्ट्रीय मिल-मजदूर संघ में 'अप्रेण्टिस' के नाते काम करता था, तब की वह बात है। मैं और द्रविड़ बड़ौदा में एक मिल की स्ट्राइक को देखने के लिए भेजे गये थे। 'अजापुत्रं बलिम् दद्यात् दैवो दुर्बल-घातकः'। वहाँ बात बकरों की नहीं थी, पर यूनियन की ज़रूर थी। और आदमी वहाँ स्केपगोट बनाये जा रहे थे।

मिल में ऐसा होता है कि मजदूरों को उकसाने वाले छुटभैये नेता अपने

यूनियन के एक मेम्बर वीविङ् खाते में, वारपीन खाते में, स्पिनिङ् खाते में ज़रूर ऐसे रखते हैं, जिन्हें जब मौक़ा आये, सिन्दूर लगा दिया जाये, गले में गेंदे के फूलों की माला चढ़ा दी जाये, और देवी को भेंट किया जा सके। सबसे पहले हड़ताल का टेकनीक यह होता है कि सालखाते (या स्पिनिङ् में जहाँ सूत-कताई होती है) में काम ठप्प किया जाये। जब सूत ही नहीं बुनेगा तो आगे बुनेंगे क्या ? और जब बुनाई नहीं होगी तो रंगाई, खल चढ़ाना वग़ैरह तो आपसे-आप बन्द हो जायेंगे। यही हिसाब उस मिल में भी था। मज़दूर यूनियन वाले लाल झण्डे के रोब में थे। और बाहर के नेता अन्दर से दो कामगार किसन और रणछोड़ को उकसा रहे थे। बड़े जोशीले भाषण हो रहे थे।

मैंने पूछा, "ये दो ही क्यों चुने गये ? अगर आपको हड़ताल ही करानी है, तो मुकम्मिल हड़ताल हो। सबकी राय ले ली जाये।"

गड़बड़ करने वाले इतनी शान्ति और सब्र से काम नहीं लेना चाहते थे। बोले, "वाह, ऐसा कहीं हुआ है ? अब तो किसन और रणछोड़ राज़ी हो गये हैं। वे देश के शहीद हैं ! शोषण के विरुद्ध, साम्राज्यशाही के विरुद्ध, दुनिया की तमाम पूँजीशाही के विरुद्ध में दो हुतात्मा······बोलो किसन की जै !"

यूनियन के दो बकरों के धड़ से अलग गिरे खून में लथपथ ये कटे सिर देखकर मुझे सहसा कहाँ की पुरानी याद हो आयी ?

अब देवियाँ बदल गयी हैं। मगर हमारी कट्टर श्रद्धा-भावना में कहाँ फ़र्क आया है ! स्तालिन के बाद क्रूशोव के बाद··कभी गोमाता के लिए, कभी हिन्दी से रक्षा के लिए, कभी भाषा के नाम पर, कभी लिपि की वेदी पर 'यूनियन के दो बकरे' चढ़ाये ही जा रहे हैं।

आदमी कब समझेगा कि वह बकरा नहीं है ?

ईश्वर या / और बादल

सन् 1956 में श्रीनगर से लौट रहा था। बनिहाल पास पर पता चला, सामान लेकर जो लॉरी घूमकर आ रही थी, वह रास्ते में फँस गयी। लैण्डस्लाइड हो गया था। अब पानी इतने ज़ोरों से बरस रहा था और एक छोटे-से टिनशेड-जैसे होटल में पूरी बस की सवारियाँ ठिठुरती खड़ी थीं। कहीं से कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा था। पुलिस चौकी वाले ने फ़ोन किया। नीचे से कोई जवाब ही नहीं आ रहा था। जान पड़ता था टेलीफ़ोन के तार भी राह में टूट गये थे। ग़ज़ब की आँधी और बर्फ़ीली हवा थी। ऐसे वक्त कोई भी मिल जाये सुख-दुःख, बतियाने में साथी काम ही आते हैं।

यहीं मेरी उन मलयाली सज्जन से मुलाकात हो गयी। नाम उन्होंने अपना मेनन या ऐसा ही कुछ बताया। बहरहाल वे कॅथॉलिक ईसाई थे। वे मिलिटरी में काम करते थे। फौज़ी वर्दी में थे।

बातें चलते-चलते मैंने उनसे सहज भाव से पूछा, "आपके देश में लोग-बाग़ कॅथॉलिक भी होते हैं, और साथ-ही-साथ कम्युनिस्ट भी। यह कैसे एक साथ होता है?"

वह अधेड़ उम्र का भला आदमी शायद दोनों ही था। और कट्टर था—कॅथॉलिक कम्युनिस्ट केरलीय। बोला, "उसमें क्या कठिनाई है? धर्म तो व्यक्तिगत चीज़ है। घर में हम कॅथॉलिक हैं, ईसाई हैं, या और भी कुछ हो सकते हैं। कम्युनिज़्म तो आर्थिक समस्याओं का समाधान है।"

मैंने नम्रतापूर्वक कहा, "वह केवल एक सुविधा या राजनैतिक टॅक्टिक्स नहीं है। वह तो एक पूरा जीवन-दर्शन है और······"

मेजर मेनन ने बात काटते हुए कहा, "इटली में कई कॅथॉलिक हैं जो कम्युनिस्ट भी हैं। हमारे देश के कई लेखक बाहर के देशों में गये हैं और उन्होंने लिखा है कि रूस और चीन में पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता है। जोज़ेफ मुण्डशेरी चीन से लौटे हैं, और उन्होंने एक पुस्तक लिखी है; और पोट्टेकाट्टने मध्यपूर्व के विषय में······

मैंने फिर जिज्ञासा भाव से पूछा, "आपके देश में अगर कम्युनिस्ट सरकार हो जाये तो कॅथॉलिक मिशनरियों को और विदेशी मिशनरियों को पूरी आज़ादी, धार्मिक प्रचार की स्वतन्त्रता मिलेगी? जड़ और चेतन का शास्ता मनुष्य है या ईश्वरी पुत्र?"

मेज़र मेनन बोले, "क्यों नहीं?" (आज पता नहीं मेज़र मेनन कहाँ होंगे। ये मुझसे दोबारा मिलेंगे भी या नहीं, कह नहीं सकता।)

मुझसे रहा नहीं गया। मैंने कहा, "राज्य की सुविधा और अदलते-बदलते धर्म-अधर्म छोड़ दीजिए। मैं कुछ 'फण्डामेण्टल' की बात करता हूँ। मसलन, यह घनघोर पानी बरस रहा है। ओले भी बरस रहे हैं। यह कौन बरसाता है—ईश्वर या बादल?"

अब मेजर मेनन कुछ चिन्ता में पड़े जान पड़े। मगर वे उसमें से भी रास्ता निकाल सके। बोले, "उससे क्या फर्क पड़ता है? सवाल तो पानी बरसने का है। कारण कुछ भी हो।"

मैंने कहा, "फिर सवाल तो पंचवार्षिक योजना की सफलता का है। पालघाट में कम्युनिस्ट लोगों ने प्रदर्शनी में इसे 'जनता का प्लान' कहा। फिर क्या फर्क पड़ता है कि इसे कांग्रेस चलाती है, या समाजवादी या कम्युनिस्ट?"

मेजर मेनन बोले, "आप बेकार तर्क करते हैं। गरम चाय पीजिए। हमारे

लिए दो नीतियाँ हैं : एक घर का, निजी प्राइवेट कोड ऑफ़ मारल है; एक पब्लिक या बाहरी नीति-शास्त्र है।"

मैंने मन में कहा, "जब घर के अन्दर पानी बरसे (पत्नी या बच्चों की आँखों से बरसे) तो वह ईश्वर बरसता है। बाहर जब बरसे तब वह बादल बरसाता है। जब कोसी में बाढ़ आये या कश्मीर में बाढ़ आये—ईश्वरी प्रकोप है। और जब बाँध (पैसा खाने से रद्दी मैटीरियल लगाने से) वह जाये, तो वह मानवी कार्य है!"

ईश्वर और मनुष्य के कामों का अच्छा बटवारा है।

घुटना टेक निर्वाण

"सिओल (दक्षिण कोरिया), 4 फरवरी—

पचास कोरियाई बौद्ध भिक्षुणियाँ तीन वर्षों से नींद पर विजय पाने के लिए रात के तीन बजे से दिन-भर और पुनः रात के ग्यारह बजे तक घुटनों पर बैठती रही हैं। यह 'जेन' साधना है। एक-एक घंटे बाद दस मिनट पैर फैलाने के लिए दिये जाते हैं। जो चार घण्टे नींद के लिए निर्धारित हैं, उनमें भी वे लेटती नहीं। एक भिक्षुणी को दाँत का दर्द हुआ, तो डॉक्टर उसके पास आये इलाज के लिए, वह डॉक्टर के पास नहीं गयी, नहीं तो साधना भंग हो जाती। (स्टेट्समैन, 5 फरवरी)"।

अद्‌भुत कृच्छ्र है, काया-दंडन है। गीताजी में लिखा है, मनुष्य के तीन शत्रु हैं : प्रमाद, आलस्य और निद्रा। हम तो साहब वैसे ही दुबले (दुनिया के अंदेशे से) मियाँजी हैं कि मौत का एक दिन मुअय्यन होने पर भी, 'नींद क्यों रात भर नहीं आती', के मरीज हैं। इधर उन्निद्र रोग के शिकार हमारे कई प्रोफ़ेसर और प्रगतिवादी मित्र भी हैं। यदि कोई भद्रा कुंडलकेशा भिक्षुणी हमारे साथ जागने को होती, तो हम भी घुटने टेक देते। फिर नींद के आने-न-आने का सवाल ही नहीं उठता। छायावादी कवि-कवयित्रियाँ लिखते थे—'स्वप्न में वह पास आया। कौन-सा मधुमास आया' वगैरह। पर यहाँ तो चिकोटी काट कर देखते कि "हैं, कोई सपना तो नहीं देख रहा हूँ?" और सामने देखूँ तो प्रत्यक्ष स्वप्न-सुन्दरी! ऐसी 'जेन' साधना में 'विश्वास बहुत पर आशा कम' नज़र आती है।

अभी अफ्रीका के लोक-साहित्य पर दृष्टि डाल रहा था। ज़रा पश्चिम अफ्रीका की फुलानी जाति का गीत देखिए :

सबसे पहले, एक दूध की बूंद थी···
डूंडारी ने उससे पत्थर बनाया,
पत्थर से लोहा, लोहे से आग
आग से पानी, पानी से हवा
पाँच तत्त्व से आदमी, आदमी को हुआ गर्व
डूंडारी दूसरी बार आया
उसने गर्व को उतारने को दी नींद
नींद को गर्व हुआ, उसे दी मौत···

अनंत निद्रा से बचने के लिए नींद पर यह घुटने-टेक अभियान। एक होती थीं लोरियाँ कि जल्दी से बच्चों को नींद आ जाये। यहाँ उलटा क्रम है; कहीं नींद न आ जाये। रेडियो रेंकते रहें— 'नींद न आवे सारी रात!'

'उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई', 'जग जागत है, तू सोवत है?' गीताजी ऐसे समय बड़े काम आती हैं। उस किताब में लिखा है—'जब सारी दुनिया सोती है, तब यह संयमी जागता है'। अब जागने वाले सभी संयमी ही होंगे यह जरूरी नहीं है। रात-रात-भर लाउडस्पीकर भौंक रहे हैं। नींद हराम है। अड़ोस-पड़ोस में पटाखे बज रहे हैं, नींद आ रही है। चोर किसी अन्य कारण से रात्रिचर है। यह सब निशाचरी माया है। उनके लिए। 'बीती, विभावरी जाग री!' के क्या माने? कुछ लोग नींद की गोलियाँ खाते हैं, और कुछ लोग हैं कि पीनक में ऊँघते रहते हैं, दिन में भी। मेक्सिको में आप दिन के बारह से तीन तक कोई वाहन नहीं पा सकते। कारण? सब वाहन चलाने वाले कहते हैं: 'सिन्यार सिन्यारीटा, सिएस्टा' (श्रीमान/श्रीमतीजी, हम सुस्ता रहे हैं!) अब इन लोगों का 'निर्वाण' इसी तुरीयावस्था में है, जो 'सुषुप्ति' का अगला कदम है।

अब आप सीधे साहित्य पर आ जाइए। निद्रा और स्वप्न की उधेड़-बुन को कविता कहते हैं। अगर आप मेरी बात न मानते हों, तो मैं अभी कई नवीनतम हिन्दी कवियों की पंक्तियाँ उद्धृत करना शुरू कर दूंगा—जो न आपकी समझ में आयेंगी, न मेरी। आप पूछेंगे ऐसा क्यों करते हो, तो जवाब तैयार है: 'जनाब, कविता समझने की चीज नहीं; वह 'होती' है।' अब तो आलोचना भी ऐसी पूर्वग्रहयुक्त अभिरुचि है कि वह सिर्फ 'होती' है। यानी होनी हो तो होती है, वरना कई किताबें तो बिना आलोचना के ही धड़ल्ले से बिक जाती हैं। वैसे कई किताबें नींद की अकसीर गोलियों का काम कर सकती हैं।

हमारे देवता भी अजब मजाकिये हैं। कोई अनंतशयनम् हैं, तो कहीं देव-शयनी एकादशी है। मेरी समझ में नहीं आता कि कोई भला आदमी शेषशायी कैसे हो सकता है? साँप का नाम सुनते ही यहाँ रूह काँपती है, सारी नींद काफ़ूर हो जाती है, और यह लक्ष्मीपति मजे से युग-युगान्तर से सो रहा है, खर्राटे भर

रहा है।

सोने वाले का क्या है ? भीष्म पितामह शर-शय्या पर सोते रहे। नींद की देवी को बुलाने के लिए यार लोगों ने कैसी-कैसी शय्याएँ नहीं निर्मित कीं : परों की सेज, पत्तों की सेज, घास के बिछौने तो सुने थे, पद्मनाभपुरम् महल (केरल) में एक औषधियुक्त काष्ठों का पलंग देखा, जो चीन के राजा ने कोचीन के राजा को भेजा था।

प्राचीन काल में केवल दिन था, उस कारण से यम की मृत्यु का दुख यमी भूल नहीं सकी; इसलिए देवताओं ने रात पैदा की। तभी से सवेरा और शाम पैदा हुए। इन दोनों समयों में अग्नि का उपस्थान करना चाहिए, ऐसा मैत्रायणी संहिता में कहा है। हम तो साहब, प्रतिक्रियावादी कहलाये जाने का धोखा उठाकर भी (और मुक्तिबोध ने लिखा है कि 'अभिव्यक्ति के खतरे तो उठाने ही पड़ेंगे।') प्राचीन काल में लौट जाना चाहते हैं। यदि केवल दिन-ही-दिन रहता और हम उसी में रहते, तो फिर सब चाँद, तारे और रात्रि सम्बन्धी कवि-संकेत आदि न होते और कविता का फिर क्या होता ? हम इसलिए प्राचीन काल में लौट जाना चाहते हैं कि न रात होती, न नींद होती। न कोरिया की भिक्षुणियों को इस तरह से 'निर्वाण' के आगे घुटने टेकने पड़ते।

रोम में वैटिकन (कैथोलिक धर्म की प्रमुख मठ-राजधानी) में हमने सिस्टीन चेपल में वह स्थान देखा, जहाँ ईसा को जिस जगह सूली दी थी, वहाँ के पत्थर लाये गये हैं और उनसे सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं। अब उन पर आप नंगे पैरों खड़े-खड़े नहीं चढ़ सकते। भक्ति के नियमों के विरुद्ध है यह। आपको घुटने टेक कर, घिसटते-घिसटते चढ़ना पड़ेगा और उस चढ़ते समय सिर तो ढका होना ही चाहिए, सिसकना भी जरूरी है। सभी नर-नारियों को नाक-आँख से रूमाल लगाये सामूहिक सिसकी-विधि में निमग्न देखकर मुझ जैसे अधार्मिक आदमी को भी रोना आ गया। वैसे स्वदेशी आन्दोलन में कई नेता लोग नाटकीय ढंग से रूमाल में प्याज का अर्क या मिर्च लगाकर आँखों में मलते थे, और 'यारो रोऊँ नहीं तो क्या करूँ ? मादरे-हिन्द की हालत अब बर्दाश्त से बाहर है'—कहकर हिन्दुस्तानी जज्बे का इजहार करते थे।

असल में आदमी को भगवान ने घुटने दिये ही किसलिए हैं ? झुकने, प्रार्थना करने, प्रेयसी या परमात्मा के सम्मुख समर्पित होने की मुद्रा दिखाने के लिए ही दिये हैं। कहते रहें बच्चनजी हजार बार—'प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर', पर भीतर-भीतर कहीं मन के घुटनों में कम्पन पैदा हो ही जाती है। मनुष्यमात्र कमजोर है और अपने से बड़ी शक्ति के आगे उसके मन में भयकातर भाव जागृत हो ही जाता है। कामरेड के मन में नौकरी छूट जाने का हो, पत्रकार के मन में सर्कुलेशन न बढ़ने का हो, आधुनिकतम कवि के मन में उसका 'नोटिस' न लिए

जाने का हो। मेरे मन में तो साहब, मेरी ऊल-जलूल रचना संपादक से वापस आने का ही बड़ा डर लगा रहता है। जिस दिन डाक से लिफाफे में रचना भेजी, अपनी नींद हराम—कब वह प्यारे-प्यारे संपादक का हस्ताक्षर सहित 'सधन्यवाद वापस' की स्लिप-सहित रचना बिना गौने के बहू की तरह लौट आती है, कि बेचारी 'निर्वाण' प्राप्त न हुई भिक्षुणी हो जाती है।

आजकल राजनीतिक पार्टियों में बड़ी घुटना-टेकू सरगर्मियाँ चलती रहती हैं। कब कौन नेता किस करवट बैठेगा, कहा नहीं जा सकता। न नौ मन एक जगह जुटेंगे, न विरोधी दलों के विकल्प की राधा नाचेगी! मैं सब महत्त्वाकांक्षी नेताओं को कोरियाई भिक्षुणियों के रामबाण उपाय की सिफारिश करता हूँ। आप तीन बरस जाने दीजिये, तीन महीने घुटनों पर बैठ कर रात-भर नींद से लड़िए—आपमें बड़ी-से-बड़ी तानाशाही ताकत से लड़ने की शक्ति आपसे-आप पैदा हो जायेगी। देखिए, दिन में चौबीस घण्टे होते हैं, आठ घण्टे हम यों ही सोने में गँवा देते हैं, मैं हिसाब करता हूँ। अपने जीवन के $64 \times 8 \times 365 =$ अट्ठारह लाख छह हजार आठ सौ अस्सी घण्टे हमने यों ही बिता दिये। इसीलिए अब लाख बुद्ध भगवान की हम उपासना करें, 'निब्बान' अपने राम को मिलने वाला नहीं। नींद पर विजय कहाँ पायी हमने?

गांधीजी इच्छा-निद्रा वाले थे। जितने मिनिट सोना हो, सोते, बराबर उसके बाद जाग जाते—यानी उन्हें अलार्म-घड़ी वगैरह की जरूरत नहीं रही होगी। यहाँ तो यह हालत है कि अलार्म बजते-बजते हाथ उस बटन पर नींद में ही स्वयमेव पहुँच जाता है। और पुनः खर्राटे भरने लगते हैं (ध्यातव्य है 'खुर्राट' शब्द इसी बेशर्म हरकत से बना होगा)। पर मेरे अलार्म घड़ी के बटन दबाने से सवेरा होना तो रुकता नहीं। हमारे कई राजनीतिक नेता इसी खुशफहमी में हैं कि सूरज को रोके रखना, उसे सवेरे बुलाना, शाम को डूबने को कहना वगैरह, उन्हीं के आदेश से होता है। पर यह उनकी समझ में तब आ जाता है, जब कुर्सी छिन जाती है, या वे पदासीन नहीं रहते और 'सुर्ख सवेरा' तो बराबर होते ही जाता है। चाहे सुर्खियों के मोनोपोलिस्ट उसे मान्यता दें, या न दें।

मैं घुटने टेक कर कोरियाई बौद्ध भिक्षुणियों को प्रणाम करता हूँ, उनके प्रति मेरे मन में कोई अनादर नहीं है। पर यह समाचार पढ़कर मेरा पुराना घुटने का दर्द जाग उठा है।

पाँच पैसे का पत्र

जामनगर का समाचार है : एक पांच पैसे का पोस्टकार्ड 18 जुलाई, 1960 को द्वारका से भेजा गया था, जो 22 बरस बाद कल एक आदमी को मिला। एक पुलिसमैन ने यह चिट्ठी अलरखा दाऊद को लिखी थी सेटवाड मोहल्ले में। चिट्ठी लेने वाले ने आज के पोस्टकार्ड के दाम के हिसाब से 10 पैसे ज्यादह देने से इनकार किया।

'देर आयद, दुरुस्त आयद' फारसी कहावत है कि 'बेटर लेट दैन नेवर।' पत्र पहुँचा तो सही। हमारे तो, भाई साहब, कई पत्र पहुँचते ही नहीं। और वे 'पत्र' (पत्रिका वाले) हुए तो रास्ते में ही गायब हो जाते हैं। आखिर पोस्टमैनों की साहित्यिक समझ इतनी बढ़ रही है। इसके पढ़ने के बाद वे स्थानीय 'वेंडर' (अख़बार बेचने वाले) को बेचकर, कुछ 'ऊपरी' आमदनी भी कर सकते हैं!

इसीलिए मीराबाई ठीक थीं। उन्होंने सदियों पहले विधान दे दिया था :

जा के पिय परदेस बसत हैं
लिख लिख भेजें पाती।
मोरे पिय मनमाँहि बसत हैं
कहूँ न आती जाती॥

वाह-वाह, ऐसे ही सब प्रेमीजन हो जाएँ तो फिर डाक-तार विभाग की आवश्यकता ही क्या है? न गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर 'डाक-घर' लिखते, न 'अज्ञेय' 'शरणार्थी' में लेटरबाक्स! न सुकांत भट्टाचार्य 'रनार, रनार'। पहले चिट्ठीरसा 'हरकारा' होता था, जो भाग-भाग कर डाक पहुँचाता था बंगाल में। 'डाक' बंगाली क्रिया है जिसका अर्थ है 'पुकारना', उसी से अंग्रेजी में 'पोस्ट' के लिए 'डाक' चल गया। दक्षिण में 'टप्पालु' या 'टपाल' शब्द भी विदेशी भाषा से आया। यानी पुराने जमाने में बैरिस्टर विट्ठलराव गाडगिल जैसे योग्य डाक-तार मंत्री नहीं थे, संचार-मंत्रालय नहीं था, तो क्या चिट्ठियाँ लिखी नहीं जाती थीं? शैलेश मटियानी के एक उपन्यास का नाम है 'चिट्ठीरसैन'। मामा वरेरकर पहले पोस्ट आफिस में काम करते थे। इसलिए अपने आपको 'मैन आफ लेटर्स' कहते थे।

चिट्ठी-पत्री का इतिहास मनोरंजक होगा। पर इस जमाने में जबकि लोग कबूतर के गले में शेर बाँधकर उसे ही कासिद नहीं बनाते थे, या उससे भी पहले हजरत कालिदास ने तो कागज, लिफाफा, टिकिट की राह देखे बिना ही अपने बहिश्वरप्राण यक्ष के लिए जहाँ 'घिरि आई बरिया' का मौसम आया कि भेज दिया 'मेघदूत'—बिन पैसे का संदेशवाहक। वैसे पुराणों में शकुन्तला पत्र लेखन और नल-दमयंती आख्यान में पत्र की चर्चा है। भला हो चित्रकार रवि वर्मा का—उन्होंने इन दो रोमांटिक युग्मों के पत्रों को अमर कर दिया!

मध्ययुग में 'राजा शिवाजी का मानसिंह को पत्र' 'निराला' जी ने 'जागो फिर एक बार' में जगा दिया। त्रिलोचन ने एक बेपढ़ी-लिखी बीवी की चिट्ठी 'कवि' में लिखी थी। इन पंक्तियों के लेखक की 'निराला' के नाम एक चिट्ठी 'नया साहित्य' (द्वैमासिक, बम्बई, 1944) में छपी थी। आधुनिक युग आया और पत्र-लेखक, पत्र-पाठक का बाजार बढ़ने लगा। कई लोगों ने पूरी चिट्ठियों में कहानियाँ, और पत्रों में ही उपन्यास लिख डाले। मराठी के उपन्यासकार वामन मल्हार जोशी का 'इंदु काले आणि सरला भोले' ऐसा ही उपन्यास था। बाद में तो साहित्यिक लोग (बनारसीदास चतुर्वेदी जी की तरह) चिट्ठियाँ (ऐतिहासिक महत्त्व की) लिखने लगे और जमा करने लगे। प्रेमचंद ने दयानारायण निगम को लिखे डेढ़ सौ पत्र गए साल अमृतरायजी ने राष्ट्रीय लेखागार को दे दिए। एक कमल पुंजाणी ने तो हिंदी में 'साहित्यकारों के पत्र' विषय पर पी-एच० डी० ही प्राप्त कर ली।

अब यह सब पत्रों की साहित्यिक चर्चा अवांतर है। मुद्दे की बात यह है कि (अल्लाह उन्हें खुश रखे) अलरखा दाऊद को द्वारिका से उस आदमी ने पोस्ट-कार्ड में ऐसा क्या लिखा कि चिट्ठी अटक गई? 22 बरस बाद उसे पाने के लिए अलरखा साहब मौजूद हैं, यह अपने आपमें चमत्कार है। हो सकता है कि चिट्ठी ऐसी लिपि में लिखी गई कि उसे पढ़ने में इतना समय लग गया। कई लिपियाँ ऐसी मुश्किल होती हैं कि ढाई हजार बरसों तक नहीं पढ़ी जातीं, जैसा सिंधु-सभ्यता की चित्रलिपि। यह विद्या का मामला ही ऐसा है : असितगिरि स्मस्तात् लेख्नीम् पत्रमुर्वीं···संसार के सारे काले पहाड़ एकत्रित कर उन्हें समुद्र में डुबोकर उनकी स्याही बना लें और उनमें सारे जंगलों की लेखनी बनाकर धरती रूपी 'पत्र' कागज पर लिखे, तो भी उस देवी का वर्णन नहीं हो सकता। शेषनाग की सहस्र जिह्वाएँ उसका गुणगान नहीं कर सकतीं···इत्यादि अतिशयोक्ति की बात छोड़ भी दें तो भी इस पोस्टकार्ड के मामले में मेरी पाँच अटकलें हैं :

(1) 'अशुभस्य कालहरणम्' (पोस्टपोन दि ईविल)—हो सकता है चिट्ठी में कोई बुरी खबर हो, और वह जल्दी से पहुँचा देने से समाचार पाने वाले को हृदयाघात लग जाता। अतः चिट्ठी देर से पहुँची।

(2) लिपि की बात ऊपर आ चुकी है। गाँव का मामला है। गुजरात में उर्दू या रोमन लिपि से वाकिफ चिट्ठी बाँटने-पढ़ने वाला न हो। और हर पोस्ट आफिस में दुभाषिए अनुवादक (15 भाषाओं में) सरकार जब तक सप्लाई न करे तब तक पता कौन पढ़े?

(3) पोस्टकार्ड में कोई खास मजमून नहीं होगा—'हम अच्छे, आप अच्छे'—'अत्र कुशलम् तत्रास्तु'। तो वह आज मिली क्या और बाईस साल बाद मिली क्या!

(4) पोस्टकार्ड छोटी-सी चीज है। बड़े लेटरबाक्स में कहीं अटक गया होगा। दोष आदमी का नहीं, बेजान लोहे के बक्स का है।

(5) चूंकि पाँच पैसे का पोस्टकार्ड अब पन्द्रह पैसे में मिलता है, और दाऊद से दस पैसे न लेकर पोस्टमैन ने यह उसे 'दया धरम खाते' में दे दिया, उक्त पत्र-वाहक पर दंड-संहिता नियम अमुक-अमुक के मातेहत, उस रकम को वसूल किया जाना चाहिए। सरकार के इतने बड़े नुकसान के आगे बाईस वरस बाद चिट्ठी का पहुँचना-न-पहुँचना कोई मानी नहीं रखता। आपको यह बाजै हो कि सरकार क़भी गलती नहीं करती'। (गलती तो जनता की है कि वह ऐसी 'सरकार चुनती है, या चलने देती है)

अब आगे इस तरह का विलम्ब न होने के लिए क्या उपाय किये जायें। पहले तो हर पोस्टमैन को एक-एक घड़ी देनी चाहिए जिसमें समय के साथ-साथ उस दिन की तारीख भी दी गई हो। ऐसा यदि संभव नहीं हो तो हर साल एक कैलेंडर पोस्टमैन को मुफ्त दिया जाए, जिससे कम-से-कम एक वर्ष बाद उसे जो चट्ठियाँ नहीं बाँटी गई हों उनकी याद आती रहे। मान लीजिए, यह भी कागज का अपव्यय मान लिया जाए तो प्रत्येक भारतीय शासकीय कर्मचारी को (जिसमें कि 'पोस्टमैन' भी शामिल है) पंचवार्षिक योजना की एक-एक 'गुटका' प्रति (जैसे मुफ्त बाइबिल बाँटते हैं उसी तर्ज पर) दे देनी चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि पोस्टकार्ड की 'सुध' उसे पाँच साल बाद तो आती ही रहे।

यदि श्रुति-'स्मृति' आदि शब्दों से हमारे पत्र-वाहक का परिचय न हो तो कम-से-कम महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएँ' उसे मुफ्त में पढ़वा दी जाएँ। और वह भी कठिन हो तो 'आँसू' की पहली पंक्ति उसे रटवा दो—'जो घनी-भूत पीड़ा थी। मस्तक में स्मृति-सी छाई'। अब इसके पढ़ने में ही उसे 'मस्तक-पीड़ा' होती हो, तो हमारी एक पुरानी परिचिता हिंदी लेखिका का उपनाम याद रखें—'सुधि'। अब इस 'यादों की बारात' और 'क्या भूलूं, क्या याद करूँ ?' की 'एक्सरसाइज' में चक्कर यह है कि मनुष्य प्राणी विस्मृति दोष से जल्दी ग्रसित हो जाता है, ऐसा हमारे मनोवैज्ञानिक कहते हैं। 'स्मृति-भ्रंशाद बुद्धिनाशो' गीताजी में लिखा है। एक चुटकुला सुना था कि चीजों को याद रखने के लिए उसने अपने रूमाल या उपरने में कई गाँठें बना लीं। बाद में वह भूल गया कि कौन-सी गाँठ किस चीज की याद में थी। या एक साहब बोले—बचपन में मेरी 'मेमरी' ऐसी तेज थी कि मुझे स्वर्ण-पदक मिला था। दूसरे ने पूछा—'किस बात को याद रखने के लिए ?' उत्तर मिला—'वही मैं भूल गया'।

अरे साहब, जरा-सा पोस्टकार्ड थोड़ी देर से पहुँच गया। और आप लगे तिल का ताड़ करने! कल्पना कीजिए ऐसा पत्र किसी प्रेमी का प्रेमिका के नाम हो। 22 बरस बाद वह सुकुमारी 'मिस' शादी होकर 5 बच्चों की अम्मा हो गई होगी।

उसका पति यह पत्र देखकर क्या सिनेमा का गाना गायेगा—'मेरा वह प्रेमपत्र पढ़कर···'

'घायल की गति घायल जाने' के बतर्ज 'पोस्टकार्ड की गति पोस्टकार्ड जाने', पर अब मैं कुछ दहशत-सा खा गया हूँ कि पोस्टकार्ड लिखूँ या न लिखूँ? हैमलेट की आत्मा मुझमें उतर आई है—'टु बी और नाट टु बी'। अच्छा हिम्मत करके हमने एक-ठो 'पोस्टकारड' लिख भी डाला, तो वह 'बंबे' में डालूँ या नहीं डालूँ? दाद देता हूँ मेरे महागुरु जार्ज बरनार्ड शा की। पट्ठे ने गांधी को गोली मारने की खबर सुनी—एक पोस्टकार्ड अपने अक्षरों में लिखकर नब्बे बरस की उम्र में जाकर लेटर बक्स में डाल आया—'इट शोज हाउ डेंजरस इट इज टु बी टु गुड'।

अब कहाँ रहे ऐसे-ऐसे पोस्टकार्ड लिखने वाले और उन्हें पढ़ने वाले।

इस बेचारे पोस्टकार्ड का मृत्यु-सूचक कार्ड हो गया! 'बाईस बरस बाद' कोई फिल्म भी इस पर नहीं बनाएगा। हाय, हाय। इस कार्ड में कोई 'हृदय की बात' होती तो इसे 'कार्डियालॉजी' विभाग में भेज देते। पर बहुत बे-दिल और हृदय-हीन यह पोस्टकार्ड लगता है, जो पाँच के पन्द्रह होने तक रूठकर अपनी ही जगह पर अड़के बैठा रहा, जमकर। कीमतें तीन गुना, तेरहगुना बढ़ गईं। रुपये की कीमत एक-तिहाई पर आ गयी पर पोस्टकार्ड पाँच पैसे का होने पर 'पंद्रह' वाले जमाने में पहुँचा ही क्यों। किसी ने शेर लिखा है जिसका अर्थ है कि 'मेरे हाथ में पुराने सम्राट के सिक्के हैं! पर इस बीच में बाजार में नयी चर्चा चल पड़ी है'। मेरे सिक्के का क्या मूल्य है? यह पोस्टकार्ड म्यूजियम में रखने लायक है। साँडनी के सहारे कभी खत भेजे जाते थे। पर यह हजरत पोस्टकार्ड साहब, सब दिन चले अढ़ाई कोस।

जय पोस्ट आफिस! जय डाक-तार-मंत्रालय (इस बंद को उस मंत्रालय की हिंदी-सलाहकार समिति का सदस्य कहते हैं, यद्यपि इसके लिए पत्र उसे अंग्रेज़ी में मिलते हैं, और कभी-कभी मीटिंग हो जाने के बाद)!! सब डाकियों को शीघ्र नव-वर्ष में कोई तेज वाहन उपलब्ध करा दें—डाक 'मारुति' से भेजी जाया करे, इसी शुभ कामना के साथ। 'वातात्मजं वानरतुल्यवेगं···'।

उलटफेर

दृश्य 1

[बम्बई की एक चाल । दरवाजे पर हलकी थपकी]

सत्यपाल : (**हलकी श्रावाज़ में**) डॉक्टर साहब, डॉक्टर साहब……
(**अन्दर से एक बच्चे की आवाज़**) कौन जोइये ? कौन है ?

सत्यपाल : मैंने कहा, डॉक्टर साहब हैं ?

एक बहनजी : तमे कोण छो ? तुम कौन हो ?

सत्यपाल : हैं हैं हैं, यह प्रश्न अत्यन्त गहन है कि मैं कौन हूँ ? मैं ? कौन ? हूँ ? जी जी जी मुझे इसी के बारे में सन्देह है कि मैं हूँ भी या नहीं। या जो हूँ वह मैं ही हूँ या और कोई छायामात्र है। मैं… (**चुटकी बजाकर**) अच्छा याद आया, कह दीजो कि एक मनुष्य हूँ। मनुष्य यानी इनसान, नहीं आदमी हूँ।…

बहनजी : आपका नाम क्या है ?

सत्यपाल : नाम ? यही तो सबसे मुश्किल सवाल आपने पूछ लिया ? (**इधर-उधर जेब टटोलकर**) मैं अपना विजिटिङ् कार्ड तो वहीं पागलख़ाने में भूल आया। अब अब…समझ लीजिए कि मैं बेनाम, गुमनाम, अनाम, नामहीन हूँ। जैसे हम हिसाब करते हैं तो उसमें कोई रक़म मानकर चलते हैं। समझ लीजिए कि मैं एक्स हूँ।

बहनजी : अच्छा एक्स साहब या एक्स रे साहब ! आप यहाँ से चले जाइए। आपका यहाँ कोई काम नहीं है। पागलख़ाने से सीधे चले आ रहे हैं और हमारे ही घर में।

सत्यपाल : नहीं, मैंने सुना कि यहाँ डॉक्टर मनसुखलाल, मन के रोगों के डॉक्टर रहते हैं।

बहनजी : वो यहाँ नहीं रहते। उधर दूसरे माले में रहते हैं। जाओ।

सत्यपाल : अच्छा जाता हूँ। यह लो एक लेमनजूस। इसको लेने में कोई पागलपन तुम्हें छूत की तरह नहीं लग जायेगा। सुनो नौजवान दोस्त, पागलख़ाने जाने से पहले मैं अपने प्रान्त का नेता था, ब्रह्मचर्य पर मैंने किताब लिखी थी, मैं कविता भी लिखता था। पर यों अवाक् मेरी ओर ताकते हुए क्यों खड़े हो ? क्या मैं कोई अजूबा हूँ। भाई ज़िन्दगी में ऐसा कुछ हो गया कि वहाँ जाने से पहले हार,

माला-फूल, गजरे सब पहनाते थे, लोग तालियाँ बजाते थे और अब वह जनता कहाँ है ? अब तो जनता नहीं, अब निपट मैं ही हूँ, अकेला मैं। फर्क आ गया ! भाइयो और बहनो। बम्बई के चाल निवासियो, आगाह करता हूँ कि बहुत बड़ा ख़तरा आपके सामने है। ट्रामें चलना बन्द हो जायें, कोई परवाह नहीं। चार दिन बिजली बन्द हो जाये, तो भी कोई मुश्किल नहीं। सबसे बड़ा ख़तरा आप जानते नहीं आपकी आत्मा के खो जाने का है। यानी कि आप उसे पहले ही खो चुके हैं···(**बूढ़े, बच्चे, मर्द, औरतें सब हँसते हैं**)

बहनजी : जाओ, जाओ, लेक्चर मत पिलाओ। जहाँ जाओ वहीं उपदेश है। स्कूल में, गेदरिङ् में, खेल परेड के मैदान में, लाउडस्पीकर पर, अख़बार में, हर आदमी बस हमें अच्छा आदमी बनाकर छोड़ेगा। रहने भी दो यह बातें। जाओ, जाओ···

एक पड़ोसी : तद्न सरफरेलो माणस।

दूसरी आवाज़ : माथा खोराप होए गेलो।

तीसरी आवाज़ : डोकं फिरलंय त्याचं।

चौथी आवाज़ : (**भारी आवाज़**) पागल।

सत्यपाल : (**आवाज़ में**) डॉक्टर···डॉक्टर···

डॉक्टर : (**दरवाज़ा खोलकर**) कौन है ? अन्दर आइए। आइए, बैठिए।

[**दरवाज़ा बन्द**]

दृश्य 2

डॉक्टर : तो आपका नाम सत्यपाल था ?

सत्यपाल : जी हाँ, सब इसी नाम से मुझे पुकारते थे। बारह बरस गुरुकुल में रहा डॉक्टर···मैंने किसी स्त्री की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। कोई श्रृंगारिक गीत की कड़ी कान में भूले-भटके पड़ गयी तो कानों को हाइड्रोजन परोक्साइड से साफ किया। आप निश्चित जानिए कि मैंने ज़िन्दगी में कोई पाप नहीं किया। और फिर भी डॉक्टर ऐसा हमारा भाग रहा कि "जाहा चाई ताहा भूल कोरे चाई, जाहा पाई ताहा चाई ना।" जो चाहा वह गलती से चाहा, जो पाया वह चाहा नहीं था।

डॉक्टर : मतलब यह कि आपकी ज़िन्दगी में प्रेम-निराशा और दूसरी कई किस्म की फ्रस्ट्रेशन्स···?

सत्यपाल : छोड़िए भी। ये एक लाख की पहेली वाला इनाम मुझे न

मिलता तो मैं डॉक्टर, पागलख़ाने न गया होता। पर देखिए इस दुनिया में ख़ुशी भी ज़ाहिर करने की चोरी है, सरेआम रोना तो बुरा माना ही जाता है। अब क्या करें दोनों तरफ़ मुसीबत है। सच बोलो तो पागल, झूठ बोलो तो जेल है ही।

तेरे आज़ाद बन्दों की न ये दुनिया न वो दुनिया,
यहाँ मरने की पाबन्दी वहाँ जीने को पाबन्दी।

डॉक्टर : बहरहाल आपको शाइरी से शौक़ है?

सत्यपाल : शौक़? अजी जनाब मैंने वो वो कवि-सम्मेलन अखाड़े जीते हैं कि आपको क्या बताऊँ? हम तब कविता क्या करते थे, बस गीत-ही-गीत लिख डालते थे। एक सिगरेट जलायी, एक गीत बन गया। तब हमने गीतों की एक फ़ैक्टरी खोल दी थी। जैसी ज़रूरत हो वैसे गीत सप्लाई कर देते थे। बच्चों के लिए, बूढ़ों के लिए, औरतों के लिए, गरमी के, सर्दी के, बारिश के, सब तरह के गीत लिखते थे। और हमने अपना तख़ल्लुस रख छोड़ा था 'वंचित'।

डॉक्टर : "पंचित" माने?

सत्यपाल : यही महरूम, डिप्राइवड्। और असल बात यह थी कि इसकी तुक भी अच्छी और जल्दी बन जाती थी।

डॉक्टर : क्या मतलब?

सत्यपाल : जैसे : तेरे आँसू से सिंचित
देखे कपोल जो किंचित्
हो गया चलित दो क्षन चित।
देखे जो काकुल कुंचित
उलझा दिलका सब संचित,
रह गये यहाँ बस वंचित।

डॉक्टर : ख़ूब! ख़ूब आपको कविता भी ख़ूब याद है। पर मुझे लगता है कि पागलख़ाने में रहते हुए आपको कविता लिखने की ज़्यादह तबीयत हुई होगी।

सत्यपाल : तब तो मैंने एक महाकाव्य लिख डाला था। पर वह बात बाद में बतायेंगे। इस वक़्त तो डॉक्टर साहब मेरी सबसे बड़ी तकलीफ़, या मेरा मानसिक रोग या पीड़ा या वेदना या दर्द या कठिनाई या समस्या, मैं कैसे समझाऊँ कोई शब्द मेरी बात को बयान नहीं कर सकता, वह यह है कि मैं सच बोला करूँ या नहीं?

डॉक्टर : ज़रूर बोलिए। क्या मुज़ायका है?

सत्यपाल : (डरकर, सहमकर) डॉक्टर साहब, मुझे फिर वे पागलख़ाने में

डाल देंगे। सच ये लोग सुनना ही नहीं चाहते। इनकी मीठी, चिकनी-चुपड़ी, झूठी सुनने की आदत है। देखिए आप गारण्टी लेते हैं कि मैं सच बोलूँगा और कोई मेरी इस सत्यपाल 'वंचित' की वाणी को बन्द नहीं कर देगा? भाइयो और बहनो! आज से मैं ख़ुदा को हाज़िर नाज़िर जानकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि सच ही बोलूँगा, झूठ नहीं चाहे फिर वह कितना ही कड़ुआ हो, चाहे जिस स्थान और चाहे जिस समय, मैं अपने नाम के पहले हिस्से सत्य का सिक्का चलाऊँगा। **(धीमी डरी हुई आवाज़ में)** मुझे पागलख़ाने में डाल देंगे।

डॉक्टर : आप डरिए नहीं। अब कोई पागलख़ाने कहीं रहे नहीं हैं। आप जानते हैं कि मनोविज्ञान की नयी शोध के हिसाब से हम सबमें कुछ-न-कुछ पागलपन का हिस्सा ज़रूर रहता ही है। मसलन आपमें एक बटा तीस पागलपन हो मुझमें एक बटा सत्तर पागल-पन ज़रूर है। इसे दूर करने का एक ही उपाय है कि आदमी, जो भी उसकी इच्छा हो पूरी करे। अब आप बोलो कि आपकी क्या इच्छा है?

सत्यपाल : मेरी केवल मात्र एक ही आकांक्षा है जी, कि मैं नाटक, थियेटर के काम में जादू···।

डॉक्टर : **(कुछ सोचकर)** आपकी शक्ल-सूरत, कपड़े वग़ैरह देखकर कोई आपको एक्टर तो बतायेगा नहीं। फिर?

सत्यपाल : नहीं मुझे नाटक का लेखक, गीतकार, बनना है जी।

डॉक्टर : तो बहुत अच्छा है। आज ही आप 'उलटफेर' कम्पनी में जाइए। मेरे वहाँ एकाध पहचान के आदमी हैं। मैनेजर ख़लीफ़ा हारून साहब को मैं चिट्ठी दे दूंगा।

सत्यपाल : मगर डॉक्टर साहब, वहाँ मैं सच बोल सकता हूँ? इजाज़त है।

डॉक्टर : मेरी तरफ़ से तो कोई उज्र नहीं। मगर वहाँ "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" है।

सत्यपाल : क्या मतलब?

डॉक्टर : वहाँ सोने के ढँकने से सत्य का चेहरा पूरी तरह ढँका हुआ है।

सत्यपाल : सचमुच में सोने के मुखौटे पहनकर वे लोग चलते हैं?

डॉक्टर : नहीं जी, कोई मास्क नहीं होता, उनका चेहरा ख़ुद एक बड़ी नक़ाब है।

सत्यपाल : मास्क क्या डॉक्टर साहब? हमने तो सिर्फ़ मास्को का नाम सुना था।

डॉक्टर : सत्यपालजी, यहाँ शब्दों की समानता देखकर कविता मत चलाइए। मास्क का मास्को से कोई तआल्लुक़ नहीं। यह लीजिए, मैं चिट्ठी लिख देता हूँ।

दृश्य 3

['उलटफेर' कम्पनी में]

डाइरेक्टर ग्रन्धेरे : (चीख रहे हैं) ये लीजिए जनाब आपकी स्क्रिप्ट तीन कौड़ी की है। हम इसे प्रोड्यूस नहीं कर सकते। कोई बात बनती ही नहीं। सस्पेन्स नहीं है, ड्रामा नहीं है। इमोशनिलिटी नहीं। इसे आप ह्यूमर कहते हैं? अजी ज़िन्दगी में यह सब तो रोज़ ही चलता है। जब तक हकलाने वाला कोई न हो, रेंककर बोलने वाले काजीजी न हों, जब तक तकिया-कलाम वाले लखनौआ नवाब न हों, ह्यूमर बन ही कैसे सकता है। आप ह्यूमर लिखेंगे? सूरत तो देखिए अपनी। हमेशा लम्बा चेहरा बनाये रहते हैं। जाइए-जाइए, उलटफेर कम्पनी को क्या आपने बावर्चीख़ाना समझ रखा है?

ग्रागन्तुक : नहीं जी, वाह जी मैंने अब तक पन्द्रह नाटक और पाँच फ़िल्म स्टोरी लिखी हैं।

ग्रन्धेरे : लिखी होंगी ऐसी-वैसी। न आपकी कहानी में टेंपो है, न सीक्वेन्स जोड़े गये हैं, न कोई डूएट है, न रोमांस है। और डांस तो एक भी नहीं!

ग्रागन्तुक : जी ऐसा था कि नाटक आपने द्रौपदी पर लिखने को कहा था।

ग्रन्धेरे : तो क्या हुआ, चाहे सीता हो या सावित्री आप समझते नहीं। डांस ज़रूर होना चाहिए वर्ना बॉक्स आफ़िस का क्या होगा। डांस नहीं; एकदम फ्लैट नहीं हो जायेगा।

ग्रागन्तुक : लेकिन तो साहब मैंने इस पर............।

ग्रन्धेरे : जाइए आप...(टेलीफ़ोन) हलो गुडमार्निङ, गुडमार्निङ्। कब आयीं आप? अकेली हैं या सेठजी साथ में हैं? वाह-वाह आइए-आइए कम्पनी आपकी ही है। आप ही तो मालिक हैं। हाँ, हाँ ज़रूर! क्या कहा 'हनूमान की पूँछ' की रिहर्सल कब तक ख़त्म होगी? बस थोड़ी-सी और रह गयी है। और बैग्राऊँम्यूज़िक देना है। लंका जाते हैं तब स्पानिश म्यूज़िक दे दिया है। अब के चौमासे में 'नाटक

तैयार हो जायेगा। हाँ, जी, माइथोलौजी है इसमें ट्रिक्सी न ही ट्रिक्सीन हैं—व्वोंवड़ चलने लग गया। पानी के भीतर आग लग गयी। यही सब होता है। आइए, आइए, जरूर आइए···

[टेलीफ़ोन रख देता है]

अन्धेरे : ऐं ? कौन हैं ? मिस्टर एस० वन चिता ! ये कौन उल्लू की दुम फाख़्ता है। डॉक्टर की चिट्ठी है। अच्छा, आने दो !

सत्यपाल : नमस्ते !

अन्धेरे : गुडमार्निङ् !

सत्यपाल : हूँ, मैंने कहा आदाबर्ज़ !

अन्धेरे : येस, वाट डु यू वांट ?

सत्यपाल : मुझे जी अँगरेज़ी ज़्यादह नहीं आती। आप जानते हैं कि भारतवर्ष से अँगरेज़ी भाषियों का प्रस्थान हो जाने के पश्चात् अब इस भाषा के प्रति मेरी आस्था और ममता और मोह और व्यामोह···

अन्धेरे : मुख़्तसर में कहिए आप क्या चाहते हैं ?

सत्यपाल : मैं जी नाटक या आपकी कम्पनी में गीत लिखना चाहता हूँ।

अन्धेरे : आपने पहले कहीं लिखे हैं ?

सत्यपाल : जी नहीं।

अन्धेरे : तो फिर हम कैसे जानें कि आपके गीत में वो 'पेप्' है, वो 'इट'-है, वो 'हिट' है।

सत्यपाल : एक बार आप आज़मा के तो देखिए ?

अन्धेरे : अच्छा अब डॉक्टर ने कहा है तो मैं हमारे म्यूजिक डाइरेक्टर रजनिनाथ को बुलवाता हूँ उनसे आप बात कर लीजिए।

[रजनिनाथ गुनगुनाते हुए आते हैं।]

सजनी···रजनी···
टट्टरट् टट टट्···प्या···र
तू और मैं टाररारारारा
मैं और तू टाररारारारा
ये दुनिया
केनिया, कुस्तुन्तुनिया सब बेकार
प्यार······र

रजनिनाथ : (गद्य में) कैसे याद किया डाइरेक्टर साहब।

अन्धेरे : ये ज़रा नया एक पोएट आया है। इसे ज़रा ड्रामा का पानी दिखा देना।

रजनिनाथ : चल रहे हैं पोएट साहब ?

सत्यपाल : नहीं यहीं बातें हो जायेंगी।

अन्धेरे : बात ये है कि अभी यहाँ सेठजी और मिस कामिनी आ रही हैं।

सत्यपाल : कोई बात नहीं, कोई बात नहीं। सेठजी के लिए भी मेरे पास एक पत्र है। मोटा सेठ ने लिखा है।

अन्धेरे : अच्छा तो बैठिए।

सत्यपाल : तो संगीत दिग्दर्शन जी ! आप मुझसे क्या चाहते हैं ?

रजनिनाथ : मैं ऐसा गीत चाहता हूँ जिसमें एकदम हवायन गिटार का पीस भी लग जाये, थोड़ी-सी क्लासिकल की बघार भी देनी ज़रूरी है। और फिर उसमें एकदम 'सैंड' और 'सपाट' और 'सूटिङ्' और 'सेंटिमेंटल' सफ़ाई चाहिए। जैसे हमारे पिछले खेल 'आकाश के तारे' में हमने हीरोइन का गाना दिया था।

टट् टरटट्टा टरटट्टा टाटरा
दुनिया है एक दरिया
आँसू-भरी बदरिया
लला लला लला लला
टायं टायं टायं टायं टायं
मोरा मगवा रोकत,
मोरी गगरी फोरत,
पनिया भरन कैसे जाऊँ ?

[एक चक्करदार तान]

सत्यपाल : ये जो कुछ आप कह रहे हैं तो वाद्यों की नकल हुई, इसमें गीत कहाँ हुआ ?

रजनिनाथ : आप समझते नहीं। गीत वही अच्छा है जिसमें शब्द सबसे कम हो बस आर्केस्ट्रा ही आर्केस्ट्रा हो। आप समझते हैं कि आपकी कविता के लिए यहाँ गीत लिखवाते हैं ?

सत्यपाल : हाँ, मेरा कुछ अनुमान ऐसा ही था।

रजनिनाथ : ग़लत बात है। यहाँ गीत पाप्पुलर होते हैं। इसी से ओ ऽऽऽऽऽऽ ओ हो के लिए इसमें खटके मुरकियाँ सब ज़रूरी हैं।

सत्यपाल : ये तो सब हमसे नहीं होगा, अपने राम तो गंगाजल स्याही में डालकर नर्म श्रृंगार लिखते हैं। हमें इन सब नख़रों की क्या ज़रूरत ? जहाँ वाग्देवी प्रसन्न हुई कि···।

रजनिनाथ : तो आप थियेटर क्यों आये···आपको तीरथ जाना था।

सत्यपाल : हाँ जाने से पहले सोचा ज़रा सेठजी से भी मिलता चलूँ।

अन्धेरे : वैठिए, आप यहीं बैठिए। हम तो अब अपने स्टूडियो में जाते हैं। सेठजी के साथ मिस कामिनी भी तो आ रही हैं। रजनिनाथ, आज ज़रा एक्स्ट्रा फ़ाइन म्यूज़िकल इन्स्ट्रमेण्ट हो, समझे। नहीं तो कल से फिर दूसरी कम्पनी का दरवाज़ा देखना पड़ेगा, जानते हो न नाम ही इसका 'उलटफेर' कम्पनी है।

[दरवाज़ा खुलने की आवाज़]

सत्यपाल : अब क्या करें ? सब लोग चले गये। सेठजी की राह देखते बैठना ही होगा।

दृश्य 4

[चपरासी आकर घबड़ायी आवाज़ में घोषित करता है।]

चपरासी : सेठजी आ गये।

सेठ कचौड़ीमल : तो कामणी बाई, अबकी थेटर ऐसो वणो कि बस देखने वाले कूँ जणम-जणम तक याद रहे वे।

मिस कामनी : हू इज़ दिस ईडियट् ?

सेठजी : काँई बोल्या **(चौंककर सत्यपाल की ओर देखते हैं)** कौन हो जी। क्या काम है आपका यहाँ ? चपरासी ! इन्हें यहाँ से भगा दो···

सत्यपाल : (हकलाकर) स स्सेठजी, मेरा शुभ नाम सत्यपाल वंचित है। मैंने प्रभाकर पास किया है। मैं आपके पास मोटा सेठ की एक चिट्ठी लाया हूँ। (देता है।)

सेठजी : काँई लिख्यो है ? अच्छा तो आप स्टोरी लिखते हो। अभी तो हमको जरूरत नहीं है।

मिस कामनी : दीज़ रायटर्स ! दे आल लुक सो अलाइक !

सत्यपाल : मैं गीत भी लिख लेता हूँ।

सेठजी : हाँ वो 'रामभजन कर प्राणी' अच्छा गायण लिखा था कुमा

साब ने, मगर म्यूज़िक डारेक्टर ने कंडम टयूण दे दिया।

मिस कामनी : ये स्टोरी-राइटर क्या कहता है?

सत्यपाल : जी, मैंने कुछ सत्य के बारे में लिखा है।

सेठजी : यहाँ सत्यनारायण की कथा हो तो बोलो। (हँसकर) और सचाई का नाटक से क्या सम्बन्ध है।

सत्यपाल : आप ज़रा सुन तो लीजिए। नाटक देखने वाले भी आख़िर चाहते हैं कि सत्य की ही चर्चा हो। मैंने ऐसी अच्छी सच्ची और ऊँची कविताएँ लिखी हैं कि—

सेठजी : पर मिस्टर, आप हमारे बीड़ी के कारख़ाने के लिए कुछ लिख सकते हो? बीड़ी की तारीफ़ में, ज़ाहिरात माटे कविता लिख के बताओ। इस स्वरूप सुन्दरी कामिणी के फ़ोटू के साथ जम जाये तो फिर पब्लिसिटी फ़र्स्ट क्लास हो जाये···

मिस कामनी : (**शरमाने का अभिनय करके**) छिः आप भी! मैं कोई सुन्दरी हूँ?

सत्यपाल : मेरा मत पूछें तो आप सचमुच सुन्दरी नहीं हैं। हाँ सेठजी जितने सुन्दर हैं उतनी ही मात्रा में आप भी सौन्दर्यवती हैं।

चपरासी : (**जल्दी से पास आकर चुप करते हुए**) शूं: (**ज़रा धीमे स्वर में**) ये सब यहाँ क्या बकते हो?

सत्यपाल : यहाँ तो सेठजी हमें सब झूठ-ही-झूठ नज़र आया। वो गाने-वाला आपका डायरेक्टर आया था, उसे गाना नहीं आता। वो प्रोड्यूसर कोई आया था, उसे क्या प्रोड्यूस करना है, उसका पता नहीं। और अपनी नायिका जो हैं ये उपनायिका भी नहीं जान पड़तीं।

सेठजी : तो क्या थारो ये केहणो है कि मैं सेठजी सेठजी ही नहीं हूँ, नकली सेठजी हूँ। ज़बान सम्भाल के बोलो! समझे? चपरासी, चपराऽसी···

सत्यपाल : सेठजी, सुनिए, मेरी एक बात सुन लीजिए, झूठ बोलने पर मुझे पागलखाने भेज दिया था। सो अब मैंने प्रतिज्ञा की है कि सच ही बोलूँगा! केवल सत्य निखालिस, विशुद्ध, सत्य!! सत्य के सिवा और कुछ नहीं। आप मुझसे झूठ बुलवा रहे हैं। आप श्रेष्ठी हैं या नहीं यह तो आपके मन की श्रेष्ठता से सिद्ध होगा। चूँकि आप चपरासी को बुलवा रहे हैं कि मुझे गरदनिया देकर वह निकाल दे इससे यह सिद्ध हुआ कि आप

श्रेष्ठ नहीं हैं। एक अभ्यागत आगन्तुक अतिथि के प्रति ऐसा अन्याय, अत्याचार, असत्कारपूर्ण व्यवहार। अतः आप सेठ न होकर नेठ हुए।

मिस कामनी : सेठजी, ये आदमी बोलता तो बहुत इण्टरेस्टिङ् है। इसका डायलाग कुछ सुना ही जाये?

सेठजी : अच्छा! ऐई चपरासी! तुम प्रोड्यूसर और म्यूज़िक डायरेक्टर सबको बुलाओ। मिस्टर राइटर, तुम अपना डायलाग बोलो। हम तनिक सुन लेंगे। हमें बाद में डांस का रिहर्सल देखने जाना है!

सत्यपाल : मेरा मंच के लिए लिखने का अभ्यास तो नहीं है, पर आप कहते हैं, इसलिए एक जो संवाद लिखा था, वह पढ़कर सुनाता हूँ सुनिए, पहले आप जान लें कि ये दो व्यक्ति जो बोल रहे हैं ये दोनों कौन हैं। ये दुनिया जब भयानक युद्ध और बमबाज़ी से नष्ट हो गयी तब बचे हुए दो ही आदमी हैं, एक पुरुष है एक स्त्री है।

मिस कामनी : लड़ाई और बम। सेठजी, ये तो जासूसी नाटक के लिए बहुत अच्छा सब्जेक्ट होगा।

सत्यपाल : पुरुष स्त्री से कहता है, हे प्रिये!

मिस कामनी : क्या कहता है पी, ए? यहाँ पीये-वीये की बात नहीं चलेगी। पता नहीं यहाँ शराबबन्दी है।

सत्यपाल : देवीजी, यह संस्कृत का सम्बोधन है।

सेठजी : तो क्या थारो हीरो और हीरोइण संसकिरितमाँ बोले है। ऐसी पिक्चर तो कोई देखणे ही नहीं आवेगो। आपणी रोज़ की बोल चालमाँ बोलवा दो।

सत्यपाल : जी, आप सुन तो लीजिए! स्त्री पुरुष से कहती है, हे प्रियवर!

पुरुष कहता है, अब क्या होगा?

स्त्री कहती है, अब क्या होगा?

पुरुष कहता है, कुछ नहीं होगा।

स्त्री कहती है, कुछ नहीं होगा।

इतने में एक ज़ोरों का धमाका होता है। फिर कोई बम बरसता है। शंकित स्त्री-पुरुष भी मर जाते हैं।

सेठजी : तो अब स्टोरी आगे चलेगी किस तरे? हीरो-हीरोइण को तो पहले ही सीन में दोणों का एक संग डेथ कर दीए है?

मिस कामनी : अब आपने आगे के ये 200 पन्ने रंगे कैसे हैं ?

सत्यपाल : इसके बाद स्त्री और पुरुष के भूत फिर से खड़े होते हैं। जागते हैं, हँसते हैं, बोलते हैं, नाचते हैं, मजा करते हैं, समझे हजूर।

मिस कामनी : भूतों का आगे क्या होता है ?

सत्यपाल : जो हर भूत का होता आया है।

मिस कामनी : क्या मतलब ?

सत्यपाल : यानी, हर भूत का वर्तमान बना है, वर्तमान का भविष्यत बना है और फिर इनका भूत बन गया है।

अन्तिम दृश्य

[फिर बम्बई की वही चाल]

सत्यपाल : डॉक्टर साहब ?

पड़ोसिन : अरे यहाँ कोई डॉक्टर-वाक्टर नथी रहेतुं। आगल जाओ, आगल !

सत्यपाल : परन्तु देवीजी !

पड़ोसिन : कोण देवी, यहाँ देवी कहा तों मारकर बाहर निकाल देंगे।

सत्यपाल : अच्छा बावा, हम चलते हैं। मैंने आपको देखकर सच ही कहा था। महाकाली, भद्रकाली, चामुंडा, शतरूपिणी !···देखो बच्चे ! डॉक्टर मनसुखलाल यहाँ रहते थे, उनका बोर्ड कहाँ गया, उन्हें क्या हुआ ?

बच्चा : वे तो विलायत चले गये।

सत्यपाल : अच्छा ! फिर अब क्या होगा ? सच बोलने की आदत से कैसे छुटकारा होगा। इस दुनिया में तो लल्लो-चप्पो, जैसे ज़माना देखा वैसे लुढ़क गये, ये सब चालाकियाँ कब और कैसे सीख सकेंगे ? मुश्किल है।

बच्चा : आप अपने-आपसे भी बातें क्यों करते हैं ? ऐसा तो नाटक में होता है।

सत्यपाल : हाँ बच्चे ! लाइफ़ इज़ ए स्टेज !

बच्चा : आप गाना जानते हैं ?

सत्यपाल : नहीं भाई, कैसा उलटफेर हो गया। आये थे गीत लिखने, जाते हैं गीत बनकर······।

बच्चा : ये तो तद्दन पागल छे।

पड़ोसिन : गांडा माणस !

राम आज की दुनिया में

दृश्य 1

[लड़ाई के मैदान में एक फौजी छावनी]

राम : **(टेलीफोन उठाते हुए)**—हॅलो ! कौन बोल रहा है ? अच्छा मिस्टर विभीषण ? क्या न्यूज है ? रावण की फौजें 'सरेंडर' कर रही हैं। अच्छा ही हुआ। अब हमें अपने टैंक और मशीनगनों का अधिक उपयोग न करना पड़ेगा। वे सुलहनामा लेकर मेरे यहाँ आ जाएँ। मैं ख़ुद ही उनसे बातचीत कर लूँगा। अच्छा गुड-बाई !

[टेलीफोन रखकर]

हनुमान !

हनुमान : जी, कमाण्डर साहब !

राम : तुम सबको जाकर कह सकते हो—आज से 'रण-रोको' **(सीजफायर)** का हुक्म हो गया है ! सब लोग खुशी मनायें। आज नाच-गाना सब हो सकता है। अपनी-अपनी बंदरियों को आप नचा सकते हैं। या जिसको बंदरियाँ न हों, वे सिनेमा देख सकते हैं। तमाशे का शौक पूरा हो जायगा। मेरी ओर से कोई आपत्ति नहीं है। और देखना तुमको जो काम कल मैंने सौंपा था उसका क्या हुआ ?

हनुमान : कौन-सा काम, साहब, मैं भूल गया।

राम : यही तो बात है जो तुम्हें मनुष्य का पूर्वज कहलाने पर बाध्य करती है। मैंने तुमसे कहा था कि जीत पर बड़ा भारी 'जश्न' मनाया जायगा। एक खास मुशायरे कवि सम्मेलन का मिला-जुला आयोजन भी कर सकते हो। मुझे कोई एतराज नहीं है अगर कोई इसे 'रिले' करे या इसकी फिल्म खींचे !

हनुमान : जी, साहब। मैं अभी इन्तजाम कर देता हूँ !

दृश्य 2

[स्थान वही]

रावण : **(प्रवेश करता है)**—मैं आ सकता हूँ ? आप ही मेजर जनरल राम हैं ? बहुत खुशी हुई आपसे मिलकर ! मैंने बिला शर्त फौजें हटा ली हैं। यू० एन० ओ० का वैसा ही आदेश था। क्या करता ! हाँ, मगर हमारे कबायली राक्षसों के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ। वे कभी-कभी ज्यादती कर देते हैं। और आपकी शर्तों में से एक थी—

राम : सीता को लौटाना यह पहली शर्त थी।

रावण : मैंने दोनों ओर की अपहृत स्त्रियों के विषय में वैसे एक कमीशन नियुक्त करने का प्रस्ताव रक्खा था। परन्तु जैसे पहले भी कमीशन से कुछ तै नहीं होता रहा है, मैंने वह प्रस्ताव वापिस ले लिया।

राम : तो सीता का क्या हुआ ?

रावण : मैं अपनी जीप में बैठाकर उन्हें साथ ही लाया हूँ। (पुकारता है)

सीता : (प्रवेश करके) इतने वर्षों बाद मिले ! तुम तो जैसे बदल ही गये।

राम : तुम भी कितनी दुबली हो गयीं। लंका में चावल मिल जाता था ?

सीता : हाँ, यही राशन की दूकान थी। पर वैसे इन्होंने अपनी जेल में 'ए' क्लास में मुझे रखा था। कोई तकलीफ नहीं थी। हथकड़ी नहीं थी। सिर्फ पहरा था !

राम : फिर आप पहरे में से पर्दा ओढ़कर भाग क्यों नहीं आयीं ?

सीता : वह आपके सत्यप्रिय स्वभाव के विरुद्ध होता ! वैसे इन्होंने मुझे किसी तरह तकलीफ न होने दी। इसके लिए मैं आपकी बहुत आभारी हूँ मिस्टर रावण !

रावण : (खीसें निकालकर) कोई बात नहीं, कोई बात नहीं !

सीता : और एक काम से ये आपके पास आये थे। लंका में सोने की ईंटें होती हैं। वह स्वर्णपुरी ही कहलाती थी।

राम : अच्छा ? तो ?

रावण : मैं कुछ 'डील' आपके साथ करने आया हूँ। मेरी बिजिनेस टर्म्स बहुत 'फेअर' हैं। आप मुझसे सोना ले लें—बदले में मुझे कपास या जूट या जो कुछ भी दे सकें दे दें। चाहें तो जमीन ही दे दें।

राम : मैं सोचूंगा !

रावण : सोचने को समय नहीं है राम भाई ! अगर आप और हम मिलकर विजयोत्सव नहीं मनायेंगे तो आप निश्चित जानिए लंका भी गई और अवधपुरी भी गई। दोनों को यह बन्दर की सन्तान आदमी कहीं का नहीं रहने देगा।

राम : (गम्भीर होकर) पर ये हो कैसे ?

रावण : सहजहै, सहज है ! आप हमसे सहायता लिया करें जब आवश्यक हो। वैसे आज हमारी रक्षा करें।

[पटाक्षेप]

कुछ गद्य-विधाएँ

इदं न मम्

(यह मेरा नहीं है)

आत्मवृत्त

सन् 1976 में मैं शिमला में उच्च अध्ययन संस्थान में था। तब एक प्रकाशक के आग्रह पर, लेखक के संस्मरण उपशीर्षक से अंग्रेज़ी में एक पुस्तक लिखी 'फ्राम सेल्फ टु सेल्फ' (इसमें पहले 'सेल्फ' का प्रथमाक्षर छोटा था; दूसरे का बड़ा)। इस पुस्तक का अच्छा स्वागत हुआ। दो वर्षों में पूरा संस्करण बिक गया। उस प्रकाशक ने दुबारा उसे नहीं छापा। इस बात को भी छह वर्ष बीत गये। कई प्रकाशकों ने आग्रह किया कि मैं उसी आत्म-कथा का हिन्दी अनुवाद कर दूँ। पर उसमें मुझे कठिनाई जान पड़ी। कहा गया कि मैं नये सिरे से अपने जीवन और साहित्य-सृजन की कहानी लिख डालूं। मेरे मन में अनेक संकोच थे। मैंने अनेक लेखकों, कथाकारों/साहित्यकारों और मनीषियों/चिन्तकों, कर्मवीरों की आत्मकथाएँ कई भाषाओं में पढ़ी हैं, करीब सौ से ऊपर पुस्तकें तो मैं अभी गिना सकता हूँ—उनके गुण-दोषों के साथ। मैं अव्वल तो बिल्कुल आत्मविश्वस्त नहीं हूँ कि मेरी जीवनी में किसी और की दिलचस्पी हो सकती है—कारण मेरे अपने संघर्ष बहुत निजी संघर्ष रहे हैं। उनमें सर्वसाधारण पाठक के काम की क्या चीज हो सकती है? न तो मैंने साहित्य या लेखन के क्षेत्र में, न अन्य किसी समाजवाद या राष्ट्र सेवा के क्षेत्र में ऐसा कोई असाधारण कार्य किया है, जिसके लिए मुझे कोई याद रखे, या मेरे बारे में इतना विस्तार से पढ़े। जहाँ तक पारिवारिकों का प्रश्न है, जो आत्मीय या सुहृद् या मित्र हैं उनके लिए मेरा जीवन खुली पुस्तक की तरह से है। वे मेरे सारे गुण-दोषों को अच्छी तरह से जानते हैं। उन्हें यह पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं। फिर मुझे बार-बार यही प्रश्न सताता है कि मैं यह सब क्यों लिख रहा हूँ? किसके लिए लिख रहा हूँ?

आत्मवृत्त का आमुख

एक उत्तर तुलसीदासजी दे गये—'स्वान्तः सुखाय'। मैं यह सब कागज काले करने या रँगने का उद्योग आत्म-सन्तोष के लिए कर रहा हूँ। सच्ची बात यह है कि इससे मुझे ज़रा भी सन्तोष या आनन्द नहीं होता कि मैं अपने ही बारे में बोलता या लिखता जाऊँ। वस्तुतः मेरी मान्यता यह है कि 'मैं' नामक कोई चीज़ ऐसी निजी, अपनी या 'पर' से असंबद्ध है ही नहीं। हर 'मैं' में कई 'हम',

'तुम' आदि समाये हुए हैं। उन्होंने 'मैं' को आकार दिया है। अतः मैं यह स्मृति-गाथा, विशुद्ध रूप से, औरों के आग्रह और इसरार पर लिखने बैठा हूँ।

शुरू में ही इसमें मुझे कई खतरे नज़र आ रहे हैं : एक तो यदि मैं कहीं अपने बारे में कुछ समर्थनात्मक लिखूँ, कुछ प्रशंसा भाव उसमें आ जाये तो आप कहेंगे—इसमें 'आत्म-श्लाघा' हो गई। यह व्यक्ति 'स्वरित' से पीड़ित है। आत्मकेंद्रित है। नारसिसस है।

यदि मैं अपनी बुराई ही करता रहूँ, अपने सारे दोष ही ढूँढ़ता जाऊँ, एक तरह से पापों की स्वीकारोक्ति देने बैठूँ। (यद्यपि मैं संत अगातीन, पास्कल, रूसो या गांधी नहीं हूँ) तो आप मुझसे कहेंगे—इसमें 'आत्म-निंदा' हो गई। यह व्यक्ति 'आत्मदया', 'स्व-पीड़न' का मनोरोगी है।

हर सामान्य मनुष्य में, जैसे मैं हूँ, यह दोनों दोष आत्म-स्तुति और आत्म-निंदा बराबर होते ही हैं। उतनी ही मात्रा में मेरे इस लेखन में भी वह मिलेंगे। उसके लिए कोई अतिरिक्त दया-याचना करने की मेरी इच्छा नहीं है। मैंने प्रयत्न किया है, कि जहाँ तक संभव हो अपने आपको 'वस्तुनिष्ठ' दृष्टि से देखूँ। 'अपनी खबर' लूँ; 'अपनी कहानी' ही कहूँ, अपना 'आल्हा' न गाऊँ, न अपना रामासरा छेड़ बैठूँ। मार्क ट्वेन ने लिखा था कि हर आदमी चाँद की तरह होता है—अपना प्रकाशित अंश ही दिखता है।

दूसरा बड़ा खतरा मुझे इस लेखन में लगता है वह मुझसे 'इतर' जो लोग हैं, जिनके संपर्क में मैं थोड़े या अधिक समय के लिए आया, जिन-जिनसे मेरा सम्बन्ध आया, वे परिचित, इष्ट-मित्र-कलत्र, परिवार या बाहर के घनिष्ठ या कभी बहुत समीप या निकट आये हुए व्यक्ति (चाहे स्वार्थ से ही क्यों न हो) उनके विषय में मैं क्या करूँ ? यदि सत्य लिखूँ तो हर पृष्ठ पर मुझे मानहानि के मुकद्दमे में उलझना पड़े, यदि बचा जाऊँ या पूर्ण उपेक्षा करूँ (जैसा कि अधिकांश अहिंसक लेखक या 'चतुर' 'कूटनयिक' लेखक करते हैं) तो मैं अपने प्रति अप्रामाणिक सिद्ध होऊँगा। अतः 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का निर्वाह कैसे हो ? 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' सचमुच दुर्लभ है।

इसलिए एक दार्शनिक ने कहा था, वही सच है कि आदमी कभी भी पूरी तरह अपने आपको जान- नहीं पाता। सारा जीवन इसी खोज में बीतता है कि—"मैं क्या हूँ ?" ('कोऽहम्' 'कस्त्वं', 'कुतो आयातः,' 'क्वासि' ?) "तुम कौन हो ?" "मैं कहाँ से आया", "मैं कौन हूँ ?" सारा जीवन जानते हुए भी अनजान में, स्वप्न में चलने वाले सोये हुए मनुष्य की तरह बीत जाता है। 'आत्म-साक्षात्कार' हो ही नहीं पाता। मैं भी उसी टोह या उधेड़बुन में हूँ। अगर वह 'आत्मतत्त्व' पा जाता, तो मैं यह सब लिखता ही क्यों ? वह सिद्धि आत्मोपलब्धि नहीं होती। तब तो 'गूँगे का गुड़' मौन में परिणत हो जाता। भाषा का प्रयोजन ही

समाप्त हो जाता। भाषा तभी तक माध्यम है जब तक सुनाने वाला, सुनने वाला, लिखने वाला, पढ़ने वाला यह द्वैत है। उस 'परम' दार्शनिक अर्थ में सच्ची 'आत्म-कथा' तभी लिखी जा सकेगी जब व्यक्ति भाषा का वरण कर चुका होगा, और उसे पुनः इस धरती पर अपने किये के बारे में बोलने-लिखने का सु-अवसर प्राप्त हो सकता। जो कि असंभव है। अतः यह प्रायः संभाव्य, शायद तक सीमित आत्मावलोकन मात्र है। सापेक्ष।

तीसरा बड़ा प्रश्न रागात्मकता से जुड़ा है। मान लीजिए मैं 'अ' व्यक्ति, संस्था स्थिति को नापसंद करता हूँ। तो मैं उसका निषेध करूँगा। अब निषेध का अर्थ पूर्ण-नकार नहीं होता। उस वस्तु या व्यक्ति के पक्ष-विशेष का मैं प्रतिषेध मात्र कर रहा हूँ। प्रत्येक स्वीकार या नकार, मानवी नियति ही यह है कि, आंशिक होता है। चिर-कालीन या सार्वदेशिक नहीं। अन्यथा परिवर्तन, विकास, प्रगति जैसे शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं होता। प्वारबाख़ ने लिखा था कि बीज मिट्टी को नकारता है, तो अंकुर बनता है। दाहिना कदम बाएँ कदम को नकारता है, तो उसे चलना कहते हैं। हर गति में यह द्वंद्व निहित है। बच्चा माँ के उदर से निकलता है, पर वहाँ भी नाल को काटना होता है। यौवन शैशव का निषेध है; जरा यौवन का। इस तरह से हर नया आविष्कार या खोज पुराने आविष्कार या खोज को नकारते हुए आगे बढ़ती है। तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन से ज्ञान बढ़ता है। मिलन-विरह से, खोने-पाने से भावना जुड़ी हुई है। सब व्यक्ति समान रुचि या समान प्रवृत्ति के नहीं होते। इसलिए मेरी यह कहानी सबके पसंद की हो, यह संभव नहीं है। यहाँ मैं साधारणीकरण की खोज में नहीं हूँ, चूँकि मैं जानता हूँ कि मैं अ-साधारण नहीं हूँ। बल्कि अति-साधारण हूँ।

कबीर ने इस 'तालाबेली' को इस अन्दाज़ से व्यक्त किया था—

बाहर कहूँ तो जगभय लाजे,
भीतर कहूँ तो झूठा।

इसलिए मैंने दो उपाय, अपने मन में, पूर्व धारणाओं की तरह मान लिये हैं एक तो यथासंभव उन्हीं व्यक्तियों की चर्चा करूँगा, जो अब जीवित नहीं हैं। उनके बारे में हम सुनिश्चित राय बना सकते हैं। जीवितों की चर्चा में अच्छी बातें जहाँ होंगी वहीं आ लूंगा। शेष बुराई की चर्चा करते समय आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति या संस्था का नामोच्चार करूँ ही। यह पथ्य मन में रखकर अपनी कहानी शुरू करना चाहता हूँ।

अंग्रेज़ी आत्मकथा पर एक आक्षेप यह भी था कि वह सीधी-सपाट, क्रमागत कहानी है। उसमें 'निजी' जीवन का बहुत कम है। और वह 'देखता चला गया' के शैलानी अंदाज़ में है। वह क्रमागतता, ऐतिहासिक विकास रेखा मैं इस बयान में नहीं अपनाने जा रहा हूँ। बल्कि आज की बात करते-करते पुरानी जो बात याद आ

जाये, या भविष्यत् के बारे में जो कुछ सोच मन में आये, एक निष्पक्ष, निर्भीक, निरपेक्ष, निष्काम, निस्पृह भाव से अंकित करता जाऊँगा। शायद इस प्रक्रिया में अपने अज्ञात अदृश्य पाठक या अनाम श्रोता का ध्यान मैं आकर्षित कर सकूँ, या उसे टिकाये रख सकूँ।

बहुत निजी जीवन खोलकर रखने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। एक तो वैसा कोई बहुत गोपन रखने लायक मेरे भीतर चोर-दरवाज़े वाली गुफाएँ हैं ही नहीं। दूसरे मान लीजिए, हों भी तो उनसे मेरे साहित्यिक पाठक की क्या उन्सियत, क्या दिलचस्पी हो सकती है? इसलिए जो लोग ऐसी 'आत्म-स्वीकृतियाँ' पढ़ने के शौकीन हैं, उन्हें निराशा ही होगी। बहुत से लोगों ने ज़रूरत से ज़्यादह रंग डालकर ऐसी तस्वीरें गढ़ी हैं; बहुत-सा मसाला डालकर अपने अतीत जीवन को और रोचक बनाकर पेश किया है। मैं समझता हूँ 'सत्य कल्पना से अधिक विलक्षण होता है' (ट्रूथ इज़ स्ट्रेंज़र दैन फिक्शन)। इस कारण से जितना भी संस्मरणीय सत्य है, उसी का चित्रण पर्याप्त होना चाहिए।

मैं चित्रकला का विद्यार्थी रहा हूँ। कई शैलियों से रेखांकन, रंग भरना और 'स्पेस' को खाली या भरा हुआ रखना मैं सीखा हूँ। उसका असर मेरे लेखन पर भी स्वाभाविक है। वे सब बिंब, जो स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से, मेरे मनोभावों और मनोविकारों, मेरे चेतन-अवचेतन अस्तित्व के निर्माण में सहायक या बाधक होते रहे हैं, मेरे साथ-साथ चले हैं। मैं उन सबको कागज़ पर शब्दों में उतारने का यह विनम्र प्रयत्न मात्र कर रहा हूँ।

सफलता या असफलता, यश या अपयश 'विधि हाथ' ही है। अपनी ओर से मैं केवल 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का अधिकारी हूँ। मैंने कांट नामक जर्मन दार्शनिक को पढ़ा है। 'सत्' जो है वह एक 'कैटेगोरिकल इंपेरेटिव' है। यानी उसकी 'स्वयमेव मृगेन्द्रिता' है। मैं सच बोलता हूँ, या अच्छाई करता हूँ, या सौंदर्य का आनंद लेता हूँ तो उसकी अवस्थिति निर्हेतु की है। उसका कोई विशेष कारण या समर्थन आवश्यक नहीं है। मैं इसलिए सच नहीं बोल रहा हूँ कि लोग मुझे धार्मिक मानें, या इस कारण से मुझे कोई पुरस्कार दें, या अगली पीढ़ियाँ मुझे 'सत्य हरिश्चन्द्र' की उपाधि से विभूषित करें। वह मेरा सहज स्वभाव हो जाना चाहिए। प्रामाणिकता को और प्रमाण क्या? 'हाथ कंगन को आरसी क्या?' सद्-असद् का विवेक ही मनुष्य में होता ही है। विवेक ही शिव का आधार है। यही धारणा सौंदर्य जैसे मूल्य के बारे में सही है। उसका मूल्य भौतिक या आर्थिक मानदंडों से नापा या आँका नहीं जा सकता।

इसी दृष्टि से ये आगे के पन्ने हैं। मेरा दावा नहीं है कि ये पन्ने सब पाठकों को एक से रोचक या महत्त्वपूर्ण लगें। उनमें कई दोष कई लोगों को नज़र आयेंगे। पर मैं मानकर चलता हूँ कि मानवमात्र अपूर्ण है। अतः उसकी कृति

कभी संपूर्ण नहीं हो सकती। वह सिर्फ एक तरह की 'संभाव्यता' मात्र है। हर मानव में अनंत संभावनाएँ हैं। इसलिए जो कुछ भी मानवीय है वह क्षुद्र या नगण्य कदापि नहीं है। मेरी दृष्टि एक शुद्ध वैज्ञानिक मानवतावादी की रही है। अतः मैं किसी भी बद्धमूल पूर्वाग्रह का पक्षपाती नहीं रहा हूँ। मेरे लिए कोई भी रूढ़ि या परंपरा अंतिम प्रमाण, या 'हर्फ़े-आखिर' नहीं है। मानव ही सब विचारों और कार्य-कलापों की कसौटी है। यदि उस पर वह खरे नहीं उतरते तो वह त्याज्य है। केवल विचार-दाताओं के दावों से हमें आतंकित नहीं होना चाहिए, यही मेरी विनम्र मान्यता है।

साहित्य के क्षेत्र में इसीलिए मैं दक्षिणपंथी, वामपंथी, प्रतिक्रियावादी, प्रगतिवादी, प्रतिबद्ध-अप्रतिबद्ध ऐसे खानों और साँचों में विश्वास नहीं करता। मैं यह मानता हूँ कि मनुष्य के बारे में जैसे कोई पूर्वनिश्चित यांत्रिक अनुमान नहीं किया जा सकता; उसके साहित्य-सृजन में भी 'प्रमा' (इंस्टिट्यूशन) का बहुत कुछ योगदान है। प्रमा अपरिभाषेय है। गांधी जिसे 'अंतस् की पुकार' कहते थे, या अरविंद जिसे 'अंत-दृष्टि' (विज़न) कहते हैं—वही मनुष्य की प्रेरक ऊर्जा-स्रोत है। केवल भौतिक या पदार्थ वैज्ञानिक, रासायनिक, जैविक या नृ-तात्त्विक आदि निमित्त या उपादान कारणों से मानवीय संस्थिति का पूरा अर्थ समझा नहीं जा सकता।

इस सारी सफाई की ज़रूरत नहीं पड़ती, यदि हमारे पाठक बिना 'आमुख' पढ़े ही सीधे इस आत्मवृत्त को पढ़ जाते। परंतु आजकल चित्र से अधिक प्रेम, मूर्ति से अधिक पेडेस्टल, कविता से अधिक वक्तव्य, कृति से अधिक उसकी भूमिका आवश्यक हो गई है। इसलिए यह पंक्तियाँ। शायद बौद्धिकतावादी युग की यह मजबूरी हो गई है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे भीतर एक सर्जक भी है, और एक आलोचक भी। पर मैंने कभी भी एक को दूसरे पर हावी नहीं होने दिया। मस्तिष्क और हृदय के सहकार्य और सन्तुलन से ही कला की सृष्टि और उसका रसग्रहण संभव है। मनुष्य न सिर्फ 'इल्म' है, न सिर्फ 'इश्क'। उसी समग्रता और अखंडता की खोज में सारा जीवन बिताया। अब उसे पीछे मुड़कर देखने में अपने आपको 'सिंह' (+अवलोकन) कहने का दुस्साहस मैं कैसे करूँ। इसीलिए मैंने सिर्फ कहा है—यह सब अब मेरा नहीं है। इदं न मम।

क्या-क्या स्वाहा हुआ, या शेष रहा—आप देखें।

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के संस्मरण

हम सब उन्हें आदर से 'पंडितजी' कहते थे। इससे कई बार गड़बड़ी भी पैदा हो जाती। साहित्य अकादमी की कार्यकारिणी बैठक में एक बार वी० के० आर० वी० राव (तब वे केन्द्रीय शिक्षा मंत्री थे) एक प्रस्ताव लाये कि हिन्दी भारत के सब प्रदेशों में, उन प्रदेशों की प्रादेशिक लिपियों में पढ़ायी जाये। मैंने चुपके से हजारीप्रसाद जी के हाथों में एक पुर्जा थमा दिया कि "देवनागरी में छत्तीस से अधिक वर्ण हैं और तमिल में उन्नीस, तो नागरी को अन्य लिपि द्वारा पढ़ाने में दिक्कत होगी। रोमन के छब्बीस में भी चिह्न लगाते पड़ते हैं।" बहस जोरों से चल रही थी। अध्यक्षता जवाहरलाल जी कर रहे थे। मैं पीछे बैठा था। हजारीप्रसाद जी को चुप बैठे देखकर मैंने कहा, "पंडितजी की राय पूछ ली जाये।" मेरे मुँह से अनायास 'पंडितजी' शब्द निकल गया—सबकी नज़रें जवाहरलालजी पर पड़ीं। जवाहरलाल जी ने मेरी ओर कुटिल भृकुटि से देखा कि यह क्या कह रहा है। मैंने कहा, "पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी से पूछा जाये; मामला हिन्दी पढ़ाने का है।" उन्होंने जोरों से नागरी का समर्थन किया। राव साहब की बात वहीं रह गयी। पर 'पण्डितजी' शब्द से तब कैसे गलतफहमी पैदा हुई, यह ध्यान में रखकर मैं जवाहरलाल जी और पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी जहाँ एकत्र होते, उन्हें 'हजारीप्रसाद जी' ही कहा करता ताकि और लोगों के मन में कोई गड़बड़ी न हो।

रूप

मैंने सन् '37-38 में पहली बार शांतिनिकेतन में उन्हें एक झोपड़ीनुमा घर में जो देखा, सो अन्तिम बार मैं उनसे 'आलोक-पर्व' पुरस्कार के बाद राजकमल प्रकाशिका शीला सिन्धू के घर मिला तब तक मैंने एक ही-सी वेशभूषा में पाया। तब पण्डितजी की काली छोटी दाढ़ी थी, घुटनों तक की धोती और कुर्ता था। बलराज साहनी ने 'हंस' के रेखाचित्रांक में हजारीप्रसाद जी पर चुटकी लेते हुए लिखा था, 'पण्डितजी में एक बुरी आदत है; कई दिनों तक दाढ़ी ही नहीं बनाते हैं।' डॉ० 'सुमन' ने मुझे एक किस्सा बताया कि एक दिन गुरुदेव ने पण्डितजी को बुलाकर बड़ी मीठी झिड़की दी, "सब तो ठीक है, पर दूसरों की आँखों में चुभने का काम क्यों करते हैं?" पहले पण्डितजी समझे नहीं कि क्या पाप मैंने कर डाला? क्षमा माँगने लगे। तब गुरुदेव रवींद्रनाथ ने कहा, "या तो दाढ़ी पूरी बढ़ाओ, या बिल्कुल मत रखो। यह अधूरी-सी जो झाड़-झंखाड़नुमा चेहरे पर

श्मश्रु है, यह हमारी आँखों में गड़ती है।" तब पण्डितजी ने दाढ़ी बढ़ा ली थी।

गुण : सहृदयता

उनकी सहृदयता का कायल तो मैं शांतिनिकेतन में ही हो गया था। 'अज्ञेय' तब 'विशाल भारत' सम्पादित करते थे। मुझसे कहा, 'शान्तिनिकेतन जा रहे हो तो नन्दलाल बोस से भेंट करना। उन पर लिखना।" मेरा परिचय पण्डितजी ने नन्दोबाबू से कराया। वह इंटरव्यू 1938 के 'विशाल भारत' में छपा है 'नन्दलाल बोस से एक भेंट' के शीर्षक से। आज भी याद आता है नन्दलाल बोस ने बम्बई स्कूल ऑफ आर्ट के पश्चिम की नकल में किये जाने वाले यथार्थवादी कलानुकरण की सख्त आलोचना की थी। बोले, "देखते हो यह सप्तपर्णी का पेड़ है। पूरा पेड़ बनाने जाओ तो एक जनम भी पूरा नहीं होगा। कितने पत्ते हैं गिन सकते हो? और गिन भी लो तो उतने बनाने बैठो, तब तक एक ऋतु बदल जायेगी।"

शांतिनिकेतन की भूमि में ही यह कल्पना-प्रियता, यह वास्तव या यथार्थ से परे, किसी 'सुदूरेर सन्धाने' की स्वप्निल दृष्टि घुली-मिली थी। एक बार पण्डितजी बोले—छोटे बच्चे भी वहाँ एक दूसरे से बात करेंगे तो ऐसी काव्यमयी भाषा में—'आमि केमोन अम्लान मुख!' यानी मैंने सवेरे-सवेरे हाथ-मुँह धो लिया है। मेरा चेहरा साफ है। वह शांतिनिकेतन का बालक उसे यूँ कहेगा?

तभी पण्डितजी ने एक बार परिहास से कहा, "एला लतार फल एवम् लोबोंग लतार फूल आपनी चाई?" यानी "आपको लौंग, इलायची चाहिए है?"

गुण : परिहास-प्रियता

इसके तो पचासों उदाहरण मुझे याद आते हैं। वे एक समय या एक स्थान के नहीं हैं। एक बार किसी नवोदित हिन्दी लेखक ने 'त्रिपुर-सुन्दरी' पर कोई पांडुलिपि लिखी। पण्डितजी से भूमिका लिखने का आग्रह करने लगे। तो ठहाका मारकर बोले, "हमने तो अब तक तीन ही पुर देखे हैं : जौनपुर, कानपुर और नागपुर—हमें कोई सुन्दरी वहाँ नजर नहीं आई!" उसके बाद उस व्यक्ति ने उनसे भूमिका नहीं माँगी।

चंडीगढ़ में एक तरुण हिन्दी लेखक पण्डितजी के प्रिय शिष्य थे—परश। उनके घर पर गये तो पण्डितजी पूछते हैं, "आपकी 'परेशानी' कहाँ हैं?"

विनोद में बताते थे कि पहली पुस्तक मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति से 'सूर-साहित्य' छपी तो उस पर शास्त्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बजाय शस्त्राचार्य छप गया। फिर ठहाका मारकर बोले, " 'किधौ सूर को सर लग्यो, किधौ सूर को तीर' कंपोजीटर को ऐसे कवि के बाणों से हत होने पर शास्त्रा-

चार्य के बदले शस्त्राचार्य की ही याद आई होगी।"

मैंने नामदेव पर एक पुस्तक पटियाला युनिवर्सिटी के लिए लिखी थी। उस बार मेरा चुनाव साहित्य अकादमी के मंत्रीपद के लिए उन्होंने छह और व्यक्तियों के साथ किया, सन् 1971 में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी थे, उमाशंकर जोशी थे, आले अहमद सुरूर थे, डॉ० के० आर० श्रीनिवास अय्यंगार थे, टी० पी० मीनाक्षी-सुन्दरम् पिल्लई थे आदि-आदि। दूसरे दिन जब पता लग गया कि मैं चुन लिया गया हूँ। मैंने एक नीला सूट पहना था बन्द गले के कोट वाला, खादी पट्टू का। मुझसे बोले, आपका सूट नामदेव ने सिला है। तभी आप सफल हो गये। मुझे तब से हँसी में 'नामदेव' ही कहते थे।

भुलक्कड़ प्रोफेसरों के किस्से

पण्डितजी ने, बागपत से मेरठ लौटते हुए सन् 40 या 41 की बात है—मेरठ हिन्दी साहित्य परिषद् के बाद, वात्स्यायन, बलराज साहनी, पण्डितजी और मैं एक ही मोटर में आ रहे थे, दस किस्से प्रोफेसरों की प्रसिद्ध विस्मृति-शीलता पर सुनाये। एक क़िस्सा शांतिनिकेतन के इतिहास के प्रोफेसर का था, जो श्राद्ध करने गया, और श्राद्ध के समय अपने पिता का नाम ही भूल गया।

(बाद में नक्सलवादी आंदोलन के समय कलकत्ते में यह द्वि-पंक्ति प्रचलित थी, व्यंग्य में—'भूली जाई बापेर नाम/भूले नेई भिएतनाम')।

दूसरा किस्सा उस प्रोफेसर का था, जो कोई पुराना विद्यार्थी मिलने आता तो उससे पूछता—"अरे कानाई, मैं तो तुम्हारा नाम ही भूल गया !"

तीसरा उस प्रोफेसर का था जो अपनी नयी-नयी शादी के बाद मधुचन्द्र (हनीमून) पर गया तो दो के बजाय रेल का एक ही टिकिट लाया। जब पत्नी बहुत गुस्सा हुई तो काव्यमयी भाषा में बोला, "सुन्दरी, तेरे सान्निध्य में मुझे पूर्ण आत्म-विस्मृति हो जाती है।"

चौथा उस प्रोफेसर का था जो अस्पताल की लाउंज में बैठा है। पत्नी प्रसूतिगृह के भीतर है। प्रोफेसर मोटी किताब पढ़ रहे हैं। अन्दर से नर्स आकर इत्तिला देती है—"प्रोफेसर, लड़की है।" प्रोफेसर किताब से नजर न उठाकर कहता है—"लड़की को कल आने के लिए कहना।" वे समझे कोई लड़की उनसे मिलने आई है।

और एक प्रोफेसर हवाई जहाज से बाहर आ रहे थे। वे भूल ही गये कि जमीन पर हैं या हवा में हैं। इसी में वे गिर पड़े।

सबसे मजेदार किस्सा उस प्रोफेसर का था जो एक बार घर से बाहर निकला तो अपना 'नेम-कार्ड' साथ में ले जाना भूल गया। अब बाहर जाते समय अपने

नाम की पटिया पर 'भीतर/बाहर' में से 'भीतर' बंद करके 'बाहर' रख दिया था। जिस सज्जन से मिलने गये उन्होंने नाम पूछा। प्रोफेसर साहब को अपना नाम याद नहीं था। जेब टटोली, तो 'नेम कार्ड' नदारद। उसे लेने फिर घर की ओर लौटे। तो वहाँ 'बाहर' लिखा हुआ। अब बाहर चहल-कदमी कर रहे हैं। किससे पूछें अपना नाम? पटिया पर लिखा अपना नाम पढ़ना वे भूल गये!!

आज अड़तीस वर्ष बाद भी ये सब किस्से याद हैं।

'रमणीय' चाय

शांतिनिकेतन में नन्दोबाबू तब एलिजाबेथ ब्रूनर नामक चित्रकर्त्री की माँ के यहाँ रोज सवेरे चाय पीने, बेनागा, जाने लगे। बोलते थे 'की चोमोत्कार, चाय है कि अमृत है!'

कुछ तो ब्रूनर माँ-बेटी का आकर्षक व्यक्तित्व था, मधुर स्वभाव था कि चाय का आग्रह टाले नहीं टलता था। फिर धीरे से पण्डितजी बोले, किसी ने जाकर गुरुदेव को वह रहस्य बता दिया कि नन्दोबाबू को उस चाय की 'लत' क्यों पड़ गई। हमने पूछा—सो क्या बात थी? कोई विशिष्ट ब्रांड की चाय थी क्या?

मूँछों में मुस्कुराते हुए, शरारती बच्चे की तरह पण्डितजी बोले, 'वे चाय में थोड़ी-सी 'रम' मिला दिया करती थीं। उनकी चाय 'रमणीय' थी।'

आपसे आप आता है सो आने दो

एक बार पण्डितजी ने एक लम्बा लतीफा सुनाया—एक मौलवी थे। सवेरे अपना कुरआन शरीफ पढ़ रहे थे कि एक आयत सामने आ गई, "जो आपसे आप आता है, उसे आने दो।" नजर उठाकर देखा तो आँगन में एक मुर्गी दरवाजे के भीतर चली आ रही है। वह झोपड़ी के दरवाजे से भीतर आ गई।

अब यह भी धार्मिक आदेश है कि तीन बार पूछ लिया जाय कि यह माल और किसी का तो नहीं है। फिर वह अपना हो जाता है। तो मुर्गी को एक हाथ से पकड़कर मौलवी गर्दन ऊँची उठाकर जोर से कहते, "अरे, कोई है" फिर गर्दन नीची कर फुसफुसाकर कहते, "······जिसकी मुर्गी खो गई है!" तीन बार यह बात दुहराकर वे घर में मुर्गी को ले आये। बीवी से बोले, "आपसे आप जो आ गया है, उसे आने दो। मैं तो यह सब खाऊँगा नहीं। तुम उसे पकाओ।"

बीवी ने मुर्गी पकाई। मौलवी की नाक में उसकी सुगन्धि पहुंची। खाने पर बैठे तो बोले—"मुर्गी तुम खाओ। थोड़ा शोरवा मुझे दे दो।"

बीवी परोसने के लिए आई तो शोरवे के साथ मुर्गी का टुकड़ा भी आ गया। बीवी कड़छी से रोकने लगी तो मौलवी बोले—"आप से आप जो आता है उसे

आने दो।"

शास्त्राज्ञा जो ठहरी !

'भीतरे गोरम आछे'

शांतिनिकेतन में एक कलाकार थे। जाड़े में बहुत महीन मलमल का कुर्ता पहनकर घूमने निकलते। रवींद्रनाथ ने कहा कि ठंड-वंड लग जायेगी। कुछ ऊनी जाकिट, स्वेटर पहना करो। तो वे मुस्कराकर चले गये।

रवींद्रनाथ से फिर दूसरे ने आकर बताया, "गुरुदेव उन्हें ऊनी-वूनी की जरूरत नहीं। वे 'भीतरे गोरम आछे'—भीतर से गर्म है !"

वे सज्जन 'पिया' करते थे। शांतिनिकेतन में शराब अहाते के बाहर ही पी जाती थी। भीतर मनाही थी तम्बाकू, सिगरेट, सब पर। जूते पहनने पर भी।

'फोर्ड साहब के नाम पर'

एक बार पण्डितजी ने व्याख्यान में कहा कि फोर्ड साहब ने एक बार एक मोटर बनाई और घोषणा की कि यह बिना पेट्रोल के चलेगी। काफी दूर तक वह चलती रही। लोगों ने आश्चर्य किया और पूछा कि बिना किसी ऊर्जा के यह चलती कैसे है। फोर्ड ने मुस्कराकर कहा, 'यह गाड़ी फोर्ड साहब के नाम पर चल रही है।'

इस कहानी के बाद पण्डितजी ने जो भाष्य किया, वह बहुत सटीक था। बोले, "हिन्दी की गाड़ी अब तक 'कबीर-मीरा-सूर-तुलसी' के नाम पर चल रही थी। अब आगे कौन हवाल ? अब तो आगे यह गाड़ी चलानी हो तो बिना पेट्रोल के यह चलेगी कैसे ? और कितनी दूर तक ?"

मुझे अब भी याद है बीस-पच्चीस बरस पहले का यह उनका वाक्य, उस समय श्रोताओं को कैसा लगा था ?

'उषा' और 'हरियाना' की व्युत्पत्ति

एक बार 'शांतिनिकेतन से शिवालिक' पुस्तक जब पण्डितजी को अर्पित की जा रही थी, या 'आलोचना' का विशेषांक, तब पण्डितजी ने भाषण में उच्छ्वसित होकर कहा, एक दिन आदिम मानव नींद से उठा। आकाश थोड़ा लाल था। खुली हवा में उसने निःश्वास लिया। बोला, 'हुश्श'। हुश्श < उश्श < उषा बन गया।

ऐसे ही पी० ई० एन० कांफेरेंस, चंडीगढ़, के बाद सब लोग पिंजौर का उद्यान देखने लगे। पण्डितजी ने गम्भीरता से कहा, पहले सब यहाँ हरियाला ही

हरियाला था। उसी से 'हरियाना' बन गया।

'घी' और 'साबुन'

एक बार पण्डितजी भोजन के बाद हाथ धो रहे थे। बोले, मुझे साबुन नहीं चाहिए। पर गुजरात या राजस्थान में कहीं इस बात की मनाही नहीं कर सकते। मान्यता यह है कि आतिथेय ने इतना अधिक 'घी' खिलाया है। और हाथ उससे इतने 'घी'-मय हो गये हैं, कि यदि हाथ धोने के लिए साबुन न माँगो तो आतिथेय का अपमान हो जाता है।

'पर-पुरुष' का अर्थ

रूस से लौटे तो बता रहे थे कि बंकिमचंद्र की किसी रचना में 'परम-पुरुष' शब्द आया। कोश के सहारे 'पर-पुरुष' का अर्थ देकर अनुवाद कर दिया गया। मुझे बराबर याद नहीं आता, शायद इससे उलटे कोई घोटाला हुआ। कहीं रवीन्द्रनाथ की रचना में पर-पुरुष आया, तो उसके अनुवाद में 'परम-पुरुष' आ गये। अनुवादिका बार-बार पूछती रही—बहुत अच्छा अनुवाद है न? पण्डितजी अतिथि ठहरे। बोले, "बहुत अच्छा है! बहुत अच्छा है!!"

मौलाना की हिन्दी

एक बार मौलाना अबुल कलाम आजाद से महादेवीजी मिलने गईं। वे समझे—देवी तो हर भद्र महिला को सम्मानपूर्वक कहते ही हैं। अनौपचारिकता के नाते बोले, "महाजी को भेज दीजिये।"

दूसरी बार (डा०) श्रीमाली पहुँचे। 'श्री' तो हरेक के नाम से लगाते ही हैं। मौलाना बोले, "मालीजी को भेज दीजिये।"

गम्भीर द्विवेदीजी : चिर-असमंजस

लतीफागोई शांतिनिकेतन के हर अध्यापक, कलाकार में मैंने देखी है। या तो वे खूब मुक्त हँसते हैं, या एकदम गम्भीर, मौन रहते हैं। पण्डितजी सदा ही हँसते-हँसाते रहे—ऐसी बात नहीं है। वे जब गम्भीर होते थे, तो मुझे लगता था कि वे गोताखोर वाली अवस्था में हैं। कुछ टटोल रहे हैं जो मिल नहीं रहा है। विद्यार्णव इतना विस्तृत और अथाह है; उसमें रत्नकण इतने हैं, मुक्ताहल इतने हैं। पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी सब बटोर लेना चाहते हैं, पर हर क्षण उन्हें लग रहा है—कितना कुछ छूट गया।

कुछ तो क्षितिमोहन सेन की सोहबत, कुछ गुरुदेव की 'पुराणेतिहास' में आस्था—हर प्राचीन-मध्ययुगीन प्रतीक-रूपक-संकेत के सांस्कृतिक नृ-तत्त्व-

शास्त्रीय अर्थ खोजने में द्विवेदीजी डूबे रहते थे। उनके उपन्यास साक्षी हैं कि वे 'सर्वतन्त्र' स्व-तन्त्र थे, वे उस सारी पुरा-कथा को 'पुनर्नवा' बना रहे थे। उनके लेखे अतीत और वर्तमान दो नहीं थे एक अविच्छिन्न संसृति के ही अंश थे। उनकी दृष्टि इसी कारण से अत्यन्त सर्वव्यापी, सार्वजनीन, सार्वकालिक, सार्वदेशीय बन गई थी। वे बनारस या बलिया के नहीं थे, शांतिनिकेतन या शिवालिक के नहीं थे। वे 'विश्वभारती' में रहकर 'विश्वमानव' बन चुके थे। पर कितना दुर्भाग्य है कि उनकी एक भी रचना का, एक भी निबन्ध का अँग्रेजी अनुवाद उपलब्ध नहीं हुआ—उनके जीवनकाल में।

अनिर्णय से गलतफहमियाँ

पण्डितजी नेहरू-रवीन्द्र युग के सच्चे प्रतिनिधि 'बौद्धिक' थे। नेहरू को राजनैतिक 'हैमलेट' कहा जाता है। प्रो० स्टीफ़ेन हेने ने मुझे शिकागो में बताया (तब वे जापान और अमेरिका में रवीन्द्रनाथ पर पुस्तक लिख रहे थे) कि डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी से उन्होंने पूछा—"आप तो रवीन्द्रनाथ के साथ दक्षिण-पूर्वी एशिया की यात्रा पर गये हैं। बताइये रवीन्द्रनाथ पश्चिम-प्रेमी थे या पूर्व-प्रेमी ?" डॉ० चैटर्जी ने उस युग के अनुरूप उत्तर दिया, "जब वे पश्चिम में जाते थे तो पश्चिम के प्रेमी होते थे; जब पूर्व में जाते थे तो पूर्व के।" यह 'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास' वाली भारतीय वृत्ति-वेदान्त की भाषा में 'परस्पर विरोधी तत्त्वों का समाहार'—'आयाराम-गयाराम' (किसी ने इसमें सुधार किया है 'बन्सी, देवी, भजन-'लाल'; 'लाली' जो देखन गया मैं भी हो गया लाल' !) राजनीति में है। साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण क्षणों में 'पक्षधरता', 'प्रतिबद्धता' आदि से पण्डितजी बचते थे। परिणाम बी० एच० यू० में उन्हें दोनों तरह की दक्षिण-वाम उग्रवादिता का शिकार होना पड़ा। मुझे उनकी निन्दा बहुत सुननी पड़ी, अकादमी में रहते। बनारस स्टेशन पर ट्रेन लेट थी। दो घण्टे तक शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय (भगवान उनका भला करे) बेंच पर बैठकर मेरे कान भरते रहे।

उदारता

पर पण्डितजी में एक बहुत बड़ा गुण था—'छमा बड़न को चाहिए, छोटन को उतपात' वाला। मैं अपना ही उदाहरण देता हूँ। 'हिन्दी साहित्य' (इतिहास) की मैंने कठोर आलोचना 'कल्पना' में लिखी थी। पर पण्डितजी ने मेरी पहली पुस्तक 'खरगोश के सींग' (1950) की भूमिका लिखी, कबीर (अंग्रेजी, 1968) की लिखी। मुझ पर उनके अनन्त उपकार थे।

वात्स्यायन का लेख जो 'कंटेम्पोरेरी इण्डियन लिटरेचर' में छपा था उसकी

कठोर आलोचना हुई। एक पक्ष उस लेख को हटाने के पक्ष में था। पण्डितजी पञ्च बने। उन्होंने सुधार सुझाये।

मैंने उनके स्वर्गवास के बाद तीन लेख लिखे हैं: एक 'रविवार' (कलकत्ता) में एक 'गिरिराज' (शिमला) में, और एक अभी छपने वाला है ना० प्र० पत्रिका में। मेरी एक अमेरिकन विद्यार्थिनी लिलियन वाकर बक्ले (कैलिफोर्निया) में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का अंग्रेजी अनुवाद करने वाली थी। पर उसमें हारकर भारत में आई थी तो मोनियेर विलियम्स की डिक्शनरी की प्रति शमशेर बहादुर सिंह के नाम छोड़ दी। वह काम छोड़ दिया। कठिन है।

वक्तृत्व के गुण

उनके जैसा वक्ता अब हिन्दी में नहीं। उनके द्वारा प्रभावित अनेक उनके शिष्य हैं, अन्य वक्ता हैं। डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' बोलते-बोलते बहक जाते हैं, अच्छे लतीफे सुनाते हैं, मार्मिक काव्यमयी कथायें; डॉ० नामवर सिंह में कुछ-कुछ उनका अन्दाजे-बयाँ है (पर फिर भी वकौले गालिब 'और' ही है); डॉ० रमेश कुन्तल मेघ अपने अध्ययन का विस्तृत पिटारा खोलते हैं तो 'कैनवस' बहुत लम्बा-चौड़ा हो जाता है, पर द्विवेदीजी का चटुल व्यंग्य-परिहास उनके यहाँ बिल्कुल नहीं है। और भी कई नाम होंगे। निबन्ध शैली में उनकी पटरी पर चलने वाले विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय दो नाम याद आ रहे हैं—पर 'भ्रमरानन्द' में व्यंग्य अधिक तीखा होता है, कुबेरनाथ की विद्वत्ता बहुत उदग्र हो उठती है। द्विवेदीजी के यहाँ पता ही नहीं चलता था—क्या भाषण में और क्या लेखन में—कि विद्वत्ता कहाँ है, सहजता कहाँ है! भाई वात्स्यायनजी ने उनकी मृत्यु के दिन आकाशवाणी के 'स्पाटलाइट' में अंग्रेजी में बहुत बढ़िया बात कही थी कि इतना पांडित्य और इतनी सहज सृजनधर्मिता कम लोगों में इतनी एकात्म होकर मिलती है।

मिथक से मोह

पण्डितजी की एक कमजोरी थी। उन्हें 'मिथक' से मोह था। जहाँ मिथक न हो वे निर्माण कर लेते थे। यहीं उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा की अद्‌भुत, 'अपूर्वनिर्माणक्षमता', 'इहमुत्रफलभोगविराग' वाली विलक्षण 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' दृष्टि के दर्शन होते हैं। वे इसीलिए उपन्यास को 'गप्प' कहते थे। उनके निकट 'प्राचीन भारत के मनोविनोद' और 'नाथ सम्प्रदाय', 'कविसंकेत' और कबीर के 'उलटबाँसी' पद की व्याख्या सब एकाकार, एकरूप, एकान्वित था।

इसके सबसे मनोज्ञ दर्शन उनके ललित निबन्धों में होते हैं, जो मेरी अल्पमति

में, उनकी चरम उपलब्धि थी। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?' 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?', 'आम फिर बौरा गये', 'कुटज' आदि कितने उदाहरण गिनायें ? वे एक ओर संस्कृत की दुर्मिल, अपरिचित सूक्तियों और कवि प्रसिद्धियों की चर्चा करते जाते हैं; साथ-ही-साथ उनका मजाक उड़ाते जाते हैं। उन्हें पता है कि ये सब कपोल-कल्पित, बाल-किशोर-मनोचित मान्यतायें हैं। पर हमारे जीवन में हम जिसे यथार्थ और वास्तव कहते हैं, उसका कितना हिस्सा ये दिवास्वप्न हैं, ये बचपन के 'संस्कार' हैं, ये अवचेतन मन की बद्धमूल मान्यतायें हैं, ये जनमानस के रूढ़ विश्वास हैं। यही तो 'लोक-आलोक' हैं। 'शास्त्राद्रूढिर्बलीयसी'—शास्त्र इनके आगे हार मान जाता है। जो त्रिलोक का स्वामी है, जिसे 'सुर-नर-मुनि ध्यावैं', उसी को 'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं !' यही सत्य है !

मौलिकता

मराठी के (स्वर्गीय) कवि पुरुषोत्तम शिवराम रेगे (तत्र एलफिस्टन कालेज बम्बई के प्रिन्सिपल) एक बार कहने लगे गोपालकृष्ण गोखले एलफिस्टन कालेज के विद्यार्थी थे। सो उनकी शताब्दी पर प्रसिद्ध इतिहासकार न० र० फाटक को व्याख्यान के लिए बुलाया (उनकी 'आदर्श भारत सेवक' नामक गोखले-जीवनी पर साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला है)। उन्होंने और सब बातों के साथ यह भी कहा कि 'गोखले को भरुआँ बैंगन बहुत पसन्द थे।' मैंने कहा, 'यह भी भला कोई बात हुई, जो शताब्दी के समय कही जाये।' रेगे शरारतभरी हँसी हँसकर बोले, 'बड़े आदमियों की सब बड़ी बातें लोग भूल जाते हैं, यह छोटी-छोटी बातें ही याद रह जाती हैं !'

द्विवेदीजी की कितनी ऐसी छोटी-छोटी ऊपर से महत्त्वहीन लगने वाली बातें मुझे याद हैं। 1954 में साहित्य अकादेमी बनी—तब से 1964 तक, वे उसकी हिन्दी परामर्शदात्री समिति के संयोजक, कार्यकारिणी सभा के सदस्य, मन्त्री कृष्णा कृपालानी के आत्मीय, हर सभा में उपस्थित रहकर चुपचाप सबकी बातें सुनने वाले व्यक्ति के नाते मुझे बहुत निकट से परिचित थे। मैं बनारस में भी और चण्डीगढ़ में भी उनसे कई बार मिला। आज उन सबको लिखने बैठें तो बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जायेगा। उनकी औढरदानी वृत्ति के कारण कई अयोग्य व्यक्ति, हिन्दी की उच्च आसन्दियों पर विराजते और सत्ता सेंकते रहे। उन्होंने कई अत्यन्त साधारण शिलाओं को उपाधियाँ देकर उनका 'अहल्योद्धार' कर दिया। कई कमेटियों पर कई ऐसे निर्णय लिए जिनके लिए अब क्या कहें ? इतना ही कहने का जी होता है—'पण्डितजी इतने अधिक कृपालु-दयालु न होते तो बेहतर होता !'

सिद्धि

पर यह सब भौतिक उपलब्धियाँ या दुर्बलताएँ उनकी महत्ता का मानदण्ड नहीं। परसों यहाँ एक महिला पूछ रही थी—उनके उपन्यासों में बार-बार यह 'सिद्धि' और 'अलौकिक चमत्कारी शक्ति' का उल्लेख क्यों आता है? क्या पण्डित व्योमकेश शास्त्री स्वयं कहीं उसमें घोर विश्वास तो नहीं करते थे। ब्राह्म-समाज के संस्थापक देवर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के शिक्षालय ने उन पर एक आवरण चढ़ाया, आचार्य नरेन्द्र देव ने दूसरा और अकादेमी ने तीसरा और कई-कई तरह के आवरण उनकी आत्मा पर ओढ़ाये गये। पर मूलत: नक्षत्रों के अविगत गणित का वह खोजी, बराबर 'सिद्धि' के चक्कर में रहा। तन्त्र, उड्डीयन, गरिमा, अणिमा आदि कितने सारे व्यूह और जन्तर-मन्तर रहे—सारी मध्ययुगीन भारतीय चेतना उसी के आस-पास चक्कर काटती है—हजारी प्रसादजी का मानस कहीं वहीं रमता था। सो 'नवीन' ने उन्हें 'सहस्रार-प्रसाद' कहा। वे उस जादू-टोने की दुनिया से, उस यक्ष-नगरी से अपने आपको दूर खींच ले जाना चाहते थे—कबीर के प्रतिष्ठान-विरोध, विद्रोही स्वर के सहारे—'पर अन्त में यही कहा 'लोग तो काशी आते हैं मरने के लिए। मुझे यहाँ से क्यों ले जा रहे हो।' बाबा विश्वनाथ की यही इच्छा थी। 'कालाय तस्मैन्नम:।'

समीक्षा

प्रेमचंद और खांडेकर

प्रेमचन्द जन्म शताब्दि-वर्ष में अन्य भारतीय भाषाओं के समानधर्मा समकालीन उपन्यासकारों का ध्यान हो आना स्वाभाविक है। बाँग्ला के शरत्‌चंद्र और प्रेमचंद की तुलना अनेक पुस्तकों, लेखों और शोध-ग्रंथों में हुई है। हाल में कलकत्ते में हुए पश्चिम बंगाल सरकार के शताब्दि-उत्सव में एक बँगला समीक्षक ने अपने भाषण में ताराशंकर बैनर्जी और प्रेमचंद के ग्राम-चित्रण की समानता का उल्लेख किया था। तेलुगु में उन्नव लक्ष्मीनारायण, जिन्होंने हरिजन बस्ती 'मालपल्ली' पर उपन्यास लिखा और टी० गोपीचंद से प्रेमचन्द की तुलना एक शोध-ग्रन्थ में हुई है। गांधीवाद से प्रभावित तमिल उपन्यासकार 'कल्कि' और प्रेमचंद की तुलना भी हुई हैं। समाजवाद से प्रभावित पंजाबी उपन्यासकार नानकसिंह और प्रेमचंद पर तुलनात्मक काम हुआ है। परन्तु गुजराती उपन्यासकार झवेरचंद मेघाणी और प्रेमचंद में जैसी समानता है, वैसी ही मलयालम उपन्यासकार तक शिवशंकर पिल्लई और प्रेमचंद के दीन-दुखियों और दलित-असहायों के चित्रण में है। इन पर उन भाषा-भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों ने तुलनात्मक शोध-कार्य कराये हैं। यद्यपि इनमें से कई पुस्तककार प्रकाशित नहीं हुए हैं। इस शताब्दि-वर्ष में ऐसी चौदह पुस्तकें छपनी चाहिए थीं (संस्करण में ऐसा समकालीन उपन्यासकार नहीं है, उसे छोड़कर) जिनमें प्रेमचंद और एक ऐसे ही श्रेष्ठ समकालीन उपन्यासकार की तुलना छपती। चौदह पुस्तकें नहीं तो कम-से-कम चौदह विशेष विद्वानों से लेख लिखवाकर एक उत्तम पुस्तक का प्रकाशन हिन्दी के पाँच सौ व्यावसायिक प्रकाशकों में से कम-से-कम कोई एक कल्पनाशील प्रकाशक करता। पर मेरी जानकारी में ऐसा कुछ नहीं हुआ है।

मैं इसी सिलसिले में, मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार विष्णु सखाराम खांडेकर (1894-1976) की तुलना प्रेमचंद के साथ इस छोटे लेख में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। क्योंकि मैं दोनों को व्यक्तिगत रूप से जानता था, दोनों का मुझ पर बड़ा उपकार था, दोनों ने मैं जब सत्रह-अठारह बरस का था, तब मेरे लेख, मेरी कवितायें, कहानियाँ, समीक्षायें अपने साहित्यिक मासिकों 'हंस' और 'ज्योत्स्ना' में छापीं। मुझे अनेक पत्र लिखकर प्रोत्साहन दिया, और मुझसे अनुवाद करवाया, लेख लिखवाये—साहित्य क्षेत्र में मुझे सामने लाने का दोनों को श्रेय है।

मेरे पास प्रेमचंद का एक दुर्मिल पत्र है। संख्या 1377; 'हंस' कार्यालय बनारस से लिखा हुआ, तिथि 15-9-1935 की है। उस पत्र में दो बार खांडेकर

का उल्लेख है, जो इस प्रकार से है :

"कल तुम्हारे दोनों लेख मिल गये। मैंने श्री खांडे (ल) कर जी की कहानी पढ़ी। वास्तव में बहुत सुन्दर चीज है। हाँ अंत में या तो अनुवाद में कुछ रह गया है या और कोई बात है यमुना में ताज का प्रतिबिम्ब कैसे कुछ और हो गया यह मैं न समझ सका। मगर इस कहानी को छापने के लिए मुझे श्री खांडे (ल) कर जी से अनुमति लेनी पड़ेगी। मुझे उनका ऐड्रेस मालूम नहीं। तुम लिख दो तो मैं उन्हें पत्र लिखूं। यदि वह अनुमति न देंगे तो कैसे छपेगी' ?

"और 'मराठी के तीन उपन्यासकार' मार्मिक आलोचना है। वह मैं अक्टूबर के अंक में दे रहा था। तुम्हें धन्यवाद दूं तो गोया यह मेरा काम होगा, तुम्हारा काम नहीं। इसलिए धन्यवाद न दूँगा। पर तुम्हारी लगन सराहनीय है। दूसरे-तीसरे महीने 'हंस' के लिए कुछ लिख दिया करो। मैं तो समझता हूँ अगर अनुवाद न करके तुम मराठी के अच्छे उपन्यासों की विस्तार से आलोचना कर दिया करोगे तो वह एक चीज हो जायेगी और संभव है पुस्तक बन जाय। मि० फडके, (पु० य०) देशपांडे और खांडे (ल) कर तीनों मास्टरों की सर्वोत्तम कृतियों की आलोचना तीन महीने में कर डालो। इसमें तुम्हें परिश्रम कम करना पड़ेगा और तुम्हारी पढ़ाई में बाधा न पड़ेगी।"

यहाँ इस पत्र के संदर्भ को समझने के लिए दो बातें बतानी होंगी। 'जीवन-कला' प्रेमचंद की एक कहानी थी जिसमें 'जीवन' शब्द के दो अर्थ पानी और जिंदगी पर श्लेष था। उपमा दी गई थी कि यमुना के पानी में जैसे ताजमहल (कला का प्रतीक) का प्रतिबिम्ब घुल-मिल जाता है, वैसे कला और जीवन एकाकार होने चाहिए। दूसरी बात, तब, इन पंक्तियों का लेखक आगरा कालेज, आगरा में एम० ए० (दर्शन) का विद्यार्थी था। अट्ठारह वर्ष की आयु थी और खांडेकर के पत्र 'ज्योत्स्ना' में मेरी कविताएँ और छोटी कहानियाँ मराठी में छपी थीं। तदर्थ मैंने खांडेकर की अनुमति ही नहीं प्राप्त करा दी, 'हंस' में दस साल तक सलाहकारी समिति में उनका नाम मराठी के संपादक के नाते छपता रहा था।

प्रेमचंद और खांडेकर दोनों निम्न मध्यवर्ग में पैदा हुए। दोनों ने मास्टरी की। दोनों ने अपने-अपने ग्रामांचल और किसान जीवन को बहुत नजदीक से और बारीकी से देखा था। दोनों समाज-सुधार (इधर दयानंद, उधर आगरकर-गोखले), बाद में गांधी और अंत में समाजवाद (मार्क्सवाद जो रूसी लेखकों के मार्फत आया) से प्रेरित थे। दोनों स्त्रियों की मुक्ति के बड़े हिमायती थे। दोनों कलम-जीवी रहे और आजीवन आर्थिक दुरवस्था में रहे। दोनों ने विपुल लिखा-सैकड़ों कहानियाँ, दर्जनों उपन्यास। दोनों ने नाटक लिखने का प्रयत्न किया, एक-दो, जो सफल नहीं हुए, मंचित नहीं हुए। दोनों सिनेमा के क्षेत्र की आकर्षित हुए—

अपने आदर्शवाद के कारण दोनों वहाँ से लौट आये—बावजूद बड़े प्रसिद्ध दिग्दर्शक-मित्रों के। दोनों के अनुवाद भारत के अनेक भाषाओं में (मैंने खांडेकर के 'उल्का' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद 1950 में किया) हुए। तमिल में दोनों की रचनायें बहुत अधिक लोकप्रिय हुईं। प्रेमचन्द ने मद्रास यात्रा में लिखा कि 'दक्षिण भारत प्रचार सभा' के जलसे में उन्हें सुनने महिलायें बड़ी संख्या में आईं। सुब्बुलक्ष्मी ने उनके 'सेवासदन' फिल्म के तमिल रूपान्तर में अभिनय किया 1930 में। खांडेकर का आशीर्वाद लेने एक तमिल दम्पति विवाह के बाद, सीधे उनके गाँव पहुँचे। दोनों आजीवन बीमारी से तकलीफ पाते रहे। दुबले-पतले दिलदार, आतिथ्य करने के शौकीन। दोनों पत्रकार बने—बहुत सफल नहीं रहे। पर अनेक युवक-युवतियों को, नये प्रतिभाशाली लेखक-लेखिकाओं को और कलाकारों को आगे लाये, प्रोत्साहन और समर्थन दिया। दोनों ने बड़े-से-बड़े लालच ठुकरा दिये। दोनों ने टालस्टाय, चेखव से प्रेरणा ली। प्रेमचन्द ने 'बोस्तां' का, रूमी का अनुवाद हिन्दी में, और भर्तृहरि पर उर्दू में लेख लिखे। खांडेकर ने खलील जिब्रान के अनुवाद मराठी में किये। दोनों की जीते जी पर्याप्त उपेक्षा हुई, कठोर और कटु आलोचना हुई। यहाँ तक कि ज्ञानपीठ का एक लाख का पुरस्कार मृत्यु से छः माह पहिले 'ययाति' पर मिला। इस पर भी मराठी समालोचकों ने खासी निन्दा की—'ययाति' श्रेष्ठ उपन्यास नहीं है, इस पर बहसें छेड़ी गईं—बेचारे लेखक की 78वीं आयु की सीढ़ी पर! प्रेमचन्द को 'घृणा का प्रचारक' उनकी उम्र के चौवन-पचपनवें वर्ष में कहा-लिखा गया, हमने सुना-पढ़ा है! स्वदेश में इतनी उपेक्षा!!

और विदेश में? 1972 में मास्को की अकादमी नाडख में प्राच्यविद्या संस्थान में चेलीशेव की अध्यक्षता में मैंने भाषण दिया—दीवार पर प्रेमचन्द की विशाल छवि देखी; खांडेकर के बारे में एक रूसी शोध छात्रा ने प्रश्न पूछा—'उनकी आँखों के इलाज के लिए क्या किया जा रहा है'। मैंने खांडेकर की दो छोटी कहानियाँ अंग्रेजी में अनुवाद कर कैलमर को दी थी सन् 1946 में—वे जर्मन में छपीं। पेनिसिल्वानिया युनिवर्सिटी में एक अमेरिकी छात्र खांडेकर पर रिसर्च कर रहा था—बीस साल पहले जब मैं वहाँ था, तब की बात है। 'उल्का' के बांग्ला अनुवाद की एक प्रति स्वयं खांडेकर ने मुझे दी थी 1938-39 में। मैंने पुनः उसकी प्रति ढाका युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में देखी 1973 में।

यह समानता केवल जीवन और लेखन की विशेषताओं में ही नहीं थी। दोनों दृष्टि-भंगिमा में भी यह समानता स्पष्ट है। प्रेमचन्द और खांडेकर के रचना-संसार में कुछ स्थूल रूप में समानतायें यों उभरती हैं:

(1) गाँव और किसान

दोनों की कहानियों और उपन्यासों में ईमानदार पर आर्थिक शोषण के शिकार खेतिहर मजदूर और बिना किसी आशा के जीने वाले भाग्यवादी कृषक परिवार हैं, भूमिहीन हरिजन और बंधुआ मजदूर हैं।

दोनों के यहाँ शोषण करने वाले दुष्ट जमींदार, लोभी पुरोहित, सरकारी कारिन्दे, सूदखोर महाजन और विलासी दुष्चरित्र सामन्त तथा भ्रष्ट पुलिस तन्त्र हैं। इसमें और 'आग में तेल' डालने वाली बातें हैं। गाँव में जाति-प्रथा, आपसी-अदावत और पुश्तैनी दुश्मनी गृह-कलह, अन्ध-विश्वास और सामाजिक पिछड़ापन।

(2) मध्य-वर्ग

निम्न-मध्य-वर्ग के प्रतिनिधि पात्र गाँव-देहात और छोटी कस्बई नौकरियों में जिनकी जड़ें हैं, उनकी समस्याएँ दोनों कथाकारों के प्रमुख विषय रहे हैं। संयुक्त परिवार का विघटन, सामाजिक कुप्रथायें, यथा बाल-विवाह, विधवा-विवाह, दहेज-प्रथा, जात-पाँत से ऊँच-नीच मानने की वृत्ति, मास्टर, मुन्शी, क्लर्क, राजनैतिक और सामाजिक आदर्शवादी-ध्येयवादी कार्यकर्ताओं के जीवन की शोकान्तिका, परिस्थितियों की—विषमताओं से जूझते हुए, लहू-लुहान होते हुए संघर्षशील नायक-नायिकायें; जहाँ से न्याय और इन्साफ मिलने की उम्मीद है वहीं 'दिया तले अँधेरा' यह सब दोनों के उपन्यासों में भरपूर परिमाण में मिलते हैं।

उच्च मध्य वर्ग के चरित्रों का अपने से आर्थिक दर्जे से नीचे के वर्ग के प्रति तिरस्कार और हिकारत; अपने से आर्थिक दृष्टि से ऊँचे वर्ग के प्रति लोभ और खुशामद। उस उच्च वर्ग की झूठी शान और कृत्रिम प्रतिष्ठा के मूल्यों की नकल उतारने की प्रवृत्ति; बदलते हुए नैतिक प्रतिमानों में पश्चिम की फैशन-परस्ती और झूठी भौतिक समृद्धि के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार होने की जात्याभिमानशून्यता; दम्भ और दुचित्तापन; पढ़े-लिखे कहाने वाले लोगों के भीतर का कुंपढ़पन और वहशियत, जाति-अन्धता और सांप्रदायिकता सबका दोनों की लेखनियों ने काफी 'पर्दाफाश' किया है। (मराठी में इसे 'दम्भ-स्फोट' कहते हैं)

(3) उच्च वर्ग

प्रेमचन्द और खांडेकर में यह अमीर वर्ग गाँवों में जमींदार, साहूकार, ताल्लुकेदार (मराठी में मिरासदार, इनामदार, मामलतदार, सावकार) के रूप में आता है। शहरों में वही वर्ग बड़े वकील, डाक्टर, प्रोफेसर, बौद्धिक, सरकारी अफसर, राजनैतिक सत्ता प्राप्त व्यक्ति, नेता, सामाजिक संस्थाएँ चलाने वाले

प्रतिष्ठित लोगों के रूप में आते हैं। दोनों के बारे में यह समीक्षकों की मान्यता है कि गाँव के चित्र जितने नजदीकी, प्रामाणिक और स्वानुभव पर आश्रित हैं; वैसे नगर के पात्र, चरित्र और परिस्थितियों के चित्र नहीं। नगरों के वर्णन में अंग्रेजी में पढ़े उपन्यासों, नाटकों आदि का 'प्रतिन्यास' मिलता है।

इसी का दूसरा पहलू यह है कि जिस उदार समाजवादी लोकतन्त्र या 'डेमोक्रेटिक सोशलिज्म' की बात होती है (प्रेमचन्द ने गाल्ज़वर्दी और बर्नार्ड शॉ के अनुवाद किये; खांडेकर रसेल की बात करते हैं)—उस नेहरूवाद 'वैज्ञानिक मानवतावाद' के प्रति दोनों को बहुत अधिक आकर्षण है। धर्म-निरपेक्षता तक भारतीय जनता की—जो सर्वधर्मसमभाववादी गांधी के जमाने से ही थी—यात्रा शीघ्र होगी ऐसा दोनों को विश्वास है। इसलिए प्रेमचन्द के 'कुछ विचार' और 'विविध प्रसङ्ग'; 'हंस' और 'जागरण' के सम्पादकीय; खांडेकर के लिखे ललित निबन्ध, सामाजिक विषयों पर लेख (आगरकर पर पुस्तक) और विविध 'प्रस्तावनाएँ' (पुस्तकों की भूमिकाएँ) और 'एका पिढ़ीचे आत्मकथन' (वा० रा० ढवले अभिनन्दन ग्रन्थ में उनका मार्मिक लेख-स्वराज्य के बाद के मोहभंग के विषय में) पठनीय हैं। दोनों आदर्शवाद से आरम्भ करके एक प्रकार के स्वप्न-भंग में हैं। दोनों 'समता' के साथ 'ममता' चाहते हैं (यह सन्देश भारतीय ज्ञानपीठ अन्त करते पुरस्कार प्राप्ति के समय खांडेकर ने दिया था)। दोनों को प्रगतिशील आलोचक मान्यता देते हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द पर उत्तम आलोचनाएँ प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, मन्मथनाथ गुप्त, हंसराज 'रहबर', अमृतराय, नामवर सिंह आदि ने लिखीं। मराठी में (स्व०) न० र० फाटक के निर्देशन में 'खांडेकर : जीवन और साहित्य' पर सात सौ पृष्ठों का उत्तम शोध-प्रबन्ध (जो अभी तक अप्रकाशित है) श्रीमती गार्गी सरदेसाई का है। जो कर्वे जी की एस० एन० डी० टी० वीमेन्स युनिवर्सिटी, बम्बई में मराठी की प्राध्यापिका रही हैं।

दोनों के शिल्पगत दोष भी प्रायः एक से हैं। दोनों में गाँव और शहर का बैलेंस बराबरी का नहीं। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने 'दृष्टिकोण' निबन्ध-संग्रह में प्रेमचन्द पर लिखते हुए कहा था कि "जैसे नदी में दोनों किनारों के दृश्य-बराबर प्रतिबिम्बित होते चलते हैं वैसे गाँव जरा करीब से है, शहर दूर पर।" नरोत्तम नागर से राजेन्द्र यादव तक प्रेमचन्द को 'नोन, तेल, लकड़ी का लेखक,' मानने और हिन्दी कहानी उनसे 'हजार कदम आगे निकल आई है' ऐसा कहने वाले लेखक आलोचक हैं। तो पाकिस्तानी लेखक सादिक ने अंग्रेजी में लिखे 'उर्दू साहित्य के इतिहास' (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस) में प्रेमचन्द को कलात्मक लेखकों की कोटि में ही नहीं माना है। खुद प्रेमचन्द लिखते थे—'कभी बंकिम (चन्द्र) मुझे खींचता है, तो कभी आजाद'। उर्दू-हिन्दी नाविल को प्रेमचन्द 'क़िस्सों' से उठाकर आधुनिक युग तक ले आये। एक जर्मन-मूल के अमेरिका में

रहने वाले प्रोफ़ेसर ने प्रेमचन्द में डिकैंस की छाया देखी है—दो शोध-पत्र मेरे पास उन्होंने भेजे हैं। राबर्ट स्वान की 'प्रेमचन्द आफ लमही' में भी यही प्रमेय (थीसिस) है कि प्रेमचन्द गाँव और गांधी के अधिक करीब हैं, मार्क्स और महानगर के कम।

खांडेकर के आलोचकों में भी मैंने वामन मल्हार जोशी के मुँह से सुना था कि 'उनमें उपमा-उत्प्रेक्षा, काव्यात्म भाषा की आतिशबाजी, फुलझड़ियाँ अधिक हैं।' फड़के ने तो खुलेआम सभी आदर्शवादी लेखकों को अकलात्मक माना था। उनकी पीढ़ी के बाद के लेखकों में दिघे, पेंडसे, माडगूलकर, दांडेकर में गाँव का चित्रण अधिक यथार्थवादी ढंग से हुआ। रोमैंटिक पुट उसमें कम होती गई, ऐसा कई समीक्षकों का दावा है। यद्यपि तीसरी पीढ़ी के और 'दलित' लेखक इन सभी लेखकों को 'पाटरपेशा' और 'ब्राह्मणी' (सफेद कालर वाले और उच्चवर्गीय) दृष्टिकोण से दूषित मानते हैं। आनन्द यादव, बाबूराव बागूल और केशव में ग्राम का गाँव और भी अधिक भयानक है। हिन्दी की तुलनात्मक भाषा में कहें तो 'रेणु' और नागार्जुन, रामदरश मिश्र और शिवप्रसाद सिंह के गाँव के बाद जगदीशचन्द्र, गोविन्द मिश्र, श्रीलाल शुक्ल और विवेकीराय के गाँव और अधिक यथार्थ लगते हैं।

प्रेमचन्द और खांडेकर हमारी बीसवीं सदी की भारतीय उपन्यास साहित्य यात्रा के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिशादर्शक दीप-स्तम्भ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

भारतीय भाषाओं में संयोजक तन्तु

मनुष्य को पशु से अलग करने वाली शक्ति है भाषा, और स्वराज्य के इकतीस वर्ष बाद भी हमने उस विषय को यों उलझाकर रखा है कि 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना'। भारत की राष्ट्रभाषा संविधान ने कभी से निश्चित कर दी; उसका स्वरूप भी निश्चित कर दिया था कि वह संस्कृत पर आधारित हिन्दी हो, जिसमें भारत की सभी भाषाओं से शब्द ग्रहण किये जायें। परन्तु यदि इस प्रश्न पर दो वर्ष पूर्व के भारत के विभिन्न राजनीतिक पक्षों की राय या नीति पूछी जाय तो बहुत मनोरंजक उत्तर मिलेंगे : 1. सर्वोदयवादी—हिन्दी-हिन्दुस्तानी (यानी उर्दू), 2. कांग्रेस (प्राचीन)—त्रिभाषा फार्मूला, हिन्दी-अंग्रेजी साथ-साथ चलें; 3. कांग्रेस (इ) दक्षिण भारतीय प्रदेशों में यदि हिन्दी का विरोध है तो अंग्रेजी का ही समर्थन सही, अवसरवादी; 4. समाजवादी (लोहिया)—अंग्रेजी-विरोधी, हिन्दी-समर्थक; 5. जनसंघ—हिन्दी; 6. साम्यवादी (रूस-समर्थक)—जनभाषा

के नाम पर हिन्दी के भी राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी आदि मातृभाषाओं पर आधारित राष्ट्रकों (नेशनैलिटीज) के समर्थक; 7. साम्यवादी (चीन-समर्थक) — हिन्दी-विरोधी, प्रदेश-भाषा-बंगाल में बंगाली या केरल में मलयालम के समर्थक; 8. द्र० मु० कषगम और अन्नाद्रमुक—हिन्दी-विरोधी, केवल तमिल और अंग्रेजी; 9. अकाली-पंजाबी और अंग्रेजी, काश्मीर का शेख पक्ष—हिन्दी उर्दू को समान दर्जा; 10. मुस्लिम लीग—उर्दू को उत्तर प्रदेश की, आंध्रप्रदेश की और कश्मीर की दूसरी भाषा मनवाने पर आग्रह; 11. स्वतन्त्र पार्टी—अंग्रेजी; 12. नागालैंड पीपुल्स पार्टी—अंग्रेजी इत्यादि। राजनीतिक पक्षवादिता से भाषा का प्रश्न कभी सुलझ ही नहीं सकता।

एक ओर हिन्दी-प्रदेश—उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश (प्राय: 44 प्रतिशत जनसंख्या) हिन्दी के पक्ष में दूसरी ओर धुर दक्षिण के राज्य (विशेषत: तमिलनाडु) अपनी भाषा और अंग्रेजी के पक्ष में; शेष कुछ हिन्दी के पक्ष में (जैसे महाराष्ट्र, गुजरात आदि), कुछ आधे-अधूरे पक्ष में। भाषा के प्रश्न पर यों देश में एकात्मकता का अभाव यही दर्शाता है कि भाषा की बात राष्ट्रीयता से हटकर अब रोजी, रोटी, व्यवसाय-विज्ञान, 'अर्थकरी विद्या', भौतिक सुविधा से जुड़ गयी। हम सबके सब 'हिज मास्टर्स वायस' के तवे हो गये हैं मानो। एक तर्क यह दिया जाता है कि सिनेमा की हिन्दी, बाजार हिन्दी (बाजारू ?) तो ठीक है—उसमें उर्दू के शब्द खासे हैं—संस्कृतनिष्ठ हिन्दी सरल नहीं होती, अत: वह त्याज्य है। इस तर्क के उत्तर में कुछ भाषाशास्त्रियों की राय हम देखें।

आचार्य रघुवीर ने 1942 में (द्वितीय परिवर्धित संस्करण) एक पुस्तक लिखी थी 'सबकी बोली, अर्थात् भारतवर्ष की सामान्य भाषा की शब्दावली' इसके प्राक्कथन में वे लिख गये हैं :

"भारतवर्ष के लोगों में एकता का सम्पादन करने के लिए भाषा की समानता बहुत ही आवश्यक है। इसको हमारे देशवासियों ने अच्छी प्रकार से नहीं समझा। इसमें धार्मिक झगड़ों को लाना मूर्खता है।···विदेशी शब्दों का लोगों के ऊपर आरोपण करना राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। यदि बलात्कार से अथवा दुराग्रह से विदेशी शब्दों को स्वदेशी शब्दों का स्थान दिया गया तो अत्याचार होगा और यह यत्न अन्त में जाकर असफल रहेगा। कभी-न-कभी कोई कमाल अतातुर्क अथवा रजा शाह पहलवी के समान वास्तविक राष्ट्रीय नेता स्वदेशी शब्दों को समुचित स्थान देगा।"

"आंगल भाषा विदेशी है। इसका सम्बन्ध-तन्तु भी विदेशी रहेगा और विदेशी सम्बन्ध-तन्तु हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में रुकावट होगा। हम कभी भी आंगल भाषा को अपनी नहीं कह सकेंगे ? इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण जन-समुदाय की

यह भाषा बन नहीं सकती। इसके स्वप्न भी लेना मूर्खता है।···हमारी पीढ़ी के लोग, जिन्होंने अपनी शिक्षा आंगल भाषा में प्राप्त की है, चाहे जो भी समझें, आंगल भाषा का भविष्य भारतवर्ष में बड़ा अंधकारमय है। मुझे निश्चय है आंगल इस देश से प्राय: उड़ ही जायेगी।

"अब हम इस बात का विचार करेंगे कि आंगल भाषा का स्थान भारतवर्ष में किस भाषा को दिया जाये।····प्राकृत जनों की भाषाओं का ध्यान रखते हुए भारतवर्ष के दो विभाग हैं : उत्तरापथ और दक्षिणापथ। किन्तु विद्या शब्दों के लिए भारतवर्ष एक है। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ की भाषायें उच्च विचारों को प्रकट करने के लिए संस्कृत की अक्षय्य विशाल निधि का सहारा लेती है।"

(पृ० 13, 14, 16)

महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की राय हम आगे दे रहे हैं। पर उससे पूर्व संस्कृत की कुछ विशेषताओं को हम ध्यान में रखें। संस्कृत में 'भाष् व्यक्तायां वाचि' सूत्र है। वैसे ही अमरकोश में 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' कहा गया। भाषा हमारे यहाँ केवल व्यवहार की 'फंक्शनल' और 'स्ट्रक्चरल' निर्जीव वस्तु नहीं थी। पाणिनी ने तो भाषा के जादू का यों वर्णन किया :

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया
मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

(आत्मा बुद्धि से संयुक्त होकर अर्थ व्यक्त करने के लिए मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करता है। मन शरीरस्थ अग्नि (वाक्) पर आघात करता है। वह अग्नि वायु को प्रेरित करता है, और वायु उर में संचार कर मंद्र ध्वनि उत्पन्न करता है) इसीलिए वैदिक भाषा को 'छंद' कहा गया। संस्कृत भाषा में प्रतीकात्मकता और 'संस्कार' की महत्ता थी। बुद्ध के समय तक आते-आते संस्कृत के भी उदीच्य, प्राच्य, मध्य देशीय—तीन विभाग हो गये थे। वह लचीली भाषा थी। वह बाणभट्ट के समय की जटिल, क्लिष्ट-श्लिष्ट भाषा ही नहीं थी—उसमें उपनिषदों की सूत्रात्मकता थी; गीतगोविन्द की गेयता थी, तो ब्रह्मसूत्रों की दार्शनिक गहराई, धन्वंतरि और सुश्रुत-चरक की, वराहमिहिर और कौटिल्य की ऐहिक चिन्ता भी थी। संस्कृत में बहुआयामी विविधता थी। और इसे जानने के लिए थोड़ा संस्कृत भाषा का इतिहास देखें।

संस्कृत व्याकरणेतिहास में कितनी सामग्री है! वैसे तो तैत्तिरीय संहिता में (षष्ट 4.7) इन्द्र के पास देवता जाते हैं और वाणी के विभाजन की कथा है। पर संस्कृत व्याकरण का सर्वप्रथम उल्लेख 'गोपथ ब्राह्मण' (1.24) में मिलता है। पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' में कई पूर्वाचार्यों का उल्लेख है, यथा—आपि-शालि, काश्यप, गार्ग्य, मालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, स्फोटायन

आदि। पाणिनि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व हो गये; युवान-च्वांग ने उनकी मूर्ति देखी थी। पाणिनि से पहले निरुक्तकार यास्क हुए। कात्यायन, सुनाग, भारद्वाज, व्याघ्रभूति, वैयाघ्रपद्य ने पाणिनि के ग्रन्थ पर वार्तिकाएँ लिखीं। सबसे बड़ी कात्यायन की 1245 पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिका है, जो पतंजलि के 'महाभाष्य' में समाविष्ट है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में चन्द्राचार्य ने 'महाभाष्य' के अध्ययन का पुनरुज्जीवन किया। इसी क्रम में हैं—कैयट, बारहवीं शती के काश्मीरी भाष्यकार की 'प्रदीप' वृत्ति; नागेश का सत्रहवीं शती में 'प्रदीप' पर भाष्य, जिसे उसने 'उद्योत' कहा है; भर्तृहरि की 'महाभाष्य-दीपिका' जिसका उल्लेख हेलाराज ने त्रिपदी में किया है। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि—इन मुनित्रय के बाद विशेष महत्त्वपूर्ण है—भर्तृहरि की 'महाभाष्य-दीपिका' और 'वाक्यपदीयम' या 'त्रिकांडी' (इसके तीसरे कांड पर काश्मीरी पंडित पुष्यराज की टीका है) वृषभदेव ने 'पद्धति' में इस पर विस्तृत विचार किया है। अष्टाध्यायी पर तो कई वृत्तियाँ हैं: वामन और जयादित्य की 'काशिकावृत्ति'; विमलमति की 'भाग-वृत्ति'; पुरुषोत्तमदेव (16वीं शती) की 'भाषा-वृत्ति' शरणदेव (बौद्ध विद्वान) की 'दुर्घट-वृत्ति' (1172 ईस्वी) अप्पय्य दीक्षित का 'सूत्र-प्रकाश'। ध्यातव्य बात यह है कि पाणिनि ठहरे पेशावर के और उन पर टीका लिखने वाले बौद्ध भी हैं, जैन भी; सनातन धर्मावलम्बी भी। इस धुर उत्तर के वैयाकरण पर भाष्य लिखने वाले आंध्र के रामचन्द्र हैं (प्रक्रिया-कौमुदी) और तमिलनाडु के अप्पय्य दीक्षित। बाद के भट्टोजी दीक्षित, हरि दीक्षित, नागोजी दीक्षित आदि तो प्रसिद्ध हैं ही। संस्कृत व्याकरणेतिहास की इस झलक से पता चलता है कि उत्तर-दक्षिण का भेद संस्कृत-शोध और विद्वत्ता में एकदम व्यर्थ था।

जो बात संस्कृत-व्याकरणकारों के बारे में सही है, वही बात संस्कृत-कोश-कारों के बारे में भी द्रष्टव्य है। निघंटु पर यास्क का 'निरुक्त' (800-700 ईसा पूर्व) और देवराज यज्वन (12वीं शती) का 'निघंटु-निर्वचन'। दुर्गाचार्य और स्कन्दीस्वामी—ये दो नाम ही उत्तर-दक्षिण की एकता दर्शाते हैं, दोनों ने निरुक्त पर भाष्य लिखे। व्याड़ि, काप्य, उत्पल, धन्वंतरि के बारे में कुछ पता नहीं चलता, पर 'अमरकोश'कार अमरसिंह और रभसपाल, शाश्वत, महाक्षपणक, यादवप्रकाश जैसे कोशकारों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। शाश्वत का 'अनेकार्थसमुच्चय' या हरिषेण का 'पर्यायमुक्तावलि' इस बात के प्रमाण हैं कि अभिधानशास्त्र (लेक्सिकोग्राफी) भी हमारे यहाँ कितनी विशेषता प्राप्त कर चुकी थी।

अकेले 'अमरकोश' पर भाष्यकारों के नाम लें तो वे काश्मीर और काशी से लगाकर दक्षिण भारत तक सब स्थानों के होंगे: बौद्ध सुभूतिचन्द्र की 'कामधेनु' (वे शायद बंगाल के सुभूतिपाल थे); काश्मीरी क्षीरस्वामी का 'अमरकोशोद्घाटन' (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध); 'टीका-सर्वस्व', बंगाली सर्वानन्द (1159 ईस्वी);

'अमरकोश-टीका' बंगाली त्रिलोचनदास (12वीं शती); परनन्द (पूर्व बंगाल के, चौदहवीं शती) की 'अमरकोश-माला' बृहस्पति या राय मुकुट की पन्द्रहवीं शती की 'पदचंद्रिका' (राढ़, बंगाल के निवासी), नारायण चक्रवर्ती की 'पदार्थ-कौमुदी' का 'अमरकोश पंजिका' (1618 ईस्वी) और भारतसेन की 'मुग्ध बोधिनी' (1650 से 1680 के बीच) भी बंगाल से ही थी; भानुजी दीक्षित की 'व्याख्या-सुधा' बघेलखण्ड की। महाराष्ट्र के महीधर ने 'अमरकोश-विवेक' सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में लिखा। इसमें कई मराठी शब्द दिये गये हैं—'इति लौकिकभाषायाम्', या 'इति प्रसिद्धम्' के साथ। लिंगभट्ट तेलुगु ब्राह्मण थे जिन्होंने 'अमरकोश पदवृत्ति' लिखी; तंजावूर से प्राप्त पांडुलिपियों के आधार पर आउफ्रेख्ट उन्हें अठारहवीं शती का बताते हैं, पर (स्व०) डॉ० वें० राघवन उन्हें मल्लिनाथ के पूर्व का—1430 ईस्वी का बताते हैं। गोमन्तक के महेश्वर सुखठणकर ने अठारहवीं शती में, 'शिशुबोधिनी' नामक टीका अमरकोश पर लिखी। भारत के चारों कोने—कश्मीर, बंगाल, दक्षिण भारत, गोआ-महाराष्ट्र—यहाँ एक ही कोश पर एक साथ जुट गये हैं। भारतीय एकात्मकता का और कौन-सा उदाहरण चाहिए?

संस्कृत-कोश, कार्य से ही बात चली तो हेमचन्द्र सूरि जैसे जैन की 'अभि-धान चिन्तामणि' और 'अनेकार्थ संग्रह' जैसी पुस्तकें, और बाद में महेश्वर का 'विश्व-प्रकाश', धनंजय का 'नाम-माला', मेदिनीकर का 'मेदिनी कोश', केशव का 'नानार्थार्णव-संक्षेप', महीप का 'अनेकार्थ-तिलक' इरुगप्पदण्डाधिनाथ की 'नानार्थ-रत्न-माला' और अजयपाल का 'अनेकार्थकोश' इस बात का स्मरण कराते हैं कि यह काम न केवल विविध प्रदेशों में बढ़ा, अपितु विविध आयामों में बढ़ा। वनस्पतियों, औषधियों, पशु-पक्षियों के कई नाम कई वर्गों में (यथासुपर्णादि-वर्ग, घृतादि-वर्ग, भूम्यादि-वर्ग, मद्यादि-वर्ग, आदि) और विभागों में व्यवस्थित रूप से विभाजित मिलते हैं। अकेले 'मदन विनोद निघंटु' (1374 ईस्वी) में मदनपाल ने 2,250 श्लोक दिये हैं, जिनमें सारी औषधियों का वर्णन है। जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत एक बन्द मंजूषा रही और उसके शब्दकार कुंद चित्त या संकुचित बुद्धि के थे, उन्हें पता नहीं कि बिहारी कृष्णदास ने 'पारसी प्रकाश', वेदांगराय ने 'पारसी प्रकाश', दलपतिराय ने 'यवन-परिपाटि-अनुक्रम' और रघुनाथ पंडित ने छत्रपति शिवाजी के लिए 'राज्य-व्यवहार-कोश' बनाया, जिसमें फारसी और संस्कृत शब्दों के साथ-साथ प्रचलित लोकभाषा के पर्यायवाची भी हैं।

हमने केवल संस्कृत के व्याकरण और कोश-ग्रन्थों के ही उद्धरण और उदाहरण ऊपर दिये हैं। अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि अनेक लौकिक जीवन के शास्त्रीय अध्ययनों में हमारी आज की भाषाओं में प्रचलित शब्दों के मूल मिल जायेंगे। अभी भारतीय मुद्राओं पर आकाशवाणी कलकत्ता से एक वार्ता के प्रसंग में मुझे खोजने पर पता लगा कि विदेशी शब्द दम्म से दमड़ी बना, और

पणम् भी इसी तरह से आयातित फिनिशिया का शब्द था। सरदार पणिक्कर 'पण्य' वस्तुओं को वहीं से आयातित कहते थे। संस्कृत बाद में जो कुछ बन गयी हो, पहले वह एक खुली भाषा थी : चीन से 'चीनांशुक' बना लिया, यवनों से 'यवनिका' ले ली। वह पुरानी पाचन शक्ति हमें अपनी भाषाओं में पुनः निर्मित करनी होगी। शब्दों को अपनाना, आत्मसात् करना होगा, जैसे सभी जीवंत भाषाएँ करती हैं। आकाशवाणी के संस्कृत समाचारों में कई नये वैज्ञानिक शब्द हम ज्यों के त्यों ले ही रहे हैं। यही स्वस्थ परम्परा है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के आग्रह पर उन्हें तब के साम्यवादी दल ने निष्कासित कर दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जनवरी, 1948 के बम्बई अधिवेशन के अध्यक्ष पद से उन्होंने 'उर्दू के भारतीयकरण' की बात कही थी। उस पर बहुत लम्बा विवाद हुआ। शायद साम्यवादी दल के बौद्धिकों में उस बात पर पुनर्विचार भी किया गया।

"कहीं यह कहकर भड़काया जाता है कि हिन्दी जैसी एक तुच्छ भाषा कैसे सारे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है, राष्ट्रभाषा बनाना है तो बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु जैसी समुन्नत भाषाओं को यह पद दिया जाये। और कहीं पर यह कहते हैं कि क्यों एक राष्ट्रभाषा हो।...उर्दू जिस अरबी लिपि में लिखी जाती है, यदि सुगम होती तो वह तुर्की और मध्य एशिया के देशों से निकाली न जाती। रही उर्दू भाषा, उसका अर्थ है साठ-सत्तर प्रतिशत संस्कृत के तद्भव-तत्सम शब्दों की जगह उससे अधिक परिणाम में अरबी-फारसी शब्दों को स्वीकार करना। यही तद्भव-तत्सम शब्द है, जो भारत की सभी भाषाओं को एक-दूसरे के समीप लाते हैं—बँगला, मराठी, गुजराती, तेलुगु आदि सभी भाषाओं में ये संस्कृत शब्द एक समान मिलते हैं। इन साठ-सत्तर प्रतिशत शब्दों को निकालकर अरबी-फारसी के अपरिचित साठ-सत्तर शब्दों को रखना कौन-सा अविकृत मस्तिष्क ठीक समझ सकता है ?

"नेहरू जी हिन्दी में संस्कृत शब्द ठूंसने की बात कहते हैं। उन्हें मालूम नहीं ठूंसना किसे कहते हैं। मलयालम में 80 और 90 प्रतिशत संस्कृत शब्द मिलते हैं। व्यर्थ ही संस्कृत शब्दों का ठूंसना या तो सस्ती पंडिताई है या भारी अदूरदर्शिता और हठधर्मी का परिचय देना है।...हम पेंसिल को आलेखनी, स्टूल और बेंच को प्रौष्ठ, रेल को धूमयान नहीं बनाना चाहते। किन्तु ऐसे शब्द हमारे परिभाषा-कोश में सौ में नहीं, हजार में एक होंगे। बाकी सारे शब्द सभी प्रांतीय भाषायें संस्कृत से लेंगी। शासन-शब्दकोश तैयार करते समय हमने बँगला, मराठी तथा दूसरी भाषाओं में हुए प्रयत्नों का उपयोग किया। अब अंग्रेजी अपने खोये स्थान को नहीं प्राप्त कर सकती, न इंग्लैंड के बादशाह का सिक्का

यहाँ चलाया जा सकता है।"

(साहित्य निबन्धावलि : राहुल सांकृत्यायन, पृ० 188 और पृ० 201; मई से अगस्त 1948 के वक्तव्य)

भाषा के प्रश्न को लेकर पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' अपने निबंधों में गांधी और नेहरू से उलझ गये थे। लखनऊ से प्रगतिशील लेखक-संघ में हिन्दी को लेकर यशपाल, अमृतलाल नागर और भगवतीचरण वर्मा को उर्दू लेखकों (विशेषत: उन बंबैया लेखकों से जो उर्दू को उत्तर प्रदेश की दूसरी भाषा मनवाने के लिए हठ कर रहे थे, यथा—स्व० कृशन चंदर, साहिर लुधियानवी आदि) से अलग होना पड़ा। उत्तर प्रदेश में ही एक बनारस है, जहाँ कबीर और तुलसीदास, भारतेंदु और राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद, जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचन्द संस्कृतनिष्ठ और उर्दूई शैलियों में लिखते रहे और कभी दोनों में विरोध नहीं हुआ—दोनों बराबर 'सह-अस्तित्व' बनाये रखते रहे; वहीं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एक ही जाति के दो डाक्टर विद्वान विचारों में टकरा गये। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा—"उर्दू हिन्दी की शैली मात्र है"; डॉ० ताराचन्द ने लिखा—"खड़ी बोली हिन्दी-उर्दू में से ही निकाली शैली मात्र है।"

यह सब हिन्दी भाषी प्रदेशों में और विशेषत: उत्तर प्रदेश में ही क्यों होता है? केरल के मुसलमान मलयालम में लिखते हैं (जैसे मुहम्मद बशीर); बंगाल के मुसलमान बंगाली में—और उनमें नजरुल इस्लाम, हुमायूँ, कबीर, सैयद मुज्तबा अली, अबू सईद अय्यूब जैसे श्रेष्ठ नाम हैं; मराठी में अमर शेख, डॉ० यू० म० पठान और हमीद दलवई ने लिखा है—और ऐसे नाम सब प्रांतीय भाषाओं में लिये जा सकते हैं (असमिया में सैयद अब्दुल मलिक, कन्नड़ में निसार अहमद, गुजराती में गनी दहीवाला, आबिद सुरती, गुलाम मुहम्मद शेख आदि), तब हिन्दी से उर्दू की क्यों दुश्मनी हो? आज हिन्दी में एक दर्जन से अधिक उर्दू-भाषी सशक्त लेखक-लेखिकायें हैं: राही मासूम रजा, मुहम्मद 'हुनर' शानी, मेहरुन्निसा परवेज, नईम, इब्राहीम शरीफ (नहीं रहे), इसराएल, शम्सुद्दीन, बशीर एहमद 'मयूख', ए० हमीदुल्ला, सुहैल अजीमाबादी, डॉ० अयूब 'प्रेमी', डॉ० मलिक मुहम्मद, डॉ० गुलाम रसूल, डॉ० माजदा असद, 'बेकल' उत्साही, और भी कई होंगे। मुझे इस समय यही नाम याद आये, सो लिखे। इतने लोगों के होते हुए जो हिन्दी में लिख रहे हैं, और पचासों नागराक्षरों में उर्दू का लिप्यन्तर कर रहे हैं, हिन्दी-उर्दू के भेद की झूठी बात बार-बार अलगाववादी राजनीतिज्ञ क्यों उठाते हैं?

हमें दुःख से कहना पड़ता है कि यह प्रश्न कुछ राजनीतिज्ञों द्वारा अनावश्यक रूप से उलझाया गया है। उसमें उनका न्यस्त स्वार्थ निहित है। मैं सन् इकसठ में अमेरिका से लौटते हुए जेरूसेलम गया था, जोरडन (योरदान) वाले भाग

में; काहिरा भी सात दिन अटक गया था—लौटती हुई विमान-सेवा में हड़ताल थी। तब मैंने अरबी और फारसी के अन्तर को जाना। एक कहवाघर में एक पाकिस्तानी, मुझे उर्दू बोलते देखकर, मेरी शेरवानी से आकृष्ट होकर ले गया। काफी बातें हुईं। मैंने चलते हुए 'खुदा हाफिज' कहा तो वह बोला—यहाँ यह फारसी खुदा नहीं चलता। आप कहिए 'फ़ज़्ले अल्लाह' 'ईश्वर की कृपा' का यह भाषा-भेद मैं तब से नहीं भूला हूँ। इस्लाम सब देशों में एक-सा नहीं है। इस्लामी देशों में भी अन्तर है, जैसे—योरदान में एक होटल में नासिर की 'तकरीर' बूढ़ा नानबाई युवकों को रेडियो पर सुनने नहीं दे रहा था। इस्लाम में भी प्राचीन और नवीन का संघर्ष है, जिसका प्रतिबिंब उर्दू, फारसी, अरबी साहित्यों में पड़ता रहता है। इसलिए वहाँ के सभी शासकों को, या उनकी भाषा-नीतियों को एक बटखरे से तौलना गलत होगा। फरवरी, 1973 में मैं ढाका में सात दिन था, जब मुजीबुर्रहमान वहाँ के प्रमुख नेता थे। उर्दू के प्रश्न को लेकर बांगला देश अलग हुआ था। भाषा देश के लिए जीवन-मरण का प्रश्न कैसे बनती है, यह मैंने बहुत निकट से वहाँ देखा, सुना, जाना।

भारत में भाषा सम्बन्धी विचारों के आधुनिकीकरण के विरोध में एक ओर वे लोग हैं जो संस्कृत को पुनः राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। तब बौद्ध उसे किस तरह ग्रहण करेंगे, यह सोचने की बात है। उनका तर्क है कि इसराएल में हिब्रू (इब्रानी) भाषा का पुनरुज्जीवन हुआ, भारत में क्यों न हो? इसराएल में एक भाषा, एक धर्म-सम्प्रदाय के लोग हैं; उसका आयतन कितना छोटा है! और भारत में न केवल आकार, प्रकार व विविध मत-विश्वासों, अपितु भाषा-उपभाषाओं के कितने सांस्कृतिक स्तर हैं! दूसरी ओर उर्दू को और भी 'सकील' बनाने वाले अदीब और सियासतदाँ हैं। उनके लिए हिन्दी से अधिक निकट अंग्रेजी है। (स्व०) डॉ० वें० राघवन संस्कृत का कार्य अंग्रेजी में करते थे। डॉ० रा० ना० दांडेकर ने भी मराठी से अधिक अंग्रेजी में लिखा है। अरबी संस्कृति और अध्ययन-केन्द्र का मुखपत्र दिल्ली से अंग्रेजी में निकलता है। दिल्ली विश्वविद्यालय के फारसी विभाग के विद्वान् अंग्रेजी में काम करते रहते हैं। यह प्राचीन भारतीय भाषाओं का विदेशी भाषा द्वारा 'उद्धार' कब तक स्वतंत्र भारत में चलता रहेगा।

सैयद सज्जाद हैदर (खुतबये-सदारत, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, 1938 में) फरमाते हैं:

"उन फारसी अल्फाज से, जिन्हें हम फारसी समझकर फारसी में इस्तेमाल करते हैं, अहले ईरान उन पर चौंकते हैं और हमारी हँसी उड़ाते हैं। यानी वे अल्फाज फारसी नहीं हैं। हमने उर्दू में उनको दूसरे मानी दे दिये हैं...। आप उनको अपनी जबान से निकाल दीजिए, यहाँ से निकलकर वह बिल्कुल निघरे

हो जायेंगे; क्योंकि फारसी या अरबी उन मानी में उन्हें कबूल न करेगी।"

यह एक उद्धरण है उर्दू वालों के लिए, जो उर्दू को फारसी-अरबी बनाते जा रहे हैं। इसे कहते हैं मराठी में 'मैके से ही उपहार' (माहेरचा आहेर)।

अन्त में इस हिन्दी-उर्दू-संस्कृत-फारसी चर्चा में मैं अंग्रेजी की बात अवश्य लाना चाहता हूँ। भारतीय भाषाओं में समान तन्तु का काम डेढ़ सौ वर्षों की अंग्रेजी की दासता में तथाकथित अंग्रेजीवादियों ने बहुत निकालना चाहा, वह बात बनी नहीं। डॉ० लोहिया की बात बिल्कुल सच थी कि भारत की प्रगति इसलिए नहीं हो पा रही है कि उसकी योजनायें एक विदेशी भाषा 'अंग्रेजी' में होती हैं। दुर्भाग्य से हमारा भाषा-चिन्तन, सरकारी स्तर पर भाषा-संबंधी संस्थायें, सब अंग्रेजी में काम कर रही हैं। ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' के आगे हम बढ़े ही नहीं। और उसमें आ गये (स्व०) सुनीतिकुमार चैटर्जी, जो उनका बस चलता तो हर बोली और वनवासी-भाषा को भी साहित्य अकादमी से 'साहित्यिक मान्यता' दिलवाकर ही चैन पाते। परिणाम यह है कि अंग्रेजी का आतंक हमारे 'राष्ट्रीय' नेताओं पर भी भरपूर है। अब कुछ समादरणीय नेताओं का नाम लेना पड़ रहा है, विवशता है : श्री मोरारजी देसाई आत्मकथा के तीन खंड अंग्रेजी में लिखते हैं। उनके आदर्श 'बापू' ने 'सत्यनो प्रयोगो' गुजराती में लिखी थी, जिसका महादेव भाई ने अंग्रेजी में अनुवाद किया। चूँकि नेहरू और डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अंग्रेजी में आत्मकथायें लिखीं, 'कृष्णायन' कार द्वारिका प्रसाद मिश्र भी अपनी जीवनी अंग्रेजी में कई खंडों में लिखते हैं। विजयालक्ष्मी पंडित लिखें तो समझ में आता है; उन्हें विदेशी पाठकों का ध्यान भी आकृष्ट करना है। पर हमारे 'खालिस समाजवादी' भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। मधु लिमये विदेश-यात्रा पर लेख अंग्रेजी में 'इलस्ट्रेटेड' में लिखते हैं। साम्यवादी तो ठीक हैं—हीरेन मुखर्जी ने अपने संसद-संस्मरण अंग्रेजी में लिखे तो बँगला में भी आत्मकथा लिखी। नंबूद्रीपाद ने भी मलयालम में लिखा। सोहन सिंह 'जोश' ने पंजाबी में अपनी जीवनी लिखी। पर मधोक जी को या सोंधी जी को अंग्रेजी में लिखने का क्यों मोह हो? स्वदेशी चिन्तन विदेशी परिधान में कब तक? अधिक उदाहरण बढ़ाना ठीक नहीं, पर हिन्दी के बारे में अंग्रेजी लिखने वाली एक महिला, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, श्रीकान्त वर्मा की कविता पर जब अपनी 'एंबेलिश्ड' कमेंटरी देती हैं तो हँसी आये बिना नहीं रहती। मैंने यूरोप में कई भारतीय स्त्रियों को अर्द्ध विदेशी, अर्द्ध भारतीय परिधान और प्रसाधन में देखा है। वे किसे मूर्ख बना रही हैं?

यह मानसिक दासता अब समाप्त हो जानी चाहिए। हिन्दी के लेखक और सेवक को गिड़गिड़ा कर अंग्रेजी में या अन्य भारतीय भाषा में हिन्दी की बात को, 'अपोलोजेटिक' ढंग से प्रस्तुत करने की यह दयनीयता छोड़ देनी चाहिए।

मैं बंगाल में विगत तीन मास से हूँ—देखता हूँ कि हिन्दी भाषी बंगाली से अनावश्यक रूप से आतंकित हैं। व्यावहारिक सुविधा के लिए वह बँगला अपनाये, यहाँ तक तो ठीक है, पर वह अपने आपको सांस्कृतिक हीन ग्रन्थि का शिकार मानता है, अतः, क्या लेखन (कविता, कहानी, उपन्यास) और क्या रंगमंच की नकल उतारना चाहता है। नाटक यहाँ प्रायः बँगला से अनूदित होकर खेले जाते हैं। यानी ब्रेश्ट का भी नाटक मूल जर्मन से छोड़िए—जर्मन से अंग्रेजी, अंग्रेजी से बँगला और तब बँगला से हिन्दी अनुवाद में आता है। ऐसी हमारी आत्म-विश्वासहीनता पर हँसे या रोयें? और बंगाली भाषा हिन्दी-भाषी की इस मनो-ग्रन्थि को बहुत अच्छी प्रकार से जानता है। मैंने कई बंगाली लेखकों से बातें की हैं। वे हिन्दी पढ़ते हैं, उसकी अच्छाई-बुराई जानते हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कार के मूर्धन्य अवर परिषद् के सदस्यों से मेरी बातें हुई हैं। वे अहिन्दी भाषी सदस्य कहते हैं—'हिन्दी' पुरस्कार के मामले में हम कुछ नहीं कहते। उनकी जैसी रुचि है, वे जानें। बंगाली अंग्रेजी से अत्यधिक प्रभावित है—नीरद, चौधरी, षष्ठीव्रत प्रीतीश नंदी—सभी बंगाली हैं। पर रवीन्द्रनाथ ने 'गीतांजलि' का अनुवाद भले ही किया हो, अंग्रेजी में केवल एक कविता लिखी थी—'द चाइल्ड'। अंग्रेजी से अनुवाद भी नहीं किये। कबीर की सौ कवितायें अनूदित कीं। टी० एस० इलियट की एक। माइकेल मधुसूदन और बंकिमचन्द्र पहले अंग्रेजी में लिखते थे—फिर आ गये बंगला में—अपनी मातृभाषा में लिखने लगे। स्वामी विवेकानंद का कार्यक्षेत्र विदेश में था तो व्याख्यान अंग्रेजी में दिये—कविताएँ बँगला में लिखीं।

यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि भारतीय भाषाओं का संयोजक तंतु हिन्दी ही हो सकती है, ऐसा मेरा विगत चालीस वर्षों से साहित्य-क्षेत्र में अनुभव का सार और विश्वास है। मैं हिन्दी किसी पर थोपूँगा नहीं, लादूँगा कभी नहीं। पर उसका योग्य स्थान उसे दूंगा। मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, वह मेरी मातृदेश-भाषा है। वह राष्ट्रभाषा है, यह मैं कभी नहीं भूल सकता। उसका स्थान न अंग्रेजी ले सकती है, न संस्कृत, न कोई एक प्रादेशिक भाषा, यह सूर्य-किरण की भाँति स्पष्ट है।

प्रेमचंद विश्वकोश—सर्वोत्तम उपलब्धि

'प्रेमचंद विश्वकोश' का प्रकाशन भारतीय भाषाओं के इतिहास में एक ऐतिहासिक घटना है। हिंदी-उर्दू के विश्वविख्यात साहित्यकार प्रेमचंद के जीवन एवं साहित्य पर पाँच खंडों की इस योजना के अंतर्गत प्रथम दो खंड प्रकाशित हुए हैं, जिन्हें प्रेमचंद के पाठकों को बार-बार पढ़ना चाहिए। 'प्रेमचंद विश्वकोश' के लेखक एवं संपादक डॉ० कमलकिशोर गोयनका ने विगत एक दशक तक निरंतर कठिन एवं सतर्क परिश्रम करके, इन दो खंडों के लगभग एक हजार पृष्ठों में ज्ञात एवं अज्ञात तथ्यों एवं विवरणों का अंबार लगा दिया है। प्रेमचंद के जीवन एवं साहित्य से संबंधित असंख्य तथ्य ऐसे हैं जो न केवल पहली बार इस विश्वकोश में प्रस्तुत किए गए हैं, बल्कि पहली बार एक स्थान पर एकत्र किए गए हैं। भारत एवं विदेशों के पुस्तकालयों को, जो हिंदी-उर्दू के आधुनिक गद्य साहित्य में रुचि रखते हैं, अपने यहाँ इसे अवश्य ही रखना चाहिए। इसे प्रत्येक शिक्षा-संस्थान को भी अपने पुस्तकालय में रखना चाहिए, क्योंकि यह विश्वकोश प्रेमचंद के जीवन एवं साहित्य का सर्वांगीण एवं प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

'प्रेमचंद विश्वकोश' का प्रथम खंड 'जीवन' खंड है जो प्रेमचंद की जीवनी को तारीखवार, कलैंडर के आधार पर प्रस्तुत करता है। इसमें प्रेमचंद के 56 वर्षों के जीवन को लगभग 1500 तिथियों में बाँधकर जीवन-चर्या, वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ, अध्ययन संसार, प्रमाण-पत्र एवं नियुक्ति-पत्र, आर्थिक-जीवन, यात्रा-विवरण, प्रकाशकों से अनुबंध एवं रायल्टी, बाह्य संसार, रचना-संसार आदि शीर्षकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यह जीवनी अमृतराय की 'प्रेमचंद-कलम का सिपाही' तथा मदन गोपाल की 'मुंशी प्रेमचंद' आदि जीवनियों से पूर्णतः भिन्न प्रकार की है। इस जीवनी में प्रेमचंद के जीवन के उन अनेक पक्षों को पहली बार उद्घाटित किया गया है जो हमें अज्ञात थे अथवा जिनकी बहुत कम जानकारी हमारे पास थी। डॉ० गोयनका ने जिस रूप में प्रेमचंद की जन्म से लेकर मृत्यु तक की जीवनी को प्रस्तुत किया है, वह हिंदी में एक नयी परम्परा का आरम्भ करता है। प्रथम खंड में प्रेमचंद के जीवन के प्राप्य-अप्राप्य फोटोग्राफ तथा विभिन्न महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों के फोटो भी दिये गये हैं जो ग्रंथ को अधिक मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। प्रथम खंड में ही प्रेमचंद की सम्पूर्ण हिंदी-उर्दू रचनाओं की कालक्रमानुसार सूची दी गई है। यह सूची ही डॉ० गोयनका के परिश्रम एवं वैज्ञानिक सूझ-बूझ को स्पष्ट कर

देती है।

'प्रेमचंद विश्वकोश' का दूसरा खंड 'साहित्य' खंड है, जिनमें उनकी सम्पूर्ण हिंदी-उर्दू रचनाओं का अकरादि क्रम से संक्षिप्त सारांश प्रस्तुत किया गया है। इस खंड की महत्ता यह है कि पाठक प्रेमचंद के सम्पूर्ण साहित्य की जानकारी एक ही ग्रंथ से प्राप्त कर लेता है और उसे उनकी लगभग 70 पुस्तकों के प्रथम संस्करणों के आवरण पृष्ठों को देखने का भी सुख प्राप्त होता है। सम्भवतः यह पहला अवसर है जब हिंदी में प्रथम संस्करणों का महत्त्व समझा गया है। डॉ० गोयनका ने जिस लगन एवं धैर्य से प्रथम संस्करणों के फोटोग्राफ प्राप्त किये हैं, वह प्रशंसनीय है। इस खंड में भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में प्रेमचंद की रचनाओं के अनुवादों की भी सूची दी गई है। इस सूची से स्पष्ट है कि रूसी भाषाओं में उनकी रचनाओं के सबसे अधिक अनुवाद हुए हैं।

प्रेमचंद के जन्म-शताब्दी वर्ष, 1980 में देश-विदेश में प्रेमचंद पर अनेक सम्मेलन एवं गोष्ठियाँ आयोजित की गईं। डॉ० गोयनका ने भी मारिशस में प्रेमचंद पर एक प्रदर्शनी लगाई थी जिसका उद्घाटन वहाँ के तत्कालीन प्रधानमंत्री डॉ० शिवसागर रामगुलाम ने किया था। इसके साथ हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं की अनेक पत्रिकाओं ने प्रेमचंद विशेषांक भी प्रकाशित किये तथा प्रेमचंद पर लिखे निबन्धों के संकलन भी छपे, किन्तु यह 'प्रेमचंद विश्वकोश' ही इस शताब्दी वर्ष की सबसे अधिक ठोस, महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोत्तम उपलब्धि है। डॉ० गोयनका की अपने अनुष्ठान के प्रति निष्ठा, समर्पण एवं ईमानदारी की कोई तुलना नहीं है। डॉ० गोयनका एक युवक हैं जिन्होंने अपने जीवन के बेहतरीन दस वर्ष इस विश्वकोश को लिखने एवं सम्पादन करने में व्यतीत किये हैं। इस विश्वकोश के अन्य तीन खंड अभी प्रकाशित होने हैं।

देश में प्रेमचंद के सम्बन्ध में यह एक विवाद का विषय है कि वे आर्य समाजी थे, समाजवादी अथवा साम्यवादी थे। इस विश्वकोश के द्वितीय खंड में इस सम्बन्ध में कुछ तथ्य दिये गये हैं। 'जागरण' में प्रकाशित 'कम्युनिज्म' से सम्बन्धित तीन टिप्पणियाँ कालक्रमानुसार प्रस्तुत की गई हैं—

भारत में लाल साहित्य—28 अगस्त, 1933 लाल साहित्य के प्रकाशन पर सरकार ने प्रतिबन्ध लगाया है, पर लाल साहित्य किसे माना जाय, इस सम्बन्ध में सरकार की नीति अस्पष्ट है। (पृ० 286)

नादिरशाह की हत्या—13 नवम्बर, 1933 इस हत्या से यह सिद्ध हो गया है कि काबुल सभ्यता और प्रगतिशीलता में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि कम्युनिज्म ने उधर कदम बढ़ाया हो। (पृ० 216)

हवा का रुख—29 जनवरी, 1938 केम्ब्रिज में अब साहित्य और कविता के स्थान पर कम्युनिज्म का ज्यादा असर है। समय कम्युनिज्म के पक्ष में है

जो वर्तमान स्वार्थी, संकीर्ण सामाजिक और राजनीतिक संगठन से मुक्ति की राह है। साम्यवाद का विरोध वही करता है जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है जो दूसरों को अपने अधीन रखना चाहता है। (पृ० 453-54)

प्रेमचंद लगभग इसी समय बम्बई गये और वहाँ वामपंथी विचारधारा से प्रभावित उर्दू लेखकों के सम्पर्क में आये, लेकिन मराठी की पाक्षिक पत्रिका, 'प्रतिभा' में (अब स्वर्गीय) श्रीपाद रामचन्द्र टिक्केकर कालिया का इण्टरव्यू छपा तब प्रेमचंद ने कहा, 'मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ।' वे जमींदारों और मिल-मालिकों द्वारा किये जाने वाले किसानों और मजदूरों के शोषण को समाप्त करना चाहते थे लेकिन वे हिंसक साधनों के समर्थक नहीं थे।

साहित्य के गम्भीर अध्येता अनेक प्रकार की अन्य प्रामाणिक जानकारी इस विश्वकोश से प्राप्त कर सकते हैं। इसके प्रथम खंड से प्रेमचंद की जो तस्वीर निर्मित होती है, वह एक आदर्श महापुरुष अथवा हीरो की नहीं है, बल्कि वह एक मनुष्य, एक साधारण मनुष्य एवं कर्मशील प्राणी के रूप में उभरती है। प्रेमचंद प्रचार से बचने वाले, कर्मशील एवं सिद्धान्तों के पक्के व्यक्ति थे। डॉ० गोयनका ने अनेक तथ्यों को शिवरानी देवी, अमृतराय तथा मदन गोपाल की जीवन-सम्बन्धी पुस्तकों से प्रमाणित करके प्रस्तुत किये हैं, लेकिन असंख्य ऐसे तथ्य हैं जो प्रेमचंद की जीवनी के बारे में नया ज्ञान जोड़ते हैं और पाठक की जानकारी को विकसित करते हैं। डॉ० गोयनका ने अपने जिस अध्यवसाय, वैज्ञानिक दृष्टि, कर्मनिष्ठता एवं धैर्य से इस विशाल एवं विस्मयकारी कार्य को सम्पन्न किया है, उसके लिए उन्हें साधुवाद मिलना चाहिए।

प्रेमचंद हिंदी और उर्दू, गांधीवाद और समाजवाद तथा परम्परा एवं आधुनिकता के बीच सेतु का काम करने वाले एक महान् साहित्यकार थे। इस अमर लेखक की स्मृति में 'प्रेमचंद अकादमी' जैसा कोई राष्ट्रीय स्मारक निर्मित होना चाहिए। प्रेमचंद का यह राष्ट्रीय स्मारक जब भी निर्मित होगा, डॉ० गोयनका का यह 'प्रेमचंद विश्वकोश' अकेले व्यक्ति की अग्रगामी, ऐतिहासिक, सर्जनात्मक एवं चिरस्थायी श्रद्धांजलि के रूप में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

'तार-सप्तक'-1 से 'वक्तव्य'

यहाँ पर अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में, न तो भावुकताजन्य आत्मसमर्थन से भरी और न ही स्व-मताग्रह से पाठकों को पूर्वदूषित करने के तथाकथित बुद्धि-वादी ढंग की कैफ़ियत मैं देना चाहता हूँ। कविता और पाठक के बीच में सीधा भाव-विनिमय होने के पक्ष में मैं हूँ; इन दोनों के बीच में व्यक्ति कवि को लाना मैं अवांछित और अप्रस्तुत समझता हूँ। अतः 'अपनी' कविताओं के विषय में मौन रहकर जब कवितामात्र पर, कविता नामक जातिबोधक संज्ञा पर (भाववाचक संज्ञा पर नहीं, क्योंकि अधिकांश भाववाचक शब्द अभावसूचक ही होते हैं) मुखर होने का विचार करता हूँ तब काव्यरचना के आदि-कारण और अन्तिम-हेतु के सम्बन्ध में भी कोई सर्व सामान्य नियम बनाना मुझे तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। कला की अपनी स्वयं-निर्णीत तर्क-पद्धति होती है। इसलिए रचना की प्रक्रिया पर ही कुछ कहा जा सकता है: वस्तु-विषय, व्यंजना आदि पर।

कवितागत रोमांस और यथार्थ, एक ही कोण की दो भुजाएँ हैं। रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्मक रुख़ है, यथार्थ उसी की बुद्धिगत परिकल्पना। कोल-रिज का एक बहुत अर्थपूर्ण कथन है कि "गहरी भावनाएँ गहरे विचार की कोख से जनमती हैं।" आज हिन्दी कविता में रोमांस के छिछले और गँदले हो जाने के कारण यथार्थ पर अधिक जोर दिया जा रहा है। वह अंशतः आवश्यक और इष्ट भी है। पर यही स्थिति क्या सदा के लिए रहेगी? युग की वाणी जैसे ग़रीबों पर निरे निष्क्रिय आँसू बहाकर या बूर्जुआ को दस-पाँच गाली देकर समाप्त नहीं हो जाती, वैसे ही युग-युग की वाणी भी मर्मियों का भाषा का विवेकशून्य अनुकरण कर, अप्रस्तुत अलंकार-योजना से ही पूरी नहीं होती। असल में काल के मानदण्ड से वाणी का यह वर्गीकरण ही ग़लत है। 'साहित्य में अमरता' इस शब्द में ही एक मुग़ालता है, एक अनैतिहासिकता छिपी हुई है। कविता इतिहास की जननी न होकर, पुत्री है।

व्यक्तिगत अनुभव के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो अत्यधिक सामाजिक आशय से गर्भित रहते हैं। उनमें मानव और प्रकृति, प्रकृति और संस्कृति के सतत संघर्ष के गति-चित्र का ऐसा अंशांकन होता है कि उसकी पुनरावृत्ति असम्भव है। कवितागत मौलिकता का अर्थ वही अंशांकन है। वह अंशांकन है, सामाजिक परिपार्श्व में व्यक्ति की मानसिक प्रभाव-प्रक्रिया, वेदना-संवेदना, प्रगति-अ-गति आदि का प्रामाणिक बिम्ब-चित्रण। इन्हीं नाना भाव-विचार संवेदना-मिश्रित 'विशेषों' को ज्यों का त्यों व्यक्त करने के कारण, एक बार अपनी कविताओं की

'चित्रकला से एक शब्द उधार लेकर 'इम्प्रेशनिस्ट' अथवा 'बिम्बवादी' शब्द से मैंने विशेषित किया था। सम्भव है कि मुझमें का चित्रकार मुझमें के कवि पर तब हावी हो रहा हो। सम्भव है किसलर, सेज़ान, गोया, डी रेवेरा की चित्र-शैली-गत वर्ण-योजना, रिल्के, एलियट, लॉरेंस, स्पेंडर, सेंसिल डे लुइस और ऑडेन की पद्य रचनागत वर्ण-योजना से टक्कर न खाती हो। परन्तु चूँकि मैं 'विशेष' को 'साधारण' से अविच्छिन्न और अविभाज्य मानता हूँ, एक ओर जहाँ 'स्वान्तःसुखाय' को स्वरति कहने में मैं नहीं हिचकता, दूसरी ओर त्रॉत्स्की के 'कला हथौड़ा है'—वाले नारे से भी सहमत नहीं होना चाहता। मैं यह भी मानने के लिए तैयार हूँ कि 'बिम्बवाद' ही कविता नहीं है, अगर आप यह मानें कि 'बिम्बवाद' भी कविता है।

आधुनिक हिन्दी कविता में आत्म-रति, मृत्यु-प्रेम और संकेतों से स्वप्न-पूर्ति करने की आदत के कारण घोर अनिश्चय, ये तीन दोष (मनोविज्ञान की शब्दा-वली में ऑटो-एरोटिज़्म, नेक्रोफ़िलिया और एब्रूलिया) इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का एक मानसिक रोग है। दोनों में स्मृतियों की प्रच्छन्न और अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक त्रास (फ़ायड की भाषा में एर्साट्ज़बिल्डुंग और फ़्लोटिएरेंडे आंग्स्ट) दिखाई देते हैं। अतः एक तरुण, स्वस्थमना कवि के लिए छायावाद का माध्यम स्थविर, स्त्रैण और जीर्ण जान पड़ता है।

पेण्डुलम प्रतिक्रिया से जिस प्रकार दूसरा छोर पकड़ लेता है, ऐतिहासिक जड़वाद के अध्ययन से और भारतीय राजनैतिक क्षितिज के धूमसंकुल हो जाने से, नये कवियों ने छायावाद तजकर प्रगतिवाद को अपनाया। अपनी प्रारम्भिक अव्यवस्था में यह अपरिपक्व और नाम का ही प्रगतिवाद है। उसकी जड़ें जीवन में धँसी हुई न होने से, जो स्फूर्ति वह पाता है वह एक बुद्धिजीवी, ऊर्ध्वमूल, सीमित वर्ग से ही है (जो कि अधुना चौतरफ़ा फ़्रस्ट्रेशन का शिकार है)। फलतः प्रगतिवाद में एक अनावश्यक प्रदर्शनप्रियता दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाला औद्धत्य की सीमा तक पहुँचने वाला पर-पीड़न प्रेम और प्रचार के विद्रूप कुनैन पर कला का शर्करावरण पहनाने की या राजनैतिक पक्ष-विशेष का 'माइक' कविता को बनाने की प्रवृत्ति आदि दोष रह गये हैं। वे सब धीरे-धीरे मिट जायेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इन दोषों के बावजूद भी हिन्दी कविता के भविष्य के विषय में आशावाद के लिए बहुत गुंजाइश है।

इन दो वादों को छोड़, हिन्दी कविता में एक समय की बहुत लोकप्रिय बनी हुई राष्ट्रीयतावाद की लहर अब धीमे-धीमे मन्द पड़ती जा रही है, क्योंकि छाया-वाद और प्रगतिवाद दोनों के समन्वय (?)-जन्य दोष उसमें इकट्ठे आ गये हैं, क्योंकि वे प्रगति को छाया समझते हैं और छाया को ही प्रगति। इस प्रकार वस्तु

की दृष्टि से हिन्दी कविता में अभी विषयों की विविधता, व्यंग्य का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, जन-जीवन के निकटतम जाकर ग्राम-गीत, लोक-गाथा और बाज़ारू कहलायी जाकर हेय मानी जाने वाली बहुत सशक्त और मुहावरेदार ज़बान से नये-नये शब्द-रूपों और कल्पना-चित्रों को ग्रहण करना और प्रयोगशील अभिव्यंजना के प्रति औदार्य आना चाहिए।

व्यंजना की दृष्टि से भाषा, कल्पना और छन्द पर दो शब्द कहूँ : कवितागत भाषा को भावानुकूल अदलने-बदलने का पूरा अधिकार होना ही चाहिए। ज्यों-ज्यों कविता की भाषा अधिकाधिक आम जनता की भाषा बनती चलेगी, उसमें प्रादेशिक शब्द अधिक आयेंगे, और यह इष्ट ही होगा। मगर शब्दों की अभिधामूला लक्षण की अपेक्षा व्यंजना-शक्ति पर मेरी अधिक श्रद्धा है। शब्दों के लिखने में भी कई ध्वनियों को हिन्दी लिपि नहीं लिख सकती। (यह शिकायत चौदह वर्ष पहले 'कविता-कौमुदी' के सम्पादक ने पाँचवें भाग की भूमिका में की थी) इसके लिए जैसे साधारण स्वरोच्चार के दीर्घीकरण के लिए अवग्रह हैं, अर्धोच्चार या द्रुतोच्चार के लिए भी चिह्न आवश्यक हैं। मराठी में चूँकि बँगला की तरह ह्रस्व को दीर्घ पढ़ सकने की सुविधा है, आधुनिक मुक्त-छन्द में अक्षर-छन्दों का प्रयोग सहजता से जहाँ होता है, ऐसे चिह्नों का उपयोग करते हैं। 'निराला', 'नवीन' और नरेन्द्र शर्मा का आदर्श, भाषा के सम्बन्ध में, मैं मानता हूँ, चूँकि तीनों ने इस दृष्टि से काफ़ी प्रयोग किये हैं—रोमैण्टिक, रियलिस्टिक और क्लासिकल तीनों शैलियों में।

हमारे यहाँ सूझ और कल्पना को कविजन, और आलोचक भी, प्रायः पर्यायवाची मान लेते हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक कहेंगे कि यह बात सच नहीं है। कल्पना वैसे तो अनेक प्रकार की हो सकती है, जिसमें से काव्य में तीन तरह की कल्पना पायी जाती है—पुनर्निर्माणात्मक, रचनात्मक, मौलिक। अन्तिम यानी नवोन्मेष से विस्फूर्जित और उत्सेकित कल्पना की हिन्दी कविता में कमी है। उसके लिए हमें अपना अलंकार-विधान आमूल बदलना होगा, उपमान माँजने होंगे, रूपकों की क़लई खोलनी होगी, उत्प्रेक्षाएँ सचमुच भाव के उत्स से उत्प्रेरित हैं या नहीं यह देखना होगा। हमारी कविता में पाये जाने वाले अधिकांश कल्पना-चित्र या बिम्ब (इमेज) बच्चों के-से निरे शाब्दिक, सहस्मृत या परम्परागत होते हैं। इन शाब्दिक, साहचर्यात्मक और पारम्परिक बिम्बों की बजाय हमें राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रिय, आवेगाश्रित और अभिजात बिम्बों की सृष्टि करना है। हमारे अलंकार अधिक वैज्ञानिक, आधुनिक और वैशेषिक हों अन्यथा निरे अलंकार-सांख्य से निरलंकार काव्यरचना बेहतर है।

छन्दोरचना के विषय में हमें नव-नवीन प्रयोग अपनाने होंगे। अन्य भाषाओं

के छन्द भी हम लें। 'निराला' द्वारा हिन्दी में लायी गयी मुक्त, विषमचरणा-वर्तिनी, अतुकान्त अक्षर-मात्रिक छन्द पर आश्रित तालात्मक पद्यरचना-पद्धति श्रेयस्कर है। उसमें भावों के उतार-चढ़ाव के अनुकूल गति के श्लथ-द्रुत होने की सम्भावना यदि हो सके, और गेयता अधिक और गद्यात्मकता कम आ सके तो और अच्छा। अन्तर्गत प्रास-योजना सहज हो; वह शब्दनिष्ठ न होकर अर्थनिष्ठ हो। जहाँ एक ओर लम्बे-लम्बे कथा काव्य मसनवी और पोवाडे के ढंग पर लिखे जायें वहीं गीतों की ओर से हम एकदम निराश न हो जायें (चूँकि अब तो हिन्दी में बिलकुल संगीतानुकूल न होने वाली रचना पर भी 'गीत', यह गोलमोल शीर्षक देने का फ़ैशन चल पड़ा है) 'गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?'

उपर्युक्त विवेचना से मेरा कदापि यह आशय नहीं है कि मेरी रचनाएँ जो इस संग्रह में हैं, वे सब मेरे इस 'फ़तवे' की सब शर्तों को पूरी करने वाली या उन-उन काव्य-दोषों से पूर्णतः अलिप्त हैं। इस प्रकार दोषों की स्वीकृति हमें उत्तरोत्तर बल देती है, और आत्मालोचन तो बुद्धियुक्त होने का प्रथम लक्षण है। सामाजिक मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन के हरक्यूलियन कष्टसाध्य कार्य में एक अवश्यम्भावी शर्त है आत्मविश्वास; यदि किसी को आत्मविश्वास भी अहन्ता जान पड़े तो उसका क्या इलाज ? मुझे कहने दीजिए कि वह आत्म-प्रकटीकरण की एक समर्थनीय और क्षम्य अपरिहार्यता है।

'शब्द रेखा' से

'कलम, कूँची, क्षणालेख...'

पीछे मुड़कर देखता हूँ तो बहुत बचपन से मैं व्यक्ति चित्र (शबीह, पॉट्रेट) या क्षणालेख (स्केच) रेखाओं में, जल और तैल दोनों रंगों में बनाता आ रहा हूँ। अक्षरशः जैसे हज़ारों रेखाचित्र अब तक बनाये होंगे, हज़ारों कविताएँ भी लिखी गईं; न सब सँभालकर रखीं, न सब छपीं। कई तो बाँट दिए, कई कालान्तर से नष्ट हो गये, कई फाड़कर फेंक दिए।

चित्रकला की थोड़ी-बहुत ट्रेनिंग इन्दौर स्कूल ऑफ आर्ट में गुरु देवलालीकर से ली थी—सन् उन्नीस सौ तीस और चौंतीस के बीच मैंने एक मालवी किसान का (लाल पगड़ी और हरे बैकग्राउण्ड वाले) पॉट्रेट तैल रंगों में बनाया था। कैनेडियन मिशनरी प्रोफेसर ने उसे खरीदा। वह क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर की स्टाफ-रूम की दीवार पर वर्षों तक टँगा हुआ था। बाद में वह किसी कबाड़-खाने में चला गया।

मैंने एक बूढ़े राजपूत का पॉट्रेट बनाया था। लखनऊ के क्रांतिकारी यशपाल

उज्जैन आये थे वह उन्हें उपहार दिया था। कई वर्षों तक वह उनके 'विप्लव' कार्यालय वाले घर की दीवार पर था। पर यों अपने चित्रों की सूची देने लगूँगा तो पूरी किताब भर जायेगी और उसे पढ़कर आपको क्या मिलेगा ? देश-विदेश में कई जगह मेरे बनाये रेखाचित्र कई घरों में सुरक्षित हैं। यही क्या सन्तोष है ? ऐसे चित्रों में एक छोटा स्केच कमलकान्त बुधकर के पहले बच्चे सौरभ का है, जो हरिद्वार में उनके घर में है।

मुझे वे लोग बिल्कुल पसन्द नहीं आते जो कहते हैं—मेरा चित्र बनाओ ! मेरी इच्छा होती है, उसका चित्र बनाता हूँ। नहीं इच्छा होती तो नहीं बनाता। कभी-कभी कहीं-कहीं कुछ छप भी गये हैं। यहाँ जो कुछ बड़े आदमियों, लेखकों, कवियों, कलाकारों, समीक्षकों आदि के हस्ताक्षर सहित रेखाचित्र जमा हैं, वे मेरे विशाल संग्रह में से कुछ चुनी हुई चीजों की बानगी है।

चूँकि हर वक्त मैं अपने साथ कोई स्केच बुक या स्केचिंग पेन लेकर नहीं चलता (डॉ० जगदीश गुप्त का कहना है कि मुझे ऐसा करना चाहिए) चाहे जिस कागज पर, चाहे जिस साधन से, चाहे जहाँ बनाए हुए ये चित्र हैं। सो उनका साफ ब्लाक बनने में भी दिक्कत रही है। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के 'मार्च ऑफ इंडिया' में कुछ छपे। कुछ सदानंद भटकल की प्रकाशन पत्रिका का (जो पाप्युलर प्रकाशन, बम्बई से निकलती है) फ्रंकफुर्ट पुस्तक मेले के समय, विशेषांक निकला, जिसमें मैंने "भारत के सौ श्रेष्ठ लेखक, सौ श्रेष्ठ पुस्तकें" लेख लिखा था, उसमें कई छपे। कई पत्र-पत्रिकाओं में। हिन्दी में हंस, आरती, विशाल भारत, ज्ञानोदय, धर्मयुग, सैनिक, तीर्थंकर, दिनमान, साप्ताहिक हिंदुस्तान, नई दुनिया, नवलेखन आदि में; विदेशों में अॅडम (लन्दन) में का० ना० सुब्रह्मण्यम का व्यंग्य चित्र छपा; सोवियत नारी, प्लूमॅक (बलगारिया) आदि याद आ रहे हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में मातृभूमि, मलयाली मनोरमा (केरल), सह्याद्रि (मराठी) आदि में भी छपे हैं। कुछ रेखाचित्र पुस्तकों में भी छपे हैं। कुछ व्यंगचित्र भी (जैसे स्व० भारतभूषण अग्रवाल के 'कागज के फूल' तुक्तक संग्रह का चित्रांकन)।

पहले मैंने सोचा था कि मैं इन्हें अकारादिक्रम से क्रमबद्ध करूँ पर बाद में ऐतिहासिक काल क्रम से, जैसे-जैसे, जहाँ-जहाँ तारीखें स्केचों पर मिलीं, मैंने उन्हें तरतीब से, सिलसिलेवार लगाया है। मेरी रेखाचित्रण शक्ति के विकास का भी क्रम उससे मिलेगा।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसी पुस्तक की क्या आवश्यकता थी ? क्या केवल इसलिए कि यह भी लोग जानें कि इन पंक्तियों के लेखक ने इन विभूतियों से साक्षात्कार किया ? उन्हें निकट से देखा और उनके चित्र भी बनाये। उनसे हस्ताक्षर भी लिए। गांधी और नेहरू के काफी निकट मैं रहा, पर उनके

रेखाचित्र बनाने की कभी हिम्मत ही नहीं हुई। वही बात अन्य कई महान लेखकों-कलाकारों की है। राहुल जी का स्केच मैंने नहीं बनाया इसका अफ़सोस है। 'निराला' का जरूर बनाया, जिस पर उन्होंने अंग्रेजी में लिखकर दिया—'संगम' के 'निराला' अंक में वह कवर पर छपा था। दूसरा साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपा था उन्हीं के अंग्रेजी अक्षरों सहित। ऐसे कई स्नेही मित्र और वरिष्ठ आदरणीय अब नहीं रहे—उनकी रेखा रही न चित्र। मन में ज़रूर वे अंकित हैं।

अब तो मनुष्य का शब्द भी 'टेपित' हो जाता है, फीता-बद्ध बनाकर रख लिया जा सकता है। पचास बरस पहले, जब हम 'शब्द' केवल सुनते थे, ऐसी कोई सुविधा नहीं थी। माखनलाल चतुर्वेदी या मदन मोहन मालवीय का भाषण जिसने सुना हो, वह अपने आप में एक हिन्दी गद्य की गंगा में निमज्जन करने का अद्‌भुत अनुभव था। अब बहुत थोड़े वैसे वक्ता रहे हैं—हजारीप्रसाद जी थे। कि महादेवी हैं, नई पीढ़ी तो प्रायः निश्शब्द है। वाग्जाल फैलाने वाले प्राध्यापक प्राणी बहुत हैं, पर वह उत्स्फूर्त, प्रेरणादायी भाषण-कला नहीं। यह तो क्लासरूम में बोले, बड़े क्लास में बोल लिए, ऐसा मैकेनिकल मुहावरा है। राजनीतिज्ञों में मैंने सुभाष बोस को सुना था, मैंने राजा जी को सुना था। कैसे-कैसे वक्ता थे—तब लोग दहाड़ते थे, या मोती बरसाते थे। एक-एक शब्द जड़ा हुआ, चुना हुआ। एक भी शब्द व्यर्थ नहीं। अब का-सा मामला नहीं था। अब तो संसद में भी वक्तृत्व-कला गिरती जा रही है। मंच पर तो केवल मजमेबाज जम रहे हैं। राजनीति का अखाड़ा हास्यरस का कवि सम्मेलन हो गया है। शब्द का ऐसा अवमूल्यन; और दूसरी ओर शब्द-शास्त्र पर इतनी बारीकी से चर्चा एक साथ अन्य किसी युग में नहीं हुई होगी। यह बात भारत के लिए या हिन्दी प्रदेशों के लिए ही नहीं है, विश्व-भर का यही रोना या सन्नाटा है।

शाब्दिकों की इस मुक्केबाजी में, रेखाओं की भी बुरी दशा हो गई है—भला का हो अमूर्त चित्रकला का—ड्राइंग आना जरूरी नहीं, कला-समीक्षक बनते जा रहे हैं। अमूर्त शब्दों में अमूर्ततर चित्रों का मूर्त रूपांकन। या तो कलाकार समझें या उनके कला समीक्षक! 'आप लिखें खुदा बांचे'। पुराने जमाने में चित्र 'लिखे' जाते थे। पोथी चित्रित होती थी। कवि के घर में भी चित्रफलक रखना अनिवार्य था, काव्य मीमांसाकार राजशेखर कविचर्या में कह गये। चित्र-वृत्ति सूत्र लिखे जाते थे। रेखा और शब्द दोनों में लय और ध्वनि समान रूप से आवश्यक थी। सारी 'सृष्टि' के मूल में छन्द था। रवीन्द्रनाथ कहते थे—'नीदी में भी छन्द है।' एक तरह का अनुशासन था—आत्मानुशासन। आज यह सब कुछ कहना, यह भाषा ही मानो किसी पुरानी सदी का अज्ञात लिपि का शिलालेख पढ़ने-लिखने के बराबर है। क्या अब लोग इतने अनपढ़ हो गये हैं? 'श्रुति स्मृति पुराणोक्त' उनके लिए अर्थ शून्य शब्द हैं।

रेखा-रेखा के बीच में बहुत-सा छूट जाता है। बहुत-सा 'दिक्' (स्पेस) खाली रहता है। शब्द-शब्द के बीच में भी बहुत-सा मौन नीरव, शब्दहीन होता है। आज उसका मूल्य-मापन होने लगा है : दर्शन में, भाषा-विज्ञान में, कला-समीक्षा में, शब्द की गहनता उस निश्शब्द की सघनता और निबिड़ता पर निर्भर है। रेखा की कसावट या पैनापन उस खाली जमीन पर अवलम्बित है, जिसे छोटा या बड़ा करने का वह रेखा यत्न करती है। ध्वनि हृत्स्पंद है—ध्वन्यातीत वह है जो श्रवण के जीवन से पहले भी था और मत्यु के बाद भी रहेगा। रेखा दिग्बन्ध है (या दिगानुबंध है) पर रेखातीत वह है जो दृष्टि से परे था और होगा। श्रवण से पहले मनन, दर्शन से पहले आकलन। इंद्रियों के संवेदना और अनुबोध से पहले केवल अस्तित्व।

'शब्द-रेखा' नाम उस दिन विश्व पुस्तक मेले से लौटते हुए गाड़ी में प्रकाशक और प्रकाशक से मिलाने वाले कमलकांत बुधकर ने मिलकर सुझाया। उसी तरह मैंने एक कवर बनाया : लेखक बोलते हुए, लेखक लिखते हुए और बीच में केवल लेखक (कुछ न करते हुए)। वैसे मेरे मत से अधिकांश लेखक आँख और कान के बीच—'श्रवणक पथ दुहुंलोचन गेल' की वयस्संधि में ही उलझे रहते हैं—यानी सुनी-सुनाई को देखी-दिखाई, और कबिरा की 'आँखिन की देखी' को 'किताब की लेखी' बनाने में उलझे हुए लोग। 'श्रवण नयनमय, नयन श्रवणमय···'

मैं कब स्केच बनाना शुरू करता हूँ? जब किसी मीटिंग या सेमिनार में मैं 'बोरियत' मिटाने के लिए, या फिर किसी विशिष्ट व्यक्ति की विशिष्ट आकृति से प्रभावित होकर, या फिर समय काटने के लिए। वह मेरी 'हॉबी' है। मैंने इसकी बाक़ायदा शिक्षा बहुत कम ली। पर आदत बड़ी चीज है—"करत-करत अभ्यास के ··" यह सुजान इसी तरह जड़ मति बन गया।

इन रेखाचित्रों के साथ कुछ इबारत भी मैंने लिखी है—अत्यन्त आत्मीय। मेरा इरादा महापुरुषों का जीवन चरित्र देने का नहीं है—सब जानते हैं कि डॉ० राजेन्द्र प्रसाद या डॉ० राधाकृष्णन् या मौलाना आजाद या जयप्रकाश नारायण कौन हैं—मैं केवल उस बात का इशारा करना चाहता हूँ कि मैंने स्केच कहाँ, क्यों बनाया। और उनके जीवन का या कार्य का एक सांकेतिक मानवीय क्षण—कभी विनोदी, कभी सहृदयतापूर्ण, कभी मेरी समझ में आया हुआ, कभी न आया हुआ पक्ष। इसलिए ये केवल रेखाचित्र नहीं हैं, ये शब्दचित्र भी हैं। उनमें कुछ सहज भाव से ऐसा कुछ आ गया है, जिसे सहृदयजन 'साहित्यगुण' कहते हैं। वैसे हृदयहीन आलोचक इसे भी आत्म-विज्ञापन का एक और ढंग या निरा स्याही का अपव्यय ही मानेंगे। जाकी रही भावना जैसी, यह पुस्तक देखी तिन तैसी···"

कुछ शब्द-चित्र व्यंग चित्रात्मक शैली में हैं—यानी उनमें जानबूझ कर कुछ बातों को उभार कर दिखाया गया है। यानी व्यंग का अर्थ ही है गुण से अधिक

कुछ विचित्रता दर्शाना, बल्कि संकेत से उन बातों पर जोर देना, जिन्हें अमूनन लोग देखते नहीं। मेरे ललित निबन्ध, रेखाचित्र, यात्रा वर्णन आदि ख़ाके जिन लोगों ने पढ़े होंगे, उनमें मैं व्यंग का पुट देता रहता हूँ। कविताओं में भी—यानी जानबूझकर 'तुक्कड़पन' भिड़ाकर। इस कारण से मुझे ठीक से कई लोग समझ नहीं पाये हैं। चलिए, उनके लिए, एक और किताब सही—सोचते रहें, किस विधा में इसे रखें? चित्र-गद्य में, या ललित संस्मरण में या रेखाचित्र में—जो रखना चाहें। पाठक, जो सर्वसाधारण आनन्द के लिए पुस्तक खरीदते हैं, उन्हें कुछ जरूर पठनीय, थोड़ा संग्रहणीय, पुनः पठनीय मिल जाये, तो मुझे सन्तोष होगा।

हमारे यहाँ प्राचीन मान्यता में 'शब्द' प्रमाण है। 'शब्द' दिया लिया जाता है। रेखाएँ तो उभरती मिटती रहती हैं। हस्त रेखाएँ भी बदलती हैं शायद। श्रुति और कण्ठ का उद्गार है। रेखा हाथ की उँगलियों और आँखों की सृष्टि। यानी कान और आँख के बीच में कहीं यह किताब, चार अंगुल प्रमाण; पड़ रही है। जो पढ़ना चाहें पढ़ें, जो देखना चाहें सिर्फ देखें—जो दोनों करना चाहें, और भी अच्छा—अधिकस्यम्धिकम् फलम्।

पुनः मेरे तरुण मित्र कमलकांत का आभारी हूँ कि वे 'विभूती' प्रकाशन को इस तरह के प्रकाशन के प्रयोग पर राजी कर गये। हिन्दी के रसग्य पाठक का मुझे भरोसा है। प्रोफेसर नाक-भौं चढ़ाते (चिढ़ाते?) रहें; समीक्षक नाराज होते रहें, अपनी कलम और कूँची न रुकी है; न रुकेगी। शब्द और रेखा यहाँ परस्पर-पूरक हैं। ये न 'शबद' हैं, न 'रेखा' ही हैं। शब्दों की निराकारिता को यह आकार वाली रेखाओं का आवरण हैं। मूर्त-अमूर्त का यों संयोजन हैं। 'सीमार माझे असीम तूमि···'

'विसंगति' की 'भूमिका'

सन् '37 में मैं आगरा कॉलेज में एम-ए० (दर्शन) में पढ़ता था। तब 'सैनिक' साप्ताहिक के संपादक 'अज्ञेय' ने मेरी एक कहानी-नुमा रचना 'विसंगति' छापी। उस तरह के लेखन को बाद में रांगेय राघव आदि ने 'रिपोर्ताज' कहा। आज मेरे पास उसकी प्रति नहीं। परन्तु उसमें एक सड़क और उस पर जाने वाले जुलूस का वर्णन था। राजनैतिक जुलूस पर जनसाधारण की प्रतिक्रियाएँ वर्णित थीं। उस कहानी को पढ़कर श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुझे 'सिनिक' कहा। मैं दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी था। तो पन्द्रह पृष्ठों का एक पत्र लिखकर मैंने 'सिनिसिज्म' का पूरा इतिहास देकर चतुर्वेदी जी का खंडन किया। उन्होंने

दयापूर्वक एक पोस्टकार्ड लिखा—"वी शैल अंडरस्टैण्ड ईच अदर बेटर ह्वेन दि क्लाउड्स विल रोल अवे।" सबसे मज़े की बात यह है कि दो-तीन वर्ष पूर्व बनारसीदासजी ने वह मेरा अपना लिखा पत्र मेरे पास सुरक्षित वापिस भेज दिया। ऐसे-ऐसे भी बड़े लोग होते हैं।

हमारे जीवन में बड़ी विसंगतियाँ रही हैं। शायद हर एक लेखक के जीवन में होती होंगी। कई उन्हें चुपचाप पी जाते हैं। कुछ 'साहित्यिक सन्निपात' में उन्हें परिणत कर देते हैं। जब मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए राहुलजी के साथ 1948 में 'शासन शब्द-कोश' बना रहा था, तब शब्दों और अर्थों के साथ जूझते-जूझते, यह विसंगतियाँ मन को और मथने लगीं। हम कहते क्या हैं, करते क्या हैं? शायद इसीलिए कहते हैं कि कर कुछ नहीं पाते; या इसीलिए कर बैठते हैं, चूँकि कह नहीं पाते।

इन सब चक्करों या पेंचों की मनोवैज्ञानिक-समाजवैज्ञानिक मीमांसा करने का यह अवसर नहीं। मैंने कुछ कविताएँ भी लिखी थीं और 'स्वप्न-भंग' नाम से मेरा एक सानेट-संग्रह साहित्य भवन, इलाहाबाद ने सन् 1954 के करीब छापा था। सन् '50 में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अपने 'नीलाभ प्रकाशन' से मेरा ऐसे ही विसंगतिपूर्ण निबन्धों का संग्रह 'खरगोश के सींग' छापा था। सन् '54 में उसका शायद दूसरा संस्करण भी हुआ। अब ये सब पुस्तकें दुर्लभ या दुर्मिल हैं: 'शासन शब्द-कोश', 'स्वप्न-भंग' या 'खरगोश के सींग' भी। मेरे पास भी इनकी प्रतियाँ नहीं हैं। 'साहित्य' के बाढ़-जैसे अरराते-घहराते प्रवाह में हमारी ये सीपें, ये घोंघे कभी के बह गये हैं—वे जिन्होंने कभी उन्हें पढ़ा होगा, उनकी स्मृति में शायद किसी क्षण वे रही हों—शेष इतिहास की वस्तु हो गयीं। "कौन रोता है तेरे 'अश्क' के सर होने तक" ज़रा ग़ालिब साहब से मुआफी माँगकर पैरोडिया रहा हूँ। हम ऐसी चीजों पर 'अश्क' नहीं बहाने बैठते।

फिर मेरा एक और संग्रह छपा—'बैरंग'। दिल्ली के किसी पंजाबी प्रकाशक ने छापा, जो अब अस्तित्व में नहीं। शायद दो सौ रुपये एडवांस दे गया था, या नहीं, याद नहीं। कई लेख ले गया। जल्दी में गलत-सलत छाप डाले। हम हिन्दी में व्यंग्य-निबन्ध लेखक 'प्रतिष्ठित' हो गये—जो भी उसका अर्थ हो। 'खरगोश के सींग' की भूमिका आदरणीय पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखी थी। 'अश्क' ने तब हमें सर्टीफिकेट दिया था कि हम 'ब्रिलियंट नानसेन्स' लिखते रहे हैं। 'बैरंग' की एकाध प्रति कहीं से जुगाड़ कर तीन साल पहले नीलाभ ('अश्क' जी के पुत्र) को दी—पर उस पुस्तक के भी भाग्य में पुनर्मुद्रण नहीं था। वह 'बैरंग' लौट आई।

फिर 'भारतीय ज्ञानपीठ' वालों ने हमारा एक और मूड़ी का ठोंगा (यानी गद्य-पद्य मिश्रित) छापा—'तेल की पकौड़ियाँ', 1963 में। मैंने 'निराला' जी

की कविता से शीर्षक लिया था। इतना भी कई अध-कचरे अध-पढ़े पाठक नहीं जानते थे। एक हिन्दी के एम० ए० प्राध्यापक (?) ने कहा—"माचवेजी ने 'भाँग की पकौड़ियाँ' नामक एक घोर अश्लील पुस्तक लिखी है।"

चलो प्रमोशन हुआ। 'तेल की पकौड़ियाँ' के दो संस्करण हुए। अगर एक-एक संस्करण एक हज़ार का भी माना जाये तो 'खरगोश के सींग' के दो, 'तेल की पकौड़ियाँ' के दो, 'बैरंग' का एक—कुल पाँच हज़ार खरीदार (सभी खरीदार पाठक नहीं होते; कई लाइब्रेरियाँ खरीदार हो जाती हैं। उनकी आलमारियों में वे पुस्तकें बंद हो जाती हैं। शायद दो ही चार पाठक पढ़ते हैं) या पाठक हमारी इस 'विधा' के रहे होंगे, ऐसी खुशफ़हमी में मैं हूँ। वाचस्पति 'पाठक' की आत्मा स्वर्ग में हँसेगी।

दो-तीन साल पहले फिर दिमाग में यह 'सुरसुरी' (खुजली के अर्थ में मराठी का मुहावरा) छूटी—और अखबारों की रद्दी-सद्दी, उपेक्षित या 'बाक्स' वाली खबरों को आधार बनाकर मैंने लेख लिखने शुरू किये। 'धर्मयुग' के संपादक जी ने 'खबरनामा' उस पर शीर्षक चस्पा कर दिया। कई पत्र-पत्रिकाओं के 'रविवासरीय' परिशिष्टों में, साप्ताहिकों में; मासिकों में भी ये सब छपे हैं। इन में सब तरह की चटपटी, चाट-मसाला युक्त सामग्री है। राजनैतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-साहित्यिक सभी विषयों पर इनमें व्यंग्य-परिहास युक्त लेख हैं!

नाम मैंने इनका 'विसंगति' यों रखा कि ऊपर से तो ये निरर्थक, ऊल-जलूल, ऊटपटाँग, 'एब्सर्ड' लग सकते हैं। पर समझदार पाठक के लिए इनके भीतर काफी 'नया रस' मिलेगा। यह 'नया' रस कौन-सा है? जो पुराने नव-रस के चौखटे में पूरी तरह से अँटता नहीं। कई बार हँसते-हँसते रोना आ जाता है, रोते-रोते हँसना। जीवन में आज कोई भी अनुभूति 'शुद्ध' नहीं रही वह 'व्यामिश्र' है। हमारे मित्र जो स्वयम् जन्मना मिश्र हैं ('नागार्जुन' वैद्यनाथ मिश्र हैं), और जिन पर हमने एक संकलन-पुस्तक में भूमिका भी लिखी है—किसी ज़माने में कहते भये थे— 'मिश्रित संस्कृति, मिश्रित विचार'! यह 'मिश्र बंधुओं' के बाद वाली 'मिसरी' या 'मिसरा' है। मैं यात्री जी की उस 'अबाउट टर्न' यात्रा की बात नहीं कर रहा हूँ कि 'आयाराम-गयाराम' के ढंग से वे जेल में "आये भी वो, गये भी वो··· फसाना रह गया।" अब तो उन पर कविता लिखने की तबीयत होती है—

"नागार्जुन क्या हुआ, क्या हुआ आपको?
पुरस्कार मार लिया, बबोरा मन स्ताप को!"

इसी को महामुनि 'अज्ञेय' ने 'लिख-लिखकर अपने को झूठा करता जाता हूँ', कहा है। आप्त वचन हैं। दोनों साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता ठहरे। सुमन, शमशेर और त्रिलोचन भी। बेचारे नागार्जुन बाबा ने कौन-सा अपराध

किया है ? सभी 'भूतपूर्व' क्रान्तिकारी अपने अगस्त (अंग्रेजी 'ऑगस्ट' = शुभ) इतिहास को भुना रहे हैं। जब सुमित्रानंदन पंत 'परिवार-नियोजन' के लिए कविता लिख सकते हैं; जब बच्चनजी सिनेमा में गीत लिख सकते हैं, तो सरस्वती (मृत पत्रिका नहीं) को इन सब महाकवियों से यह पूछने का अधिकार नहीं है क्या—

"मेरे अँगने में तेरा क्या काम है ?"

मैंने दो पीढ़ी के बुज़ुर्ग और मिडिल-(उम्र) ची और नौसिखुए इतने सारे लेखक, कवि, साहित्यकार, पत्रकार (प्रकाशक, संपादक, संस्थाबाज) आदि, केवल हिन्दी में ही नहीं—भारत की समस्त मान्य (पश्चात्-मान्य) भाषाओं के भी—इतनी निकटता से देखे हैं कि मेरे मन से उन सबके प्रति श्रद्धा, आदर, दूर से रहने से संभ्रम, रोमैंटिक आकर्षण आदि-आदि भावनाएँ कभी की पिघल चुकी हैं, उनकी भाफ बन चुकी है। शेष बचा है ठोस सत्य—"फावड़े को फावड़ा कहो !"

एक दिन गुजराती के वरिष्ठ गांधीवादी कवि उमाशंकर जोशी ने मुझसे कहा—"तुममें यह निरादर (इर्रेवेरेन्स) की भावना कुछ ज्यादह ही है।" मैं कुछ बोला नहीं। जब उन्होंने कविता लिखी थी—"म्हने मुरदानी बू आवै" तब उनके मन में क्या था ? हर पीढ़ी का ऐसा भ्रम-भंग होता रहता है—कभी जल्दी, कभी देर से ?

इधर अमृतराय पर एक पुस्तक बन रही है। उसमें उनके व्यंग्य-निबन्धों पर मैंने एक लेख लिखा है। 'लोकप्रिय कवि : नागार्जुन' की भूमिका; और डॉ० श्यामसुन्दर घोष संपादित 'व्यंग्य क्या ? व्यंग्य क्यों ?' में मेरा एक लेख है—ये सब मिलाकर पढ़ें तो जो मेरी 'दृष्टि' जानना चाहते हैं, हिन्दी या भारतीय साहित्य के हास्य-व्यंग्य पर, वे जान लेंगे। शुद्ध परिहास या व्यंग्य जैसा विनोद शर्मा (श्री नारायण चतुर्वेदी) या 'भ्रमरानंद' या (स्व०) राधाकृष्ण या के० पी० सक्सेना लिखते हैं, वैसे शैलीकार कम हैं। मराठी में मैंने ऐसे एक दर्जन से ऊपर व्यंग्य-विनोद के लेखक पढ़े हैं। अंग्रेजी में उससे भी दुगुनी संख्या में। जब तक हम अपने आप पर खुलकर हँस नहीं सकेंगे, हमारी प्रगति नहीं होगी। इसी कारण से आप देखिये हिन्दी की संस्थाएँ, हिन्दी के विश्वविद्यालयीन मठ और पीठ, हिन्दी के तथाकथित जगउद्धारक लोग कैसी छद्म गम्भीर मुद्रा में, विलष्ट भाषा में, कैसी 'बोरियत' लिखते रहते हैं। यह राष्ट्रभाषा में राष्ट्रीय कागज, राष्ट्रीय स्याही, राष्ट्रीय श्रम और राष्ट्रीय धन का कितना बड़ा अपव्यय हो रहा है—किसी ने कभी सोचा है ?

हमारा राष्ट्र ही ऐसी विसंगतियों से भरा है। एक ओर हम धर्म-निरपेक्षता का दावा करते हैं, हमारे राष्ट्रीय पुरुष और स्त्रियाँ, नेता आदि अनेक बाबाओं, स्वामियों, महर्षियों, 'आनंदों', स्वयंभू भगवानों के आगे-पीछे दौड़ते रहते हैं। हम

समाजवाद की बात करते हैं, और देश में पूँजीवाद की जड़ें जमती जाती हैं। हम शुद्ध आचरण और भ्रष्टाचार-निर्मूलन के लम्बे-चौड़े भाषण सुनते हैं और प्रत्यक्ष जीवन में क्षण-क्षण पर इतने भ्रष्ट होते जाते हैं, और उसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन देते हैं कि एक ने नया दोहा सुनाया—मूल 'बिहारी' में शब्द 'चित्त' है, उसे 'वित्त' कर दिया गया है—

या अनुरागी 'वित्त' की
गति ना जाने कोय
ज्यों-ज्यों डूबै स्याम-रँग,
त्यौं-त्यौं उज्ज्वल होय

इसमें 'स्याम' 'वित्त' उर्फ 'कृष्ण-धन' का चमत्कार देखिये ! मैंने अपने ढंग से इस दंभस्फोट, पोल खोलना या ढोंग के पर्दाफाश में अपने कमलरूपी नश्तर का प्रयोग किया है। ना जाने 'टोपी' किस-किसको 'फिट' बैठ जाये, कितनी दाढ़ियों में तिनके निकल आयें, कितने दुखी हों, यह समझकर कि उन्हीं पर लिखा है—पर मैंने आधार सर्वत्र 'प्रवृत्ति' रखी है; व्यक्ति नहीं। व्यक्ति-नाम तो केवल संकेत, इंगित, प्रतीक, ध्वनि के बतौर हैं। जो बुरा मानें उनसे अग्रिम क्षमा-याचना कर लेता हूँ।

'संगतिसंग दोषेण सतीच मति विभ्रमः'—इसलिए मैंने 'संतन ढिग बैठ-बैठ लोकलाज खोई' के अन्दाज़ में—किताबों की संगत से ज्यादह सीखा है, साजिदों की कम। अक्सर लेखों के शीर्षक संस्कृत में हैं—इसलिए नहीं कि मैं कोई संस्कृत का पंडित हूँ। पर महज़ इसलिए कि उससे 'अप'—संस्कृति, आज के 'डिकेडेंट कल्चर' में ऐसे संस्कृत सु-वचन सोने में सुहागे का काम करते हैं। वे 'तुर्रा यह कि' वाले तेवर में हैं। फिर झूठा रोब भी डालने को मिल जाता है कि हम सु-'संस्कृत' हैं !

आपसे यानी पाठकों से क्या छिपाऊँ ? अब इस छियासठ वाली उम्र में गम्भीरता से पढ़ता हूँ सो केवल अखबार है। उसमें पहले पृष्ठ से आखिरी पृष्ठ तक विसंगति-ही-विसंगति भरी मिलती है। फैशन के विरोध में लेख के साथ ही फैशन के प्रसाधनों के विज्ञापन; हिन्दी के पक्ष में लेख, 'स्पीक रैपिडली इंगलिश' का बड़ा विज्ञापन, मानो हमारा हर कदम, हर साँस, हर शब्द इसी सारे अन्तर-विरोध से भरा हुआ है, कूट कूटकर। मैंने उसी को कहा है—'विसंगति'।

मेरा दावा नहीं है कि ये मेरे लेख सब अमर (?) साहित्य की कृतियाँ हैं। न मेरा यह भी उच्च-रव है कि मैं दुनिया को अपने लिखने से बदल दूँगा, या क्रान्ति मचा दूँगा, या सबको नैतिक बनाकर छोड़ूँगा, आदि-आदि। मैं अच्छी तरह जानता हूँ, वह लेखक जो अपनी जिन्दगी में अपने आपको ही नहीं सुधार सका, वह सारे समाज को क्या सुधारेगा ? जिसका अपने ऊपर नियंत्रण नहीं, वह दुनिया

के किस हिस्से पर शासन-अनुशासन चला सकेगा ? जो बड़बोले ऐसा दावा करते हैं, जो उस खुशफहमी में हैं—उन्हें मुबारकवाद। हम उन्हें अपने हाल पर छोड़ दें। हमारे देखते-देखते गये चालीस बरसों में ऐसे कई बड़े-बड़े डींग हाँकने वाले, अपनी असली ज़ात पर आ गये। भूतपूर्व सर्वोदयी अब अमरीका में शराब बेचते हैं, और भूतपूर्व बोलशेविक अब कबाड़ी या पंसारी की दुकान लगाये बैठे हैं। इसलिए हमारा तो यह मानना है कि आदमी से बढ़कर जल्दी फिसलने वाली (स्लिपरी) कोई चीज़ नहीं है।

मैं केवल इतनी-सी विनती करता हूँ कि इस किताब के सफों पर से आपकी नज़र उचटती हुई न पड़े। आप इसे प्रेमपूर्वक पढ़ें। अच्छी लगे किताब तो एक पोस्टकार्ड मुझे भी डाल दें। बुरी लगे और नहीं चाहते हो तो न लिखें। और कुछ सुधार चाहें तो वह भी लिखें। अगर खुदा और प्रकाशक ने चाहा तो वह नौबत भी शीघ्र आ जायेगी—यानी दूसरे संस्करण में हम और कुछ सुधार भी कर सकेंगे।

एक विसंगति यह है कि ऐसी ऊल-जलूल किताब ऐसे प्रतिष्ठान से छप रही है, जहाँ से कभी छायावाद के धुरंधर लोगों की बड़ी प्रसिद्ध किताबें छपी थीं। कहाँ 'कामायनी', कहाँ 'दीपशिखा', कहाँ 'पल्लव', कहाँ 'अनामिका'—और अब हमारी यह टुटरूँ टूँ खिलौना-किताब ! अपना-अपना भाग्य है, अपने-अपने 'भाग्य-विधाता !!'

इस किताब में हर लेख के ऊपर छोटे-छोटे व्यंग्य-रेखाचित्र हैं। वे भी इसी कलम से बने हैं। 'खरगोश के सींग' में भी बने थे—पर मेरा नाम कहीं नहीं दिया गया था। 'शब्द रेखा' नाम की मेरी एक किताब छपी है। (विभूति प्रकाशन, के-14, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से) उसमें मेरे बनाये कई बड़े-बड़े लोगों के हस्ताक्षर-सहित रेखाचित्र हैं और उन पर एक-एक पृष्ठ कुछ 'देखता चला गया' अंदाज़ से इबारत भी। टिप्पणी भी।

मेरे उसी प्रकाशक के छापे नवीनतम चौदहवें उपन्यास 'आँखें मेरी बाकी उनका' में बहुत व्यंग्य है। काफी तिलमिलाने वाला, राजनैतिक भी। पर मेरी शिकायत यही है कि अभी तक मेरी रचनाओं को गंभीरता से पढ़ने वाला 'पाठक' ही नहीं मिला। पाठक नाम के एक हमारे सहपाठी थे, सो तो कभी के रिटायर होकर स्वर्ग भी पहुँच चुके। अब जो बचे हैं वे (उठा-) पाटक ही अधिक हैं। या 'कीलोत्पाटी' वानर की जात के 'पा-ठक' ! सुधी पाठक जानते होंगे कि हिन्दी शब्द 'ठग' संस्कृत 'ठक' से बना है।

हैमलेट में आता है 'देअर इज़ ए मेथड इन दिस मैडनैस'—इस विसंगति में भी एक 'संगति' छिपी है। गम्भीर लेखों का संग्रह, यही प्रकाशक 'संगति' नाम से छापने जा रहे हैं। हमारे लेखन-व्यक्तित्व को समझने के लिए ये दोनों पक्ष

एक साथ पढ़े जायें तो अच्छा हो।

शायद ब्रह्म ने जब 'सृष्टि' की तभी पहली विसंगति निर्मित हुई। सत्य ने मिथ्या क्यों पैदा की? 9 नवम्बर 1940 को (मेरा विवाह एक दिन पहले सेवाग्राम में बापूजी ने करवाया था) मैं सेवाग्राम से वर्धा जमनालाल बजाज की गाड़ी में सपत्नीक जा रहा था—बजाजवाड़ी में हमें दावत थी। मोटर में बैठे थे (स्व०) आचार्य कृपालानी जी। उन्होंने पूछा—"तुम क्या करते हो?" मैं तब माधव कॉलेज, उज्जैन में लेक्चरर था। बोला—"मैं लाजिक (तर्कशास्त्र) पढ़ाता हूँ।" वे ज़ोर से हँसे (वे भी दर्शन के प्रोफेसर थे कभी)—"तुमने सबसे 'इल्लाजिकल' (अतर्कसंगत) बात की!"

आज भी मुझे वह याद आता है—सारी विसंगतियों में मैं जो टूटा नहीं, बिखरा नहीं, विक्षिप्त नहीं हुआ, स्मृति भ्रष्ट नहीं हुआ—तो मेरा 'संगिनी' के कारण—उन्हीं को मैं यह पुस्तक अर्पित कर रहा हूँ। वे ही बार-बार मेरे स्वभाव पर अंकुश लगाती रहीं—अन्यथा वह दिन दूर नहीं था। जब हम भी अपने आदरणीय प्रिय गुरुओं 'निराला', राहुल, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', आदि का मार्ग-अनुसरण करते नज़र आते! साथी मुक्तिबोध और रांगेय राघव, हमसे उम्र में छोटे राजकमल चौधरी और 'धूमिल' ऐसे ही 'विक्षेपों' में गये। आज तन और मन में विसंगति है, तन और धन में है, मन और धन में है। सर्वत्र विराट प्रमाण पर 'एँ-सिमेट्री' और 'डिसोनेन्स' है। इसी विद्रूप और स्वर-ताल-भ्रंश का यह छोटा-सा आलेख है—इन छोटे-छोटे लेखों में।

पं० उदयनारायण तिवारी जी का आभारी हूँ कि उन्होंने इस तरुण प्रकाशक बुद्धिसेन शर्मा को मेरे पास भेजा। मैंने उन्हें काफी तंग किया। पर उन्होंने बुद्धि से काम लिया। और मेरी सारी 'विसंगतियाँ' सहन कीं व सेहेजीं; और अब यह किताब आपके सामने है। जैसी भी बन पड़ी है, आप चखें और बतायें। मेरा काम तो सिर्फ रसोईघर तक था। 'कूँजड़ा अपने बेर खट्टे नहीं बताता', न 'हलवाई अपनी मिठाई खाता है।' 'कवि करोति काव्यानि······'

एक तेलुगु संत कवि से किसी ने पूछा—तुम्हारी कविता कैसी है? वह बोला, वह मेरी बेटी है। उसका गुण दामाद जानता है, न कि मैं।

'निज कवित्त केहि लाग न नीका'। हम तो विप्र नहीं केवल 'गुन-ज्ञान-विहीन' हैं।

परिशिष्ट

प्रभाकर माचवे : जीवन परिचय

1917	26 दिसम्बर को ग्वालियर में जन्म
1930	दरबार हाई स्कूल, रतलाम से मैट्रिक और हिन्दी विशारद
1934	क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर से बी० ए०
1934	प्रथम कविता 'कर्मवीर' में छपी; रेखाचित्र भी
1935	इन्दौर मराठी साहित्य सम्मेलन में 'साहित्यातीत ललित कला-भाव' निबन्ध (35 पृष्ठ) पढ़ा।
1936	'हंस' में प्रेमचन्द ने पहली कहानी छापी
1936	आगरा कॉलेज, आगरा से एम० ए० (दर्शन)
,,	ना० प्र० सभा से साहित्य-रत्न
,,	मजदूर संघ, इन्दौर के मंत्री बनना
1938-48	माधव कॉलेज, उज्जैन में अंग्रेजी व दर्शन के अध्यापक
1941	अंग्रेजी साहित्य से एम० ए०
1940	8 नवम्बर को सेवाग्राम में महात्मा गांधी के निरीक्षण में शरद पारनेकर के साथ विवाह
1948	राहुल के साथ 'शासन शब्द कोश' का सम्पादन
1948	पुत्र असंग का जन्म
1948	उज्जैन की अध्यापकी छोड़कर आकाशवाणी नागपुर में नौकरी करना
1950	पुत्री चेतना का जन्म
1954	आकाशवाणी के नागपुर, इलाहाबाद, दिल्ली केन्द्रों पर छ: वर्ष कार्य करने के बाद त्याग-पत्र देना
1954	साहित्य अकादमी, नई दिल्ली में प्रथम सहायक मंत्री के रूप में नियुक्त होना।
1958	'हिन्दी-मराठी निर्गुण संत काव्य' पर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी०
1959-61	अमेरिका के दो विश्वविद्यालय में अतिथि अध्यापक
1964-66	संघ लोक-सेवा आयोग में विशेष भाषाधिकारी
1971-75	साहित्य अकादमी, नई दिल्ली में मंत्री
1976	शिमला के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में मानद पार्षद

1977	दिसम्बर में शिमला संस्थान छोड़ना
1978	तीन मास के लिए क० मा० भाषा विज्ञान संस्थान, आगरा में विचिटिंग प्रोफेसर, उसके बाद पुन: तीन मास के लिए कश्मीर विश्वविद्यालय में विचिटिंग प्रोफेसर
1979	फरवरी से अब तक भारतीय भाषा संस्थान, कलकत्ता में निदेशक
1981	वर्ष के अन्त में जापान, हौंगकौंग, थाईलैंड की जापान फाउण्डेशन के निमन्त्रण पर यात्रा
1983	कुरुक्षेत्र में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद के अधिवेशन में साहित्य वाचस्पति की उपाधि से विभूषित।

प्रभाकर माचवे का साहित्य

हिन्दी ग्रन्थ

अनुवाद

1. क्या हम भूखों मरें ? : गांधी आश्रम, पटना; 1944
2. उल्का (रा० ज० देशमुख) : गांधी आश्रम, पटना; 1950
3. बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष : प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली; 1956
4. भग्नमूर्ति (मराठी से) : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1958
5. आज का साहित्य : साहित्य अकादमी, राजपाल, दिल्ली; 1958
6. लद्दाख की छाया में : राजपाल, दिल्ली; 1966
7. सात यूगोस्लाव कहानियाँ : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1958
8. पुण्यकोटि गौ की कहानी : कृष्ण प्रकाशन; 1969
9. टाल्स्टाय और भारत : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1969
10. नामदेव : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1970
11. रानडे : प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली; 1971
12. ब्राह्मण कन्या : नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली; 1971
13. अस्तित्ववाद : म० प्र० ग्रंथ अकादमी, भोपाल; 1974

उपन्यास

1. परन्तु : ....; 1951
2. द्वाभा : हिन्दी भवन, इलाहाबाद; 1952
3. एक तारा : हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, कल्पना कार्यालय, हैदराबाद; 1958
4. साँचा : ....; 1958
5. जो : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 1965
6. किशोर : कृष्ण प्रकाशन; 1969
7. तीस-चालीस-पचास : राजपाल, दिल्ली; 1973
8. दर्द के पैबन्द : हिन्दी भवन, इलाहाबाद; 1974
9. किसलिए : राजपाल, दिल्ली; 1975
10. द्यूत : राजपाल दिल्ली; 1976
11. लक्ष्मीबेन : राजपाल, दिल्ली; 1976

12. क्या से क्या :.........; 1978
13. दशभुजा : विभूति प्रकाशन, दिल्ली; 1981
14. आँखें मेरी, बाकी उनका : विभूति प्रकाशन, दिल्ली; 1983

एकांकी

1. गली के मोड़ पर : दत्त ब्रदर्स, अजमेर; 1960

कविता-संग्रह

1. तार सप्तक-1 : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 1943 (छः अन्य कवियों के साथ कविताएँ)
2. स्वप्न-भंग : हिन्दी भवन, इलाहाबाद; 1955
3. अनुक्षण : भारतीय ज्ञानपीठ; 1958
4. मेपल : भारतीय ज्ञानपीठ; 1963

कहानी-संग्रह

1. संगीनों का साया :.........; 1943

जीवनी

1. छत्रपति शिवाजी : सोमैया पब्लिकेशन प्रा० लि०, बम्बई; 1975

दर्शन

1. विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना : बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना; 1974

बाल-साहित्य

1. असम : 1957
2. केरल : 1957
3. महाराष्ट्र : 1957
4. आदिवासी बच्चे : राजपाल, दिल्ली

यात्रा-वर्णन

1. गोरी नज़रों में हम : रामलोचन पॉकेट बुक, पटना; 1964
2. रूस में : हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी; 1976

व्यंग्य

1. खरगोश के सींग : नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; 1950
2. बेरंग : नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली; 1956
3. तेल की पकौड़ियाँ : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 1963
4. विसंगति : भारती भंडार, इलाहाबाद, यंत्रस्थ

शब्द-चित्र

1. शब्द रेखा : विभूति प्रकाशन, दिल्ली; 1980

शोध-प्रबन्ध

1. हिन्दी और मराठी निर्गुण संत काव्य : चौखम्बा, वाराणसी; 1963

सम्पादित ग्रन्थ

1. जैनेन्द्र के विचार : पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली; 1937
2. शासन साहित्य कोश : हि० सा० सम्मेलन; 1948
3. गांधी शतदल : प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली; 1969
4. बारह कदम (कहानी संग्रह) : मैकमिलन, नई दिल्ली; 1971
5. आदर्श पद्य-संग्रह : अलॉइड, नई दिल्ली; 1971
6. आदर्श गद्य रचना (कहानी-संग्रह) : अलॉइड, नई दिल्ली; 1971
7. रेती के रात-दिन : राजस्थान शासन, शिक्षा मंत्रालय, जयपुर
8. शतदल (कविता संकलन) : भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता
9. भारतीय संस्कृति (दो खंड) भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता
10. भारतीय उपन्यास कथासार (दो खंड) : भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता

समीक्षा-ग्रन्थ

1. नाट्य-चर्चा : हिन्दी विद्यापीठ, देवधर; 1951
2. हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ : राजकमल, नई दिल्ली; 1952
3. हिन्दी पद्य की प्रवृत्तियाँ : राजकमल, नई दिल्ली; 1952
4. हिन्दी निबन्ध : राजकमल, नई दिल्ली; 1952
5. व्यक्ति और वाङ्मय : साहनी प्रकाशन ; 1952
6. समीक्षा की समीक्षा : साहनी प्रकाशन; 1952
7. मराठी और उसका साहित्य : राजकमल, नई दिल्ली; 1952
8. हिन्दी साहित्य की कहानी : ओरिएंटल बुक डिपो, नई दिल्ली; 1954

9. सन्तुलन : आत्माराम एंड संस, दिल्ली; 1954
10. कबीर : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1954
11. केशव सुत : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1958
12. भारत और एशिया का साहित्य : कृष्ण प्रकाशन, अजमेर; 1969
13. हिन्दी ही क्यों तथा अन्य निबन्ध : पारिजात प्रकाशन, पटना; 1981
14. मराठी साहित्य का इतिहास : उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ : यंत्रस्थ

अन्य

1. सौ सवाल एक जवाब : राजपाल, दिल्ली; 1969
2. मराठी कथाएँ : आत्माराम एंड संस, दिल्ली; 1969
3. सीखिए पढ़िए 15 भाषाएँ : स्टार पाकेट बुक, दिल्ली; 1976

मराठी ग्रन्थ

1. मालविका : कविता; 1934
2. मराठी सुनीत : कविता; 1936
3. क्षिप्रेकाटील हिरनक : कहानी; 1938
4. चरित्र, आत्मचरित्र आणि टीका : समीक्षा; 1939
5. त्याग-पत्र : भूमिका; 1939
6. कल्कि : अनुवाद; 1958
7. तब चरणीं ही अंजली : कविता; 1970
8. हिन्दी कथा : अनुवाद; 1973
9. पंजाबी कथा : अनुवाद; 1973
10. जगजीवन राम : व्यक्ति आणि विचार : मूल्यांकन; 1973
11. सुब्रह्मण्य भारतीच्या कविता : तमिल संगम, कलकत्ता

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. केशव सुत : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1967
2. कबीर : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; 1968
3. नामदेव-लाइफ एण्ड वर्क्स : पंजाबी यूनि०; 1969
4. हिन्दी शार्ट स्टोरीज : जायको; 1973
5. ईस्ट वर्सेस वेस्ट-इन फिलोसाफी एण्ड लाइफ : पूना यूनि०; 1974
6. फोर डिकेड्स ऑफ इंडियन लिटरेचर : चेतना; 1976

7. बुद्धिज्म इन इंडिया एण्ड सीलोन : चेतना; 1976
8. माडर्न इंडियन पोएट्री : अनुवाद, आई० सी० सी० आर; 1976
9. प्राबेल्मस् ऑफ इंडियन लिटरेचर : स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट कलकत्ता; 1976
10. तुकारामस् पोएम्स : युनाइटिड राइटर्स, कलकत्ता; 1976
11. हिन्दुइज्म-इटस् कंट्रीब्यूशन टू साइंस एण्ड सिविलाइज़ेशन : विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1979
12. मानिंग ऐकर्स : मराठी से कवितानुवाद; 1979
13. लिटररी स्टडीज़ एण्ड स्केचेज़ : युनाइटिड राइटर्स, कलकत्ता; 1979
14. मार्डनिटी एण्ड कंटेमपोरेरी इंडियन लिटरेचर : चेतना पब्लिशिंग, नई दिल्ली; 1977
15. फ्राम सेल्फ टू सेल्फ :

प्रभाकर माचवे पर लिखित ग्रन्थ

1. अक्षर अर्पण (डा० प्रभाकर माचवे का सारस्वत समादर): सम्पादक—कमलकांत बुधकर, शिव जायसवाल, प्रकाशक—आयास प्रकाशन, हरिद्वार, मूल्य 25 रुपये, प्र० सं० 1977

□□



डॉ० कमल किशोर गोयनका

11 अक्तूबर, 1938 को बुलन्दशहर (उ० प्र०) में जन्म, दिल्ली विश्वविद्यालय से 1961 में प्रथम श्रेणी में एम० ए० (हिन्दी) तथा वहीं से 1972 में 'प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्पविधान' विषय पर पी-एच. डी. तथा रांची विश्वविद्यालय से 1984 में प्रेमचन्द पर डी० लिट्० ।

प्रेमचन्द के जीवन एवं साहित्य के अध्ययन, अन्वेषण एवं मूल्यांकन के लिए पूर्णरूप से समर्पित । 'प्रेमचन्द विश्वकोश' (पांच खंड) के यशस्वी लेखक तथा प्रेमचन्द के सम्बन्ध में सर्वथा नवीन तथ्यों, दस्तावेजों एवं निष्कर्षों के उद्घाटन-कर्ता के रूप में देश-विदेश में प्रसिद्ध तथा सम्मानित ।

मॉरिशस में आयोजित प्रेमचन्द शताब्दी समारोह में भाग लेने के लिए अगस्त, 1980 में मॉरिशस गये तथा भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता द्वारा 1984 में 'प्रेमचन्द विश्वकोश' पर पुरस्कृत एवं सम्मानित । 'प्रेमचन्द अकादमी' एवं 'प्रेमचन्द संग्रहालय' की स्थापना के लिए प्रयत्नशील । सम्प्रति : ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य), अजमेरी गेट, दिल्ली में हिन्दी के वरिष्ठ प्राध्यापक ।

साहित्य निधि

सी-38, ईस्ट कृष्णानगर दिल्ली-110051